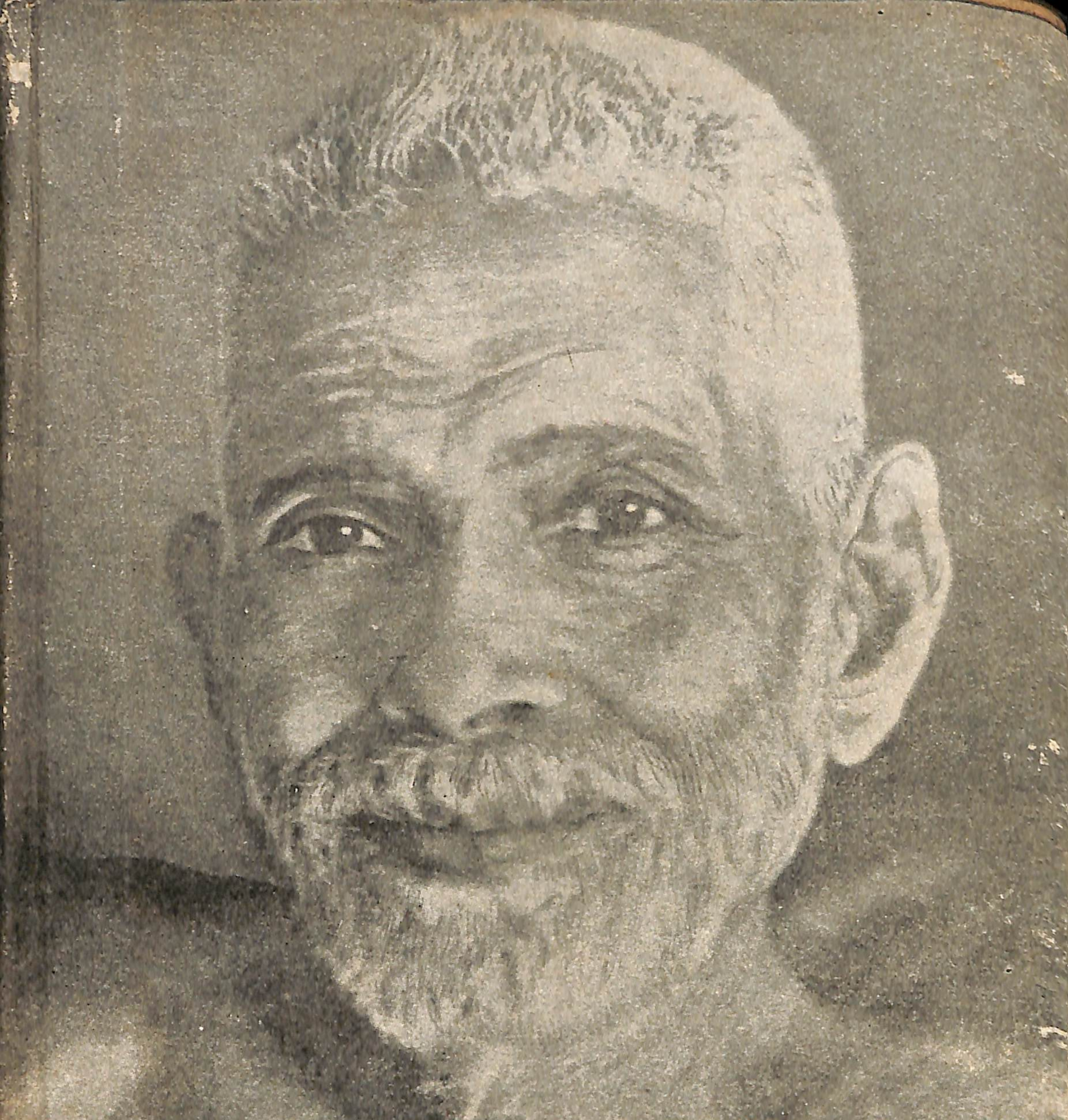


रमण महर्षि

आर्थर आसबोर्न

र म ण म ह र्षि

एवं आत्म-ज्ञान का मार्ग

अरुणाचल के अवतार

भगवान् श्री रमण महर्षि इस शताब्दी के भारतवर्ष के अग्रणी आध्यात्मिक गुरु समझे जाते हैं। उनकी शिक्षाएँ सर्वथा व्यावहारिक हैं। जिस ज्ञान-योग की वे शिक्षा देते हैं और जिसका वे जीवन में आचरण करते हैं, वह संसार का सर्वथा परित्याग करने या उससे विमुख होने के लिए नहीं कहता। वह निरन्तर आन्तरिक जिज्ञासा पर बल देता है। 'मैं कौन हूँ ?'—जो व्यक्ति इस रहस्य को जान जाता है, वह मुक्त हो जाता है। उनकी शिक्षा पूर्वी या पश्चिमी सभी जीवन-पद्धतियों के लिए उपयुक्त है, इसलिए वे सभी मतावलम्बियों में लोकप्रिय हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के अंग्रेज लेखक श्री आर्थर आसबोर्न ने न केवल उस महर्षि के जीवन और शिक्षाओं को अंकित किया है, अपितु एक पाश्चात्य के दृष्टिकोण से भारत में आध्यात्मिक जीवन की सुन्दर झाँकी यहाँ प्रस्तुत की है। सादगी और आध्यात्मिकता के वातावरण से ओतप्रोत भारतीय आश्रम का सजीव चित्र उन्होंने खींचा है। अरुणाचल की पवित्र पहाड़ी पर महर्षि के जीवन के विभिन्न पक्षों का उन्होंने ऐसा यथार्थ चित्रण किया है कि पाठक पर महर्षि के व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

र म ण म ह र्षि

एवं आत्म-ज्ञान का मार्ग

[Hindi Ed. of Ramana Maharshi and the Path of Self-knowledge by Arthur Osbourne]

लेखक

आर्थर आसबोर्न

भूमिका लेखक

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

भूतपूर्व राष्ट्रपति, भारत

अनुवादक

वेदराज वेदालंकार

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी

पुस्तक-प्रकाशक एवं विक्रेता : आगरा-३

प्रकाशक
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी
अस्पताल रोड, आगरा–३

●

शाखाएँ
चौड़ा रास्ता, जयपुर ● खजूरी बाजार, इन्दौर

द्वितीय संस्करण : १९७२

●

मूल्य : पाँच रुपये

शिव आर्ट प्रिन्टर्स, आगरा–२

प्रस्तावना

भगवान् रमण महर्षि के शरीरान्त के थोड़े दिनों बाद, मैंने यह विचार व्यक्त किया था कि तिरुवन्नामलाई एक आध्यात्मिक केन्द्र के रूप में अवश्य ही रहेगा। महर्षि स्वयं उन लोगों की भर्त्सना किया करते थे जो यह चिन्ता व्यक्त करते थे कि उनके देहावसान के साथ उनका मार्गदर्शन समाप्त हो जायेगा। महर्षि व्यंग्यपूर्वक कहा करते थे, ''आप लोग इस शरीर को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।'' और दुःख प्रकट करने वाले लोगों से वे कहा करते थे, ''आप सोचते हैं कि मैं इस संसार से जा रहा हूँ, परन्तु मैं जा कहाँ सकता हूँ ? मैं तो यहीं हूँ।'' इसके अतिरिक्त वे जो कुछ कहते थे, उसमें उनका आन्तरिक विश्वास प्रकट होता था।

महर्षि को दिवंगत हुए आज पन्द्रह वर्ष होते हैं। हम अपने अनुभव से उन्हीं बातों की पुनरावृत्ति कर सकते हैं। पहले उस दिव्य ज्योति के दर्शनों के लिए और उसके सान्निध्य का लाभ उठाने के लिए सहस्रों व्यक्ति तिरुवन्ना-मलाई आया करते थे। इनमें से कुछ भक्त थे जिन्होंने अपना जीवन और भाग्य महर्षि के हाथों में समर्पित कर दिया था और उनके बताये मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहे थे। अब भीड़ छँट गयी है, केवल भक्तजन रह गये हैं। इन भक्तजनों में और भी कई श्रद्धालु भक्त आकर सम्मिलित हो गये हैं, और सभी समान रूप से महर्षि की अनुकम्पा और उनके मार्गदर्शन के प्रभाव को अनुभव करते हैं।

आजकल शान्ति की बहुत अधिक चर्चा है। प्रायः शान्ति का अर्थ युद्ध-निवारण और सुरक्षा की स्थिर स्थिति से अधिक कुछ नहीं है। भगवान् की शान्ति इससे बहुत भिन्न है; यह एक आन्दोलक शक्ति है जो हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व में विद्यमान है और यह अपार शान्ति की अवस्था है। यह हमारी कल्पना से नितान्त परे है। इसकी प्राप्ति से पूर्व यह मन-निर्मित समस्त बन्धनों को काट देती है और इसे शाश्वत सत्ता का पूर्वाभास हो जाता है। यही वह शान्ति है जिसे भक्तगण आज भी अरुणाचल पहाड़ी के प्रदेश में अनुभव करते हैं।

भूमिका

श्री रमण महर्षि के जीवन और शिक्षाओं के सम्बन्ध में श्री आसबोर्न रचित प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता अनुभव हो रही है। इसका हमारे युग से, जिसमें उत्सुकता और परांगमुखता पर आधारित सन्देहवादी वृत्ति का प्राधान्य है, विशेष सम्बन्ध है। प्रस्तुत पुस्तक में आत्मा के धर्म का वर्णन है जो हमें मतों और मिथ्या विश्वासों, धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड से मुक्ति प्रदान करता है और स्वतन्त्र आत्माओं के रूप में जीवनयापन करने के योग्य बनाता है। सभी धर्मों का सार एक आन्तरिक वैयक्तिक अनुभव और दिव्य सत्ता के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध है। यह पूजा कम और खोज अधिक है। यह तो अपने स्वरूप को पहचानने और मुक्ति का मार्ग है।

यूनानियों की विख्यात उक्ति 'अपने को पहचानो' उपनिषदों के **'आत्मानम् विद्धि'** उपदेश से सम्बद्ध है। पृथक्करण की प्रक्रिया द्वारा हम शरीर, मन और बुद्धि की परतों को पार करके विश्व-आत्मा के दर्शन करते हैं। "यही वह वास्तविक प्रकाश है जो संसार में आने वाले प्रत्येक मानव को आलोकित करता है।" "शिव-प्राप्ति के लिए हमें उच्चतम स्थिति पर पहुँचना होगा, उस पर अपनी दृष्टि स्थिर रखनी होगी और यहाँ नीचे उतरते वक्त हमें उसी प्रकार अपने परिधानों को उतार फेंकना होगा जिस प्रकार यूनानियों के धार्मिक अनुष्ठानों में जिन लोगों को देवालय के अन्तर्तम प्रदेश में प्रवेश का अधिकार मिल जाता है, अपने को शुद्ध करने के बाद प्रत्येक वस्त्र उतार फेंकना पड़ता है और बिलकुल नंगे होकर चलना होता है।"[१] हम उस अनन्त सत्ता में निमग्न हो जाते हैं, जिसकी कोई सीमा या निर्धारण नहीं है। यह शुद्ध सत्ता है, जिसमें एक वस्तु का दूसरे से विरोध नहीं होता। व्यक्ति अपने को सभी वस्तुओं और घटनाओं के साथ एकाकार अनुभव करता है। आत्मा को वास्तविक ज्ञान हो जाता है, क्योंकि इस पर वरीयताओं या विरक्तियों, इच्छाओं या अनिच्छाओं का अब कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अब विकारक माध्यम के रूप में कार्य नहीं करतीं।

बालक आत्म-दर्शन के अधिक निकट होता है। सत्य के राज्य में प्रवेश

---

१ **प्लोटिनस : एन्नीड्स, I, VI, ६**

करने से पूर्व हमें बालक बनना होगा। यही कारण है कि हमें पण्डितों के पाखण्ड से बचना होगा। ऐसा कहा जाता है कि बालकों का बुद्धि-वैभव विद्वानों के बुद्धि-वैभव से बढ़कर है।

श्री रमण महर्षि भारतीय धर्म-ग्रन्थों पर आधारित एक ऐसे धर्म की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं जो बौद्धिक और आचारशास्त्रीय होने के साथ-साथ सारतः आध्यात्मिक है।

एस० राधाकृष्णन

प्रकाशकीय वक्तव्य

गत वर्ष अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के मध्य मुझे श्री रमण महर्षि के आश्रम में जाने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यद्यपि श्री रमण महर्षि का पार्थिव शरीर अब इस संसार में नहीं है, तथापि उनका आध्यात्मिक प्रभाव आश्रम के वातावरण तथा आश्रमवासियों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

आश्रम में मेरा सम्पर्क एक हॉलैण्ड-निवासी युवक श्री माइक लोर्श, जो अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण आश्रम में आये हुए थे, से हुआ। उन्होंने मुझे इंगलैण्ड से प्रकाशित, श्री आसबोर्न लिखित महर्षि का जीवन-चरित्र पढ़ने को दिया। इस पुस्तक से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ कि मेरे मन में तुरन्त ही यह प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई कि प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी संस्करण प्रकाशित किया जाय। मैं श्री आसबोर्न और उनकी धर्मपत्नी से जो आश्रम में वर्षों से साधनारत हैं, मिला और अपने संकल्प की चर्चा की। श्री आसबोर्न ने मुझे पुस्तक के हिन्दी अनुवाद के लिए प्रोत्साहित किया। अन्ततः आश्रम के सभापति श्री टी० एन० वेंकटरमण ने इस ग्रन्थ के हिन्दी संस्करण के प्रकाशन की आज्ञा दे दी, जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। प्रस्तुत पुस्तक उसी पावन संकल्प का परिणाम है।

महर्षि की शिक्षाओं का सार है : 'मैं कौन हूँ' इस तत्त्व को पहचानो, परमात्मा को जानने से पहले स्वयं को जानो, भूत और भविष्य के जंजाल में न पड़कर वर्तमान को सँवारो। सुख और अमृत हमारे चारों ओर बरस रहा है। आवश्यकता है अन्तराभिमुख होने की।

प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से यदि कोई अन्धकारावच्छन्न हृदय आध्यात्मिक प्रकाश से आलोकित हो सका तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

राधेमोहन अग्रवाल

विषय-सूची

मैं उन पुराने भक्तों का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढ़ा और अपने सुझाव दिये ।

पहला अध्याय

प्रारम्भिक जीवन

शैव लोग रुद्र-दर्शन का समारोह बड़ी श्रद्धापूर्वक मनाते हैं। इसी दिन शिव ने नटराज के रूप में, अर्थात् विश्व की सृष्टि और प्रलय के ताण्डव-नृत्य के रूप में, अपने भक्तों को दर्शन दिये थे। सन् १८७९ को इसी दिन गो-धूलि के समय दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश स्थित तिरुचुजही कस्बे में शिव के भक्तगण धूलभरी सड़कों पर मन्दिर के तालाब की ओर नंगे पाँव चल पड़े थे। वहाँ ब्राह्म-मुहूर्त में स्नान करने की परम्परा चली आती है। सूर्य का अरुण प्रकाश उस विशाल वर्गाकार तालाब की पत्थर की सीढ़ियों से स्नान करने के लिए नीचे उतर रहे केवल धोती धारण किये हुए पुरुषों और महिलाओं की गहरी लाल तथा सुनहरी साड़ियों पर पड़ रहा था। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी क्योंकि इस बार त्यौहार दिसम्बर के महीने में पड़ा था। परन्तु इस प्रदेश के लोग बड़े सहिष्णु हैं। कुछ लोगों ने वृक्षों के नीचे या तालाब के निकटवर्ती घरों में कपड़े बदले। परन्तु अधिकांश लोग यह सोचकर कि उनके कपड़े धूप में सूख जायेंगे, गीले वस्त्र धारण किये हुए ही उस कस्बे के प्राचीन मन्दिर की ओर चल पड़े। तमिल प्रदेश के त्रेसठ शैव कवि-दार्शनिकों में से एक सुन्दरमूर्ति स्वामी हुए हैं, जिन्होंने प्राचीनकाल में इस मन्दिर को अपने भक्ति-गीतों से गुँजाया था।

मन्दिर में शिव की प्रतिमा फूलों से लदी थी। लोगों ने ढोल और शंख बजाते हुए पवित्र गीतों की मधुर ध्वनि के साथ दिन-भर मूर्ति का जुलूस निकाला था। रात के एक बजे जुलूस समाप्त हुआ। शिव की प्रतिमा मन्दिर में पुनः प्रविष्ट हुई और इसी समय सुन्दरम ऐय्यर तथा उनकी पत्नी अलगम्माल के घर में बालक वेंकटरमण का जन्म हुआ। इसी बालक में शिव को श्रीरमण के रूप में प्रकट होना था। पश्चिमी ईस्टर की तरह हिन्दू त्यौहार भी चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार बदलते रहते हैं। इस वर्ष रुद्र-दर्शन २९ दिसम्बर को पड़ा था। बालक समय, दिन और वर्ष के हिसाब से, लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पैदा हुए बैथलेहैम के दिव्य बालक से कुछ देर बाद पैदा हुआ था। उसके देहावसान के समय भी यही संयोग घटित हुआ। श्रीरमण का स्वर्गवास १४ अप्रैल को, समय और तिथि की दृष्टि से गुड-फ्राइडे के

मध्याह्नोत्तर से थोड़ी देर बाद हुआ था। दोनों समय सर्वथा उपयुक्त हैं। मध्यरात्रि और मकरसंक्रान्ति वह समय है जब सूर्य भगवान् पृथ्वी पर उदय होना प्रारम्भ कर रहे होते हैं और वासन्तिक विषुव को दिन और रात बराबर होते हैं तथा दिन लम्बा होना शुरू होता है।

सुन्दरम ऐय्यर ने उन दिनों दो रुपये मासिक के अत्यल्प हास्यास्पद वेतन पर एक एकाउण्टेण्ट के यहाँ अर्जीनवीस के रूप में कार्य प्रारम्भ किया था। कुछ वर्ष बाद उन्हें एक अप्रमाणित वकील अर्थात् ग्रामीण वकील के रूप में प्रैक्टिस करने की आज्ञा मिल गयी थी। उनकी प्रैक्टिस खूब चल निकली, लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा हुई और उन्होंने एक मकान[1] बनवाया। इसी मकान में बालक रमण का जन्म हुआ था। यह मकान काफी खुला था। इसका एक हिस्सा अतिथियों के लिए सुरक्षित था। श्री सुन्दरम ऐय्यर बड़े सामाजिक और अतिथि-भक्त थे। वह सरकारी अधिकारियों और कस्बे में आने वाले नवागन्तुकों को अपने घर ठहराया करते थे। यही कारण है कि वह अपने कस्बे के प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे जाते थे और इसका उनके व्यावसायिक कार्य पर भी बहुत अच्छा असर पड़ा।

श्री ऐय्यर ने बहुत सफलता प्राप्त की, परन्तु परिवार को एक विचित्र विधि-विधान का सामना करना था। ऐसा कहा जाता है कि एक बार एक घुमक्कड़ साधु उनके किसी पूर्वज के घर भिक्षा माँगने के लिए आया था। जब परिवार के लोगों ने भिक्षा से इन्कार कर दिया तब उस साधु ने शाप दिया कि उनकी सन्तान की हर पीढ़ी में से एक व्यक्ति साधु बनेगा और उसे भिक्षा माँगनी पड़ेगी। इसे शाप समझें या वरदान, साधु का कथन पूरा हुआ। सुन्दरम ऐय्यर के एक चाचा ने गेरुए वस्त्र धारण कर लिये थे और दण्ड तथा कमण्डल हाथ में लेकर घर का परित्याग कर दिया था; उनके बड़े भाई पड़ोस की एक जगह देखने का बहाना करके घर से निकल गये थे और बाद में संसार का परित्याग करके संन्यासी बन गये थे।

सुन्दरम ऐय्यर को अपने परिवार के सम्बन्ध में कोई विचित्र बात दिखायी नहीं देती थी। वेंकटरमण का एक सामान्य और स्वस्थ बालक के रूप में विकास हुआ। थोड़े अरसे के लिए उसे स्थानीय स्कूल में भेजा गया और जब वह ग्यारह वर्ष का हुआ, उसे दिन्दीगुल के एक स्कूल में भेजा गया। उसका भाई नागस्वामी था, जो उससे दो साल बड़ा था। उसके छः साल बाद तीसरे पुत्र नागसुन्दरम का जन्म हुआ और दो साल बाद पुत्री अलामेलु का। यह बड़ा सुखी और समृद्ध मध्यवर्गीय परिवार था।

---

[1] **अब आश्रम ने इस मकान को अपने अधिकार में ले लिया है। यहाँ दैनिक पूजा होती है और यह भक्तों के लिए तीर्थ-स्थल के रूप में खुला रहता है।**

जब वेंकटरमण बारह साल का हुआ, सुन्दरम ऐय्यर की मृत्यु हो गयी और परिवार विघटित हो गया। बच्चे अपने चाचा सुब्बियर के पास चले गये। पास ही मदुरा में उनका अपना मकान[1] था। वेंकटरमण को पहले वहाँ स्काट्स मिडिल स्कूल और बाद में अमरीकन मिशन हाई स्कूल में भेजा गया। उस समय वेंकटरमण में ऐसा कोई लक्षण दिखायी नहीं देता था जिससे यह प्रकट हो कि वह आगे चलकर विद्वान बनेगा। उसे खेलकूद और सैर-सपाटे का बड़ा शौक था। फुटबॉल, कुश्ती तथा तैरने में उसका मन बहुत रमता था। जहाँ तक स्कूल का सम्बन्ध है, उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तेज थी। जिस पाठ को वह एक बार सुन लेता था, उसे वह कण्ठस्थ हो जाता था और इस प्रकार वह अपनी शिथिलता की पूर्ति कर लेता था।

बचपन के दिनों में उसका एकमात्र असामान्य लक्षण उसकी असाधारण प्रगाढ़ निद्रा थी। श्रीभगवान् के एक भक्त देवराज मुदालियर ने अपनी डायरी में उसके सम्बन्ध में एक संस्मरण लिखा है। श्रीभगवान् ने बहुत वर्ष बाद आश्रम में बातचीत के दौरान, अपने भक्तों को वह घटना सुनायी जिसमें उन्होंने अपने एक सम्बन्धी को सभा-भवन में प्रवेश करते हुए देखकर कहा था :

> "आपको देखकर मुझे उस घटना का स्मरण हो आता है जो दिन्दीगुल में मेरे बचपन में घटित हुई थी। आपके चाचा पेरिअप्पा शेषाय्यर, उस समय वहीं रह रहे थे। घर में कोई समारोह हो रहा था। हर कोई इसमें सम्मिलित हुआ। रात को सब लोग मन्दिर गये। घर में अकेला मैं रह गया। मैं सामने के कमरे में बैठा पढ़ रहा था परन्तु कुछ देर बाद मैंने सामने के दरवाजे में ताला लगा दिया, खिड़कियाँ बन्द कर दीं और सो गया। जब सब लोग मन्दिर से वापस आये, तब उन्होंने दरवाजे और खिड़कियों पर जोर से थपथपाया और खूब चिल्लाये परन्तु मेरी नींद नहीं खुली। अन्त में उन्होंने सामने के घर वालों से ताली लेकर दरवाजा खोला और मुझे मार-मारकर जगाने की कोशिश की। सभी लड़कों ने मुझे जी भरकर मारा और तुम्हारे चाचा ने भी मारा परन्तु मेरी नींद नहीं खुली। मुझे इस सम्बन्ध में तब तक कुछ भी पता नहीं चला जब तक कि दूसरे दिन सवेरे उन्होंने सारी कहानी मुझे न बता दी। इसी प्रकार की घटना मदुरा में भी मेरे साथ घटी थी। जब मैं जाग रहा होता था तब लड़के मुझे हाथ लगाने का साहस नहीं करते

---

[1] **इसी मकान में श्रीभगवान् को साक्षात्कार हुआ था। अब इसे आश्रम ने अपने अधिकार में ले लिया है और श्रीभगवान् का एक चित्र यहाँ रख दिया गया है। यह स्थान भक्तों के लिए तीर्थ-स्थल है।**

थे। परन्तु अगर उन्हें मुझसे बदला लेना होता तो वे उस समय आते जब मैं गाढ़-निद्रा में लीन होता। वे मुझे जहाँ चाहते ले जाते, जी भर कर पीटते और वापस मुझे मेरे बिस्तर पर डाल जाते। मुझे इसके बारे में तब तक कुछ पता न चलता जब तक वे अगले दिन सारी घटना न बताते।"

श्रीभगवान् इसे कोई महत्त्व नहीं देते थे और कहा करते थे यह तो केवल अच्छे स्वास्थ्य का परिणाम है। कभी-कभी वह रात को अर्द्ध-निद्रा की अवस्था में लेट जाया करते थे। सम्भवतः ये दोनों अवस्थाएँ आध्यात्मिक जागरण के पूर्व-संकेत हों: गाढ़-निद्रा भले ही वह तिमिरावत और निषेधक हो, इस बात की द्योतक है कि व्यक्ति में मन का परित्याग करने और गहरे डूबने की योग्यता है और अर्द्ध-निद्रा इसकी ओर संकेत करती है कि व्यक्ति साक्षी के रूप में तटस्थ भाव से अपना निरीक्षण कर सकता है।

हमारे पास श्रीभगवान् के बचपन का कोई चित्र नहीं है। वह हँसते हुए अद्भुत ढंग से कहा करते थे कि एक बार बचपन में परिवार का सामूहिक फोटो खींचा गया था। उनके हाथ में एक भारी पुस्तक थमा दी गयी थी जिससे वे बड़े अध्ययनशील दिखायी दें। परन्तु एक मक्खी उन पर आ बैठी और जैसे ही फोटो खींचा जाने लगा, उन्होंने इसे हटाने के लिए अपनी भुजा ऊपर उठायी। इस फोटो की कोई कापी उपलब्ध नहीं है और परिणामतः उनका कोई फोटो हमें नहीं मिलता।

उषा की प्रथम पूर्व-सूचना अरुणाचल से आने वाला प्रकाश था। स्कूल के विद्यार्थी वेंकटरमण ने कोई धार्मिक सिद्धान्त नहीं पढ़ा था। वह केवल इतना ही जानता था कि अरुणाचल एक अत्यन्त पवित्र-स्थान है और यह उसके भाग्य का पूर्वाभास था जिसने उसे आन्दोलित कर दिया। एक दिन वह अपने एक बुजुर्ग रिश्तेदार से, जिनसे उसका परिचय तिरुचुजही में हुआ था, मिला। उसने उनसे पूछा कि वह कहाँ से आ रहे हैं। उस वृद्ध ने उत्तर दिया, "अरुणाचल से।" और यकायक इस अनुभूति से कि वह पवित्र पहाड़ी पृथ्वी पर वस्तुतः एक दर्शनीय स्थान है, वेंकटरमण भाव-विह्वल हो कहने लगे, "क्या कहा? अरुणाचल से? वह कहाँ है?"

उस वृद्ध को इस अनुभव-शून्य युवक के अज्ञान पर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा कि अरुणाचल तिरुवन्नामलाई ही है।

श्रीभगवान् ने बाद में अरुणाचल की स्तुति में निर्मित आठ श्लोकों में से प्रथम श्लोक में इस ओर निर्देश किया है:

"ध्यान देकर सुनो ! यह एक पहाड़ी की तरह है । इसकी क्रिया रहस्यपूर्ण है, जिसे मानव-मन नहीं समझ सकता । मुझे अपनी अबोध आयु में ही यह पता चल गया था कि अरुणाचल की शोभा अद्वितीय है, परन्तु जब किसी दूसरे व्यक्ति ने मुझे बताया कि यह तिरुवन्नामलाई ही है तब मैं इसका अर्थ नहीं समझ सका । जब मैं यहाँ पहुँचा तब मुझे अपार शान्ति मिली और जैसे ही मैं इसके और निकट पहुँचा, मेरा मन बिलकुल स्थिर हो गया ।"

यह घटना नवम्बर १८९५ की है । उस समय श्रीभगवान् की आयु यूरोपीय गणना के अनुसार सोलह वर्ष और हिन्दू गणना के अनुसार सत्रह वर्ष थी ।

इसके शीघ्र बाद दूसरी पूर्व-सूचना आयी । इस बार यह एक पुस्तक के माध्यम से आयी । दिव्य-सत्ता का आविर्भाव इस पृथ्वी पर सम्भव है, इस अनुभूति ने उसके हृदय को अवर्णनीय आनन्द से भर दिया । उसके चाचा कहीं से पेरिया पुराणम् की एक प्रति माँग लाये थे । इसमें त्रेसठ तमिल शैव सन्तों की जीवन-गाथाएँ हैं । वेंकटरमण ने जब यह पुस्तक पढ़ी तब उसका हृदय अद्भुत आश्चर्य से भर उठा कि इस प्रकार का विश्वास, इस प्रकार का प्रेम और इस प्रकार का दिव्य-उत्साह सम्भव है और मानव-जीवन में इतना सौन्दर्य भरा पड़ा है । प्रभु-मिलन के लिए प्रेरित करने वाली त्याग की कहानियों से उसका हृदय श्रद्धा और प्रशस्ति के भाव से आप्लावित हो उठा । उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि कोई ऐसी वास्तविक सत्ता है जो सभी स्वप्नों से महान् है, जो सभी महत्त्वाकांक्षाओं से ऊँची है और जिसकी प्राप्ति सर्वथा सम्भव है । इस साक्षात्कार से उसकी आत्मा आनन्दमयी कृतज्ञता से पूर्ण हो उठी ।

इसके बाद से श्रीभगवान् चिन्तन में लीन हो गये । इस अवस्था में भक्त को अपने चारों ओर की दुनिया की सुध-बुध नहीं रहती, वह दृग और दृश्य के द्वैव से ऊपर उठ जाता है, शारीरिक और मानसिक भूमियों से ऊपर उठकर दिव्य चैतन्य की अवस्था में पहुँच जाता है, परन्तु यह अवस्था शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के पूर्ण प्रयोग के साथ संगत होती है ।

श्रीभगवान् ने अत्यन्त सरलता के साथ इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार मदुरा में प्रतिदिन मीनाक्षी मन्दिर के दर्शकों के लिए जाते समय उनके मन में यह ज्ञान-धारा प्रवाहित होने लगी थी । उनके शब्दों में, "पहले मैंने सोचा कि यह एक प्रकार का ज्वर है, परन्तु मैंने निर्णय किया कि अगर यह ऐसा है तो यह मधुर ज्वर है और इसे बने रहना चाहिए ।"

दूसरा अध्याय

जागरण

भगवान् रमण महर्षि के ज्ञान-मार्गी उपदेशों और शिक्षाओं के अनुसार, अगर इस ज्ञान-धारा को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक प्रवाहित रखा जाय तो यह प्रबल और अधिक स्थिर रूप धारण करती जाती है और अन्ततः **सहज समाधि** की ओर ले जाती है। सहज समाधि की अवस्था में व्यक्ति अपने शुद्ध दिव्य-स्वरूप में स्थित रहते हुए जीवन के सामान्य कार्यकलाप करता रहता है। पृथ्वी पर इसी जीवन में इस स्थिति को प्राप्त करना वस्तुतः दुर्लभ है। यह जीवन तो साक्षात्कार की ओर लम्बी तीर्थयात्रा का केवल एक भाग है और प्रत्येक यात्री इसे उस बिन्दु से प्रारम्भ करता है, जहाँ वह पहले पहुँच चुका है, जैसे कि एक तीर्थयात्री रात को सो जाता है और अगले प्रातःकाल उसी स्थान पर उठ खड़ा होता है। आज के प्रयासों से वह कितनी दूर पहुँचेगा, यह अंशतः उस सोपान पर निर्भर करता है, जहाँ से उसने चलना प्रारम्भ किया है और अंशतः इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितना प्रयास करता है। जीवन एक तीर्थयात्रा है, हमारे जीवन का कोई लक्ष्य है और इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले मार्ग पर हमें दृढ़ निश्चय के साथ कदम बढ़ाना है, यह खोज भी स्वयं में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। श्रीभगवान् को कुछ महीने बाद ऐसा अनुभव हुआ। इसके लिए उन्हें कोई खोज, कोई प्रयत्न और कोई तैयारी नहीं करनी पड़ी। उन्होंने स्वयं इसका वर्णन इस प्रकार किया है :

"मदुरा से सदा के लिए रवाना होने से लगभग छः सप्ताह पूर्व मेरे जीवन में यह महान् परिवर्तन हुआ। अपने चाचा के मकान की पहली मंजिल पर मैं अकेला कमरे में बैठा हुआ था। मुझे कभी कोई बीमारी नहीं हुई थी और उस दिन मेरा स्वास्थ्य भी बिलकुल ठीक था, परन्तु यकायक मृत्यु के भीषण भय ने मुझे आन्दोलित कर दिया। मेरा स्वास्थ्य भी खराब नहीं था, जिसके कारण मुझे यह भय हुआ हो और मैंने इस भय के कारण का पता लगाने की भी कोई चेष्टा नहीं की। मुझे केवल ऐसा अनुभव होने लगा कि 'मुझे मरना है' और मैंने यह सोचना शुरू कर दिया कि अब क्या किया जाय। किसी डाक्टर या अपने बड़े बुजुर्गों

और मित्रों से परामर्श करने का विचार भी मेरे मन में नहीं आया। मैंने अनुभव किया कि मुझे तत्काल समस्या का समाधान स्वयं करना है।

"मृत्यु के भय के आघात के कारण मैं अन्तर्मुख हुआ और मेरे मन में अनायास ही ये विचार आने लगे—'अब मृत्यु आ गयी है; इसका क्या अभिप्राय है? मृत्यु किसकी होनी है? यह शरीर नहीं रहेगा।' और मैंने यकायक मृत्यु का अभिनय करना शुरू किया। मैं अपने अंगों को फैलाकार और कड़ा करके लेट गया और मैंने एक शव का अनुकरण किया ताकि मैं इस खोज की तह तक पहुँच सकूँ। मैंने श्वास रोक लिया और अपने ओंठ कसकर बन्द कर लिये ताकि न तो 'मैं' और न कोई अन्य शब्द मैं कह सकूँ। फिर मैंने अपने-आप से कहना शुरू किया, 'हाँ तो मेरा शरीर मृत है। लोग इसे उठाकर श्मशान-घाट ले जायेंगे और जला देंगे, तब यह राख हो जायेगा। परन्तु क्या इस शरीर की मृत्यु से मेरी मृत्यु हो जायगी? क्या मैं शरीर हूँ? मेरा शरीर मौन और जड़ है परन्तु मैं अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण शक्ति को अनुभव कर रहा हूँ और इसके अतिरिक्त अपने अन्दर उठने वाली 'मैं' की आवाज को भी अनुभव कर रहा हूँ। इसलिए मैं शरीर से परे आत्मा हूँ। शरीर की मृत्यु हो जाती है, परन्तु आत्मा को मृत्यु स्पर्श तक भी नहीं कर सकती। इसका अभिप्राय है, 'मैं अमर आत्मा हूँ।' यह सब शुष्क विचार-प्रक्रिया नहीं थी। जीवित सत्य की भाँति अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक ये विचार मेरे मन में बिजली की तरह कौंध गये। बिना किसी विचार-प्रक्रिया के मुझे सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया। 'अहं' ही वास्तविक सत्ता थी और मेरे शरीर से सम्बद्ध सभी चेतन गतिविधियाँ इसी 'अहं' पर केन्द्रित थीं। इसी क्षण से किसी शक्तिशाली प्रेरणा के कारण 'अहं' ने अपने पर ध्यान केन्द्रित करना आरम्भ किया। मृत्यु का भय सदा के लिए जा चुका था। इससे आगे आत्म-केन्द्रित ध्यान अविच्छिन्न रूप से जारी रहा। संगीत के विभिन्न स्वरों की भाँति अन्य विचार आते और चले जाते परन्तु 'अहं' उस आधारभूत श्रुतिस्वर के समान जारी रहा, जो सभी अन्य स्वरों के मूल में सम्मिश्रित है।[1] मेरा शरीर वार्तालाप, अध्ययन या किसी अन्य कार्य में भले ही लीन हो, परन्तु मेरा ध्यान 'अहं' पर केन्द्रित था। इससे पहले मुझे अपनी आत्मा की

---

[1] **यह एक स्वर-संगीत में सर्वत्र गुंजरित होता है। जिस प्रकार माला के सभी मनकों में सूत्र पिरोया होता है, उसी प्रकार सत्ता के सभी रूपों में 'आत्म' तत्त्व अनुस्यूत है।**

स्पष्ट अनुभूति नहीं हुई थी और मैं इसकी ओर चेतन रूप से आकृष्ट नहीं हुआ था। मुझे इसमें कोई प्रयत्क्ष दिलचस्पी अनुभव नहीं हुई, इसमें स्थायी रूप से रहने की तो और भी कम इच्छा हुई।"

बिना किसी आडम्बर और वाक्-प्रपंच के अगर सीधे-सादे शब्दों में कहें तो यह अवस्था अहंभाव से भिन्न नहीं, परन्तु इसका एकमात्र कारण 'मैं' और 'आत्म' शब्दों की अस्पष्टता है। मृत्यु के प्रति हमारी धारणा के कारण यह अन्तर पैदा होता है जिसका ध्यान 'अहं' में केन्द्रित होता है, जो 'अहं' को एक पृथक व्यक्ति के रूप में देखता है, वही मृत्यु से भयभीत होता है। मृत्यु हमारे अहं के विनाश की धमकी देती है। परन्तु यहाँ तो मृत्यु के भय का सर्वथा लोप हो चुका था। महर्षि ने यह अनुभव कर लिया था कि 'अहं' उस सार्वलौकिक अमर आत्मा के साथ एकरूप है जो प्रत्येक व्यक्ति में विराजमान है। यह कथन भी ठीक नहीं कि वह यह जानते थे कि वह विश्वात्मा के साथ एकरूप हैं। इससे तो ऐसा लगता है कि 'अहं' की पृथक सत्ता है जो इसे जानता है जबकि महर्षि ने यह अनुभव कर लिया था कि वे आत्मा हैं।

कुछ वर्ष बाद श्रीभगवान् ने एक पाश्चात्य जिज्ञासु श्रीपाल ब्रण्टन के सम्मुख इस अन्तर की इस प्रकार व्याख्या की थी :[1]

ब्रण्टन—"उस आत्मा का स्वरूप क्या है जिसकी आप चर्चा करते हैं? आप जो कुछ कहते हैं, अगर वह सत्य है, तो उस स्थिति में मनुष्य में एक दूसरी आत्मा होनी चाहिए।"

श्रीरमण—"क्या एक व्यक्ति के दो स्वरूप, दो आत्माएँ सम्भव हैं? इस विषय को समझने के लिए पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य अपना विश्लेषण करे। चूँकि वह लम्बे अरसे से अन्य लोगों की तरह सोचता आया है, इसलिए उसने कभी सच्चे ढंग से 'अहं' का सामना नहीं किया है। उसके सम्मुख अपनी सही तस्वीर नहीं है, उसने लम्बे अरसे से शरीर और मस्तिष्क के साथ अपने को एकरूप अनुभव किया है। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि आप इस सत्य का अन्वेषण करें कि 'मैं कौन हूँ'?

"आपने इस यथार्थ आत्म-तत्त्व का वर्णन करने के लिए मुझसे कहा है। इसके बारे में क्या कहा जाय? यह वह तत्त्व है जिसमें से 'मैं' की भावना पैदा होती है और इसी में इसे लय होना है।"

---

१ **इस पुस्तक में दिया गया श्रीपाल ब्रण्टन का यह तथा अन्य उद्धरण राइडर एण्ड को०, लन्दन द्वारा प्रकाशित 'A Search in Secret India' पर आधारित है और आश्रम ने श्रीपाल ब्रण्टन की अनुमति से उद्धृत किया है।**

ब्रण्टन—"लय होना ? कोई अपने व्यक्तित्व की भावना को किस प्रकार भुला सकता है ?"

श्रीरमण—"प्रत्येक मनुष्य के मन में सर्वप्रथम और सर्वप्रधान विचार 'मैं' का होता है। इस विचार के बाद ही अन्य कोई विचार जन्म ले सकते हैं। प्रथम उत्तम पुरुष के सर्वनाम 'मैं' के मन में विचार के बाद ही द्वितीय मध्यम पुरुष के सर्वनाम 'तुम' की उत्पत्ति होती है। अगर आप मानसिक रूप से 'मैं' के सूत्र का अनुकरण कर सकें तो आपको यह पता चलेगा कि जिस प्रकार यह सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला विचार है, उसी प्रकार यह सबसे अन्त में लोप होने वाला विचार है। इसे आप अनुभव द्वारा जान सकते हैं।"

ब्रण्टन—"आपका कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार अपने आप में मानसिक अन्वेषण सम्भव है।"

श्रीरमण—"निश्चित रूप से। अपने अन्दर प्रवेश करना सम्भव है और अन्त में धीरे-धीरे 'मैं' का लोप हो जाता है।"

ब्रण्टन—"इसके बाद क्या बच रहता है ? इस अवस्था में क्या व्यक्ति बिलकुल अचेतन बन जाता है या वज्रमूर्ख बन जाता है ?"

श्रीरमण—"नहीं, इसके विपरीत उसमें वह चैतन्य प्रकट होता है जो अमर है और तब वह वस्तुतः बुद्धिमान बन जाता है जब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का पता चल जाता है। मनुष्य का वही वास्तविक स्वरूप है।"

ब्रण्टन—"परन्तु निश्चित ही 'मैं' का भाव इसके साथ सम्बद्ध है।"

श्रीरमण—'मैं' का भाव व्यक्ति, शरीर और मस्तिष्क से सम्बद्ध है। जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है तब प्रथम बार उसकी आत्मा की गहराइयों में से कोई ऐसी चीज जन्म लेती है, जो उस पर पूरी तरह हावी हो जाती है। यह चीज हमारे मन के पीछे है, यह असीमित दिव्य और शाश्वत है। कई लोग इसे स्वर्ग का साम्राज्य कहते हैं, दूसरे इसे आत्मा और अन्य लोग निर्वाण तथा हिन्दू इसे मुक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं; आप जो भी नाम चाहें, इसे दे सकते हैं। इस अवस्था में मनुष्य अपने को खोता नहीं बल्कि पा लेता है।"

जब तक मनुष्य इस सत्य आत्म-तत्त्व की खोज नहीं करेगा, सन्देह और अनिश्चितता उसे जीवन भर घेरे रहेगी। महान् सम्राट और राजनीतिज्ञ दूसरों पर शासन करने का प्रयत्न करते हैं जबकि वे अपने हृदय के अन्तःस्थल में यह अच्छी तरह जानते हैं कि वे अपने पर शासन नहीं कर सकते। परन्तु जो व्यक्ति आत्मा की गहराइयों में प्रवेश करता है, विश्व की महत्तम शक्ति भी उसकी आज्ञा का अनुकरण करती है। जब तक कि आपको यह पता नहीं कि

आप स्वयं कौन हैं, संसार की अन्य वस्तुओं के जानने का क्या उपयोग है ? मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप के इस अन्वेषण से बचते हैं परन्तु इससे बढ़कर और कौन-सा अन्वेषण हो सकता है ?

इस सम्पूर्ण साधना में मुश्किल से आधा घण्टा लगा। तथापि हमारे लिये यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि **यह एक साधना थी।** प्रकाश-प्राप्ति का प्रयास है, निष्प्रयास जागरण नहीं है। सामान्यत: एक गुरु अपने शिष्यों को उसी मार्ग पर ले जाता है, जिसका उसने स्वयं अनुसरण किया है। श्रीभगवान् ने आधा घण्टे के अन्दर न केवल जीवन भर की, बल्कि अधिकांश साधकों के लिए अनेक जीवनों की साधना पूरी कर ली, इससे यह तथ्य नहीं बदलता कि यह आत्म-अन्वेषण का प्रयास था। उन्होंने बाद में अपने अनुयायियों से इसी का अनुसरण करने के लिए कहा था। उन्होंने अपने भक्तों को यह चेतावनी दी कि आत्म-अन्वेषण से सामान्यतः सिद्धि शीघ्र नहीं मिलती। इसके लिए काफी लम्बे अरसे तक प्रयास करना पड़ता है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि "यही एकमात्र प्रत्यक्ष निभ्रान्ति साधन है, उस निरपेक्ष परम सत्ता की अनुभूति का जो आप स्वयं वस्तुतः हैं।" (**महर्षीज गॉस्पल,** दूसरा भाग) उन्होंने कहा कि इससे तत्काल ही रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, भले ही इसके पूर्ण होने में देर ही क्यों न लगे। "परन्तु ज्योंही अहंभाव अपने को जानने का प्रयास करता है, यह शरीर में कम से कम रमता है और आत्म-चैतन्य में अधिक से अधिक।"

यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि साधना के सिद्धान्त या व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ भी न जानते हुए श्रीभगवान् ने एकाग्रता के लिए प्राणायाम का आश्रय लिया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि प्राणायाम से विचारों के नियन्त्रण में सहायता मिलती है। उन्होंने अन्य किसी प्रयोजन के लिए प्राणायाम के प्रयोग को निरुत्साहित किया और वस्तुतः अपने शिष्यों को इसका कभी आदेश नहीं दिया :

> "प्राणायाम भी एक साधन है। यह उन विभिन्न विधियों में से एक है, जिनका प्रयोग चित्त की एकाग्रता के लिए किया जाता है। प्राणायाम से इधर-उधर भटकते हुए मन को नियन्त्रित करने और एकाग्रता प्राप्त करने में सहायता मिलती है, इसलिए इसका प्रयोग भी किया जा सकता है। परन्तु व्यक्ति को यहीं नहीं रुक जाना है। प्राणायाम द्वारा मन पर नियन्त्रण प्राप्त करने के बाद, व्यक्ति को इससे प्राप्त अनुभव से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, अपितु नियन्त्रित मन को 'मैं

कौन हूँ ?' इस प्रश्न की ओर तब तक लगाना चाहिए जब तक कि मन आत्मा में लीन न हो जाय।''

चैतन्य की इस परिवर्तित अवस्था के कारण वेंकटरमण के मूल्यों के अर्थ और आदतों में परिवर्तन हो गया। जो चीजें उसे पहले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती थीं, अब उनका सारा आकर्षण जाता रहा, जीवन के परम्परागत ध्येय अवास्तविक हो गये। जिस वस्तु की पहले उपेक्षा की जाती थी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगी। इस चैतन्यमयी नवीन स्थिति के अनुरूप जीवन का अनुकूलन उस किशोर के लिए सरल नहीं रहा होगा जो अभी स्कूल का विद्यार्थी था और जिसने आध्यात्मिक जीवन का कोई सैद्धान्तिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था। उसने इस बारे में किसी से बात नहीं की। वह परिवार में ही रहा और उसने स्कूल जाना जारी रखा। तथ्य तो यह है कि उसने बाह्य परिवर्तन कम से कम किया तथापि उसके परिवार के लोग अनिवार्यतः उसके परिवर्तित व्यवहार को जान गये और उन्होंने उसकी कई बातों का बुरा भी माना। इसका भी उसने वर्णन किया है।

''इस नये चैतन्य के परिणाम मेरे जीवन में दृष्टिगोचर होने लगे। सर्वप्रथम मित्रों और सम्बन्धियों में मैंने दिलचस्पी लेना बन्द कर दिया। मैं अपना अध्ययन यान्त्रिक भाव से करने लगा। मैं अपने सम्बन्धियों को सन्तुष्ट करने के लिए अपने सामने पुस्तक खोलकर बैठ जाता, परन्तु वस्तु-स्थिति यह थी कि मेरा मन पुस्तक में बिलकुल नहीं लगता था। मैं लोगों के साथ व्यवहार में अत्यन्त विनम्र और शान्त बन गया। पहले अगर मुझे दूसरे लड़कों की अपेक्षा अधिक काम दिया जाता तो मैं शिकायत किया करता था और अगर कोई लड़का मुझे तंग करता तो मैं उससे बदला लिया करता था। किसी भी लड़के में मेरा मजाक उड़ाने या मेरे साथ उच्छृंखलतापूर्वक व्यवहार करने का साहस नहीं था। अब सब कुछ बदल चुका था। मुझे जो भी काम दिया जाता, मैं उसे खुशी से करता। मुझे जितना भी तंग किया जाता, मैं इसे शान्ति से सहन कर लेता। विक्षोभ और प्रतिशोध प्रदर्शित करने वाले मेरे अहं का लोप हो चुका था। मैंने मित्रों के साथ खेलने के लिए बाहर जाना बन्द कर दिया और एकान्त पसन्द करने लगा। मैं प्रायः ध्यानावस्था में अकेला बैठ जाता और आत्मा में, स्वनिर्माण करने वाली शक्ति या धारा में लीन हो जाता। मेरा बड़ा भाई मेरा मजाक उड़ाया करता था और व्यंग्य से मुझे 'साधु' अथवा 'योगी' कहा करता था तथा प्राचीन ऋषियों की तरह मुझे जंगल में जाने की सलाह दिया करता था।

''दूसरा परिवर्तन मुझमें यह हुआ कि भोजन के सम्बन्ध में मेरी कोई रुचि-अरुचि नहीं रही। जो कुछ भी मेरे सम्मुख परोसा जाता, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट, अच्छा या बुरा, मैं उसे उदासीन भाव से निगल जाता।

''एक और परिवर्तन मुझमें यह हुआ कि मीनाक्षी के मन्दिर[1] के प्रति मेरी धारणा बदल गयी। पहले मैं मन्दिर में कभी-कभी मित्रों के साथ मूर्तियों का दर्शन करने और मस्तक पर पवित्र विभूति तथा सिन्दूर लगाने के लिए जाया करता था और बिना किसी आध्यात्मिक प्रभाव के मैं घर वापस आ जाया करता था। परन्तु जागरण के बाद मैं प्रायः हर सायंकाल वहाँ जाने लगा। मैं मन्दिर में अकेला जाया करता और शिव या मीनाक्षी या नटराज और त्रेसठ सन्तों की मूर्तियों के सामने अविचल भाव से खड़ा हो जाता। मेरे हृदय-सागर में भावना की तरंगें उठने लगतीं। जब आत्मा ने 'मैं शरीर हूँ' इस विचार का परित्याग कर दिया तो इसका शरीर पर से आधिपत्य जाता रहा। अब यह किसी नये आश्रय की तलाश करने लगी। मैं बार-बार मन्दिर जाने लगा और मेरी आत्मा द्रवित हो उठी। यह आत्मा के साथ भगवान् की लीला थी। मैं जगन्नियन्ता और सृष्टि के भाग्य-विधाता, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ईश्वर के सम्मुख खड़ा होता और कभी-कभी उससे उसकी कृपा के लिए प्रार्थना करता कि मेरी भक्ति में वृद्धि हो और वह त्रेसठ सन्तों की भक्ति की तरह शाश्वत बने। प्रायः मैं बिलकुल प्रार्थना नहीं करता था और अपने अन्तरतम की गहराइयों में विद्यमान अमृत-प्रवाह को अनन्त सत्ता की ओर प्रवाहित होने देता। मेरी आँखों से अश्रुओं की अजस्र धारा प्रवाहित होकर मेरी आत्मा को आप्लावित कर देती। यह किसी विशेष आनन्द या पीड़ा की सूचक नहीं थी। मैं निराशावादी नहीं था; मुझे जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं था और मैं यह भी नहीं जानता था कि यह दुःखों से भरा हुआ है। मैं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने या मुक्ति की प्राप्ति या आवेशशून्य होने की किसी इच्छा से प्रेरित नहीं हुआ था। मैंने पेरियापुराणम्, बाइबिल और तायुमनावर या तेवरम के कुछ अंशों के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ नहीं पढ़े थे। मेरी ईश्वर सम्बन्धी धारणा वही थी जो पुराणों में पायी जाती है। मैंने ब्रह्म, संसार और इसी प्रकार के अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में कभी नहीं सुना था। मुझे अभी तक यह

---

[1] मदुरा का विख्यात मन्दिर।

ज्ञात नहीं था कि प्रत्येक वस्तु में एक अवैयक्तिक यथार्थ सत्ता अनुस्यूत है और ईश्वर तथा मैं, दोनों इसके साथ एकरूप हैं । बाद में तिरुवन्नामलाई में जब मैंने ऋभु गीता और अन्य धार्मिक ग्रन्थ पढ़े, तब मुझे ज्ञात हुआ कि धार्मिक-ग्रन्थों में उस वस्तु का विश्लेषण और नामकरण है जिसे मैंने बिना विश्लेषण या नाम के स्फुरणात्मक रूप से अनुभव कर लिया था । धार्मिक ग्रन्थों की भाषा में जागरण के बाद की इस स्थिति को जिसमें मैं इस समय था, **शुद्ध मनस्** या **विज्ञान** या प्रकाश सम्पन्न की स्फुरणा कहते हैं ।''

यह उस रहस्यवादी की स्थिति से नितान्त भिन्न था जो थोड़ी देर के लिए आनन्द की परम अवस्था में पहुँच जाता है, परन्तु फिर उसके चारों ओर अँधेरा छा जाता है । श्रीभगवान् पहले ही आत्म-तत्त्व के साथ निरन्तर एकरूप थे और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इसके बाद उन्हें और आध्यात्मिक साधना नहीं करनी पड़ी । आत्म-तत्त्व में लीन होने के लिए उन्हें और प्रयास नहीं करना पड़ा क्योंकि उस 'अहं' का जिसके विरोध के कारण संघर्ष होता है, लोप हो चुका था और अब संघर्ष के लिए कोई वस्तु शेष नहीं बची थी । सामान्य बाह्य जीवन में, आत्म-तत्त्व के साथ निरन्तर एकरूपता और अपने सान्निध्य में आने वाले भक्तों पर कृपा-दृष्टि का भाव स्वाभाविक और अनायास हो गया । इस प्रगति के बावजूद श्रीभगवान् का कथन है कि उनकी आत्मा एक नये आश्रय की खोज कर रही थी । एक ओर सन्तों का अनुकरण और दूसरी ओर यह चिन्ता कि बड़े बुजुर्ग क्या कहेंगे—ये विचार श्रीभगवान् के जीवन में द्वित्व की व्यावहारिक स्वीकृति की ओर संकेत करते हैं, जिसका बाद में लोप हो गया । इस निरन्तर प्रक्रिया का एक शारीरिक संकेत भी था । जागरण के समय से लेकर तिरुवन्नामलाई के देवालय में संकेत भी था । जागरण के समय से लेकर तिरुवन्नामलाई के देवालय में प्रवेश तक श्रीभगवान् को शरीर में लगातार ज्वलन की अनुभूति होती थी ।

तीसरा अध्याय

यात्रा

वेंकटरमण के जीवन में इस परिवर्तन के कारण संघर्ष उठ खड़ा हुआ। वह स्कूल के काम की अब पहले से भी अधिक उपेक्षा करने लगा। हालाँकि यह उपेक्षा अब खेल के लिए न होकर प्रार्थना और चिन्तन के लिए होती थी। वेंकटरमण के चाचा और उसके बड़े भाई उसकी कटु आलोचना करने लगे और उन्हें उसकी वृत्ति बिलकुल अव्यावहारिक दिखायी दी। उनकी दृष्टि में वेंकटरमण एक मध्यवर्गीय परिवार का किशोर पुत्र था जिसे धन कमाने और दूसरों की सहायता करने में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए थी।

जागरण के कोई दो महीने बाद २९ अगस्त को एक अभूतपूर्व घटना घटी। वेंकटरमण ने बेन के अंग्रेजी व्याकरण का एक अभ्यास याद नहीं किया था। दण्डस्वरूप उसे तीन बार यह अभ्यास लिखने के लिए कहा गया। वह दोपहर का समय था और वह ऊपर के कमरे में अपने बड़े भाई के साथ बैठा था। उसने दो बार तो यह अभ्यास लिख लिया, परन्तु जब वह तीसरी बार यह अभ्यास लिखने लगा, तो उसे इस कार्य की व्यर्थता इतने प्रबल रूप से प्रतीत हुई कि उसने कागज एक ओर हटा दिये और पालथी मारकर समाधिस्थ हो गया।

इस दृष्टि से विक्षुब्ध होकर नागास्वामी ने व्यंग्य से कहा, "ऐसे आदमी को इन सब चीजों से क्या लेना देना है?" इसका अर्थ स्पष्ट था : जो व्यक्ति साधु की तरह जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसे पारिवारिक जीवन की सुख-सुविधाओं के उपभोग का कोई अधिकार नहीं है। वेंकटरमण के दिल को यह बात लग गयी और वह सत्य (या न्याय जो कि व्यावहारिक सत्य है) को कठोरतापूर्वक स्वीकार करने की अपनी चारित्रिक विशेषता के कारण तत्क्षण सब कुछ परित्याग करके घर छोड़ने के लिए तैयार हो गया। उसका विचार तिरुवन्नामलाई और अरुणाचल की पवित्र पहाड़ी की ओर प्रयाण करने का था।

वेंकटरमण यह अच्छी तरह जानता था कि उसे कौशल से काम लेना होगा, क्योंकि हिन्दू परिवारों में बड़ों का अनुशासन बहुत कड़ा होता है। अगर

उसके चाचा तथा भाई को इस रहस्य का पता चल गया तो वे उसे नहीं जाने देंगे। इसलिए उसने फिर स्कूल जाने और एक विशेष कक्षा में सम्मिलित होने का बहाना किया जिसमें विद्युत सम्बन्धी पाठ पढ़ाया जाता था।

जब वेंकटरमण बाहर जाने के लिए तैयार हुआ तब उसके भाई ने उससे कहा, "तुम स्कूल तो जा ही रहे हो; नीचे सन्दूक में से पाँच रुपये निकाल लो और रास्ते में मेरी कालेज की फीस देते जाना।" उसे यह पता नहीं था कि वह इस प्रकार अनजाने अपने भाई को यात्रा-व्यय दे रहा है।

ऐसी बात नहीं है कि वेंकटरमण के परिवार में आध्यात्मिक चेतना का अभाव था, जिसके कारण उसके परिवार के लोग उसकी उपलब्धि को नहीं पहचान सके। मन की आत्मोन्मुखी वृत्ति का दूसरों पर प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं। यह सामान्यतः मानव व्यक्तित्व में आत्मा के पारस्परिक प्रवाह को प्रेरित करती है और इससे वह दृश्य-शक्ति और दिव्य-ज्योति उत्पन्न होती है जो उनके सम्पर्क में आने वालों को अभिभूत कर लेती है। यह पारस्परिक प्रवाह अनिवार्य नहीं होता। गुप्त सन्त भी संसार में हुए हैं। अभी तक वेंकटरमण की आन्तरिक अवस्था के आभामय सौन्दर्य ने उसके मानव शरीर को परिव्याप्त नहीं किया था और इसका कुछ भी आभास नहीं था। जब कुछ साल बाद वेंकटरमण के स्कूल के एक साथी रंगा ऐय्यर ने उसे तिरुवन्नामलाई में देखा, तब वह उसके प्रति भक्ति और सम्मान की भावना से इतना अधिक अभिभूत हो उठा था कि वह उसके चरणों में गिर पड़ा था, परन्तु अब तो केवल वह अपने सामने अपने चिर-परिचित वेंकटरमण को ही देख रहा था। बाद में जब उसने इसका कारण पूछा तब श्रीभगवान् ने केवल यही उत्तर दिया था कि किसी ने भी उसके इस परिवर्तन को नहीं पहचाना था।

रंगा ऐय्यर ने यह भी प्रश्न किया, "तब आपने कम से कम मुझे यह क्यों नहीं बताया कि आप घर छोड़कर जा रहे हैं ?"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हें कैसे बताता ? मुझे स्वयं भी इसका पता नहीं था।"

वेंकटरमण की चाची नीचे के कमरे में थी। उसने उसे पाँच रुपये दिये और उसके आगे भोजन परोसा, जिसे वह जल्दी-जल्दी खा गया। घर में एक एटलस था, उसने इसे खोला और उसे यह पता चला कि तिरुवन्नामलाई के सबसे अधिक निकट का स्टेशन तिन्दीवनम है। वस्तुतः तिरुवन्नामलाई तक एक ब्रांच लाइन का पहले ही निर्माण हो चुका था, परन्तु एटलस पुराना था और उसमें यह लाइन नहीं दिखायी गयी थी। वेंकटरमण ने यह अन्दाजा लगाया कि यात्रा के लिए तीन रुपये पर्याप्त होंगे और केवल तीन ही रुपये

अपने पास रखे। उसने अपने भाई को एक पत्र लिखा कि वह कोई चिन्ता न करें और उसकी तलाश न करें। बचे हुए दो रुपये उसने पत्र के साथ ही रख दिये। पत्र इस प्रकार था :

> ''मैं अपने महान् पिता की आज्ञा के अनुसार, उसकी तलाश में चल पड़ा हूँ। एक पवित्र कार्य के लिए इसने घर से प्रयाण किया है, इसलिए इस कार्य से आप लोग चिन्तित न हों और इसकी तलाश में पैसा बर्बाद न करें। आपकी कालेज की फीस भी जमा नहीं करायी गयी। दो रुपये वापस भेजे जा रहे हैं।''

यह सारी घटना श्रीभगवान् के इस कथन को स्पष्ट करती है कि शरीर के बन्धन से ऊपर उठकर वह आत्म-तत्त्व में, जिसके साथ उन्होंने अपने को एकरूप कर दिया था, स्थायी आश्रय की खोज कर रहे थे। स्कूल की विद्युत-कक्षा में सम्मिलित होने का बहाना, हालाँकि इससे किसी को हानि नहीं पहुँची थी, बाद में सम्भव न होता। न ही तलाश का विचार सम्भव होता, क्योंकि जिसने पा लिया है वह खोज नहीं करता। जब भक्तगण श्रीभगवान् के चरणों में नतमस्तक हुए, वह परमपिता के साथ एकरूप थे और अब उन्हें उसकी तलाश नहीं थी। पत्र से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और भक्ति के मार्ग द्वारा उन्होंने तादात्म्य का परम आनन्द प्राप्त कर लिया था। पत्र 'मैं' और 'अपने महान् पिता' से प्रारम्भ होता है तथा इसमें आज्ञा और तलाश की ओर संकेत है, परन्तु दूसरे वाक्य में अब पत्र-लेखक की ओर से 'मैं' के रूप में निर्देश न होकर 'यह' के रूप में निर्देश है और अन्त में जब हस्ताक्षर करने का समय आया तब उसने अनुभव किया कि 'अहं' का लोप हो चुका है, हस्ताक्षर के लिए नाम शेष नहीं रहा और इसलिए हस्ताक्षर के स्थान पर डैश (—) से पत्र समाप्त हुआ। उन्होंने फिर कभी पत्र नहीं लिखा और न कभी अपने नाम के हस्ताक्षर किये हालाँकि केवल दो बार अपना पूर्व नाम लिखा था। एक बार, कुछ वर्ष बाद आश्रम में आने वाले एक चीनी दर्शक को श्रीभगवान् की पुस्तक 'Who Am I' की एक प्रति भेंट की गयी थी। चीनी दर्शक ने बड़े सौजन्यपूर्ण ढंग से श्रीभगवान् से पुस्तक पर हस्ताक्षर करने के लिए आग्रह किया था। श्रीभगवान् ने पुस्तक हाथ में ले ली और इस पर सृष्टि के कण-कण में व्याप्त आद्य ध्वनि 'ॐ' अंकित कर दी।

वेंकटरमण ने तीन रुपये ले लिये और बाकी दो वापस कर दिये। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि उसने तिरुवन्नामलाई की यात्रा के लिए जितनी धनराशि अपेक्षित थी, उससे अधिक नहीं ली। वही उसका शरण-स्थल

र म ण म ह र्षि

एवं आत्म-ज्ञान का मार्ग

अरुणाचल के अवतार

भगवान् श्री रमण महर्षि इस शताब्दी के भारतवर्ष के अग्रणी आध्यात्मिक गुरु समझे जाते हैं। उनकी शिक्षाएँ सर्वथा व्यावहारिक हैं। जिस ज्ञान-योग की वे शिक्षा देते हैं और जिसका वे जीवन में आचरण करते हैं, वह संसार का सर्वथा परित्याग करने या उससे विमुख होने के लिए नहीं कहता। वह निरन्तर आन्तरिक जिज्ञासा पर बल देता है। 'मैं कौन हूँ ?'—जो व्यक्ति इस रहस्य को जान जाता है, वह मुक्त हो जाता है। उनकी शिक्षा पूर्वी या पश्चिमी सभी जीवन-पद्धतियों के लिए उपयुक्त है, इसलिए वे सभी मतावलम्बियों में लोकप्रिय हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के अंग्रेज लेखक श्री आर्थर आसबोर्न ने न केवल उस महर्षि के जीवन और शिक्षाओं को अंकित किया है, अपितु एक पाश्चात्य के दृष्टिकोण से भारत में आध्यात्मिक जीवन की सुन्दर झाँकी यहाँ प्रस्तुत की है। सादगी और आध्यात्मिकता के वातावरण से ओतप्रोत भारतीय आश्रम का सजीव चित्र उन्होंने खींचा है। अरुणाचल की पवित्र पहाड़ी पर महर्षि के जीवन के विभिन्न पक्षों का उन्होंने ऐसा यथार्थ चित्रण किया है कि पाठक पर महर्षि के व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

र म ण म ह र्षि

एवं आत्म-ज्ञान का मार्ग

[Hindi Ed. of Ramana Maharshi and the Path of Self-knowledge by Arthur Osbourne]

लेखक

आर्थर आसबोर्न

भूमिका लेखक

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

भूतपूर्व राष्ट्रपति, भारत

अनुवादक

वेदराज वेदालंकार

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी

पुस्तक-प्रकाशक एवं विक्रेता : आगरा–३

प्रकाशक

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी

अस्पताल रोड, आगरा–३

●

शाखाएँ

चौड़ा रास्ता, जयपुर ● खजूरी बाजार, इन्दौर

द्वितीय संस्करण : १९७२

●

मूल्य : पाँच रुपये

शिव आर्ट प्रिण्टर्स, आगरा–२

प्रस्तावना

भगवान् रमण महर्षि के शरीरान्त के थोड़े दिनों बाद, मैंने यह विचार व्यक्त किया था कि तिरुवन्नामलाई एक आध्यात्मिक केन्द्र के रूप में अवश्य ही रहेगा। महर्षि स्वयं उन लोगों की भर्त्सना किया करते थे जो यह चिन्ता व्यक्त करते थे कि उनके देहावसान के साथ उनका मार्गदर्शन समाप्त हो जायेगा। महर्षि व्यंग्यपूर्वक कहा करते थे, "आप लोग इस शरीर को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।" और दुःख प्रकट करने वाले लोगों से वे कहा करते थे, "आप सोचते हैं कि मैं इस संसार से जा रहा हूँ, परन्तु मैं जा कहाँ सकता हूँ? मैं तो यहीं हूँ।" इसके अतिरिक्त वे जो कुछ कहते थे, उसमें उनका आन्तरिक विश्वास प्रकट होता था।

महर्षि को दिवंगत हुए आज पन्द्रह वर्ष होते हैं। हम अपने अनुभव से उन्हीं बातों की पुनरावृत्ति कर सकते हैं। पहले उस दिव्य ज्योति के दर्शनों के लिए और उसके सान्निध्य का लाभ उठाने के लिए सहस्रों व्यक्ति तिरुवन्ना-मलाई आया करते थे। इनमें से कुछ भक्त थे जिन्होंने अपना जीवन और भाग्य महर्षि के हाथों में समर्पित कर दिया था और उनके बताये मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहे थे। अब भीड़ छँट गयी है, केवल भक्तजन रह गये हैं। इन भक्तजनों में और भी कई श्रद्धालु भक्त आकर सम्मिलित हो गये हैं, और सभी समान रूप से महर्षि की अनुकम्पा और उनके मार्गदर्शन के प्रभाव को अनुभव करते हैं।

आजकल शान्ति की बहुत अधिक चर्चा है। प्रायः शान्ति का अर्थ युद्ध-निवारण और सुरक्षा की स्थिर स्थिति से अधिक कुछ नहीं है। भगवान् की शान्ति इससे बहुत भिन्न है; यह एक आन्दोलक शक्ति है जो हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व में विद्यमान है और यह अपार शान्ति की अवस्था है। यह हमारी कल्पना से नितान्त परे है। इसकी प्राप्ति से पूर्व यह मन-निर्मित समस्त बन्धनों को काट देती है और इसे शाश्वत सत्ता का पूर्वाभास हो जाता है। यही वह शान्ति है जिसे भक्तगण आज भी अरुणाचल पहाड़ी के प्रदेश में अनुभव करते हैं।

भूमिका

श्री रमण महर्षि के जीवन और शिक्षाओं के सम्बन्ध में श्री आसबोर्न रचित प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता अनुभव हो रही है। इसका हमारे युग से, जिसमें उत्सुकता और परांगमुखता पर आधारित सन्देहवादी वृत्ति का प्राधान्य है, विशेष सम्बन्ध है। प्रस्तुत पुस्तक में आत्मा के धर्म का वर्णन है जो हमें मतों और मिथ्या विश्वासों, धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड से मुक्ति प्रदान करता है और स्वतन्त्र आत्माओं के रूप में जीवनयापन करने के योग्य बनाता है। सभी धर्मों का सार एक आन्तरिक वैयक्तिक अनुभव और दिव्य सत्ता के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध है। यह पूजा कम और खोज अधिक है। यह तो अपने स्वरूप को पहचानने और मुक्ति का मार्ग है।

यूनानियों की विख्यात उक्ति 'अपने को पहचानो' उपनिषदों के **'आत्मानम् विद्धि'** उपदेश से सम्बद्ध है। पृथक्करण की प्रक्रिया द्वारा हम शरीर, मन और बुद्धि की परतों को पार करके विश्व-आत्मा के दर्शन करते हैं। "यही वह वास्तविक प्रकाश है जो संसार में आने वाले प्रत्येक मानव को आलोकित करता है।" "शिव-प्राप्ति के लिए हमें उच्चतम स्थिति पर पहुँचना होगा, उस पर अपनी दृष्टि स्थिर रखनी होगी और यहाँ नीचे उतरते वक्त हमें उसी प्रकार अपने परिधानों को उतार फेंकना होगा जिस प्रकार यूनानियों के धार्मिक अनुष्ठानों में जिन लोगों को देवालय के अन्तर्तम प्रदेश में प्रवेश का अधिकार मिल जाता है, अपने को शुद्ध करने के बाद प्रत्येक वस्त्र उतार फेंकना पड़ता है और बिलकुल नंगे होकर चलना होता है।"[१] हम उस अनन्त सत्ता में निमग्न हो जाते हैं, जिसकी कोई सीमा या निर्धारण नहीं है। यह शुद्ध सत्ता है, जिसमें एक वस्तु का दूसरे से विरोध नहीं होता। व्यक्ति अपने को सभी वस्तुओं और घटनाओं के साथ एकाकार अनुभव करता है। आत्मा को वास्तविक ज्ञान हो जाता है, क्योंकि इस पर वरीयताओं या विरक्तियों, इच्छाओं या अनिच्छाओं का अब कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अब विकारक माध्यम के रूप में कार्य नहीं करतीं।

बालक आत्म-दर्शन के अधिक निकट होता है। सत्य के राज्य में प्रवेश

---

१ **प्लोटिनस : एन्नीड्स,** I, VI, ६

करने से पूर्व हमें बालक बनना होगा। यही कारण है कि हमें पण्डितों के पाखण्ड से बचना होगा। ऐसा कहा जाता है कि बालकों का बुद्धि-वैभव विद्वानों के बुद्धि-वैभव से बढ़कर है।

श्री रमण महर्षि भारतीय धर्म-ग्रन्थों पर आधारित एक ऐसे धर्म की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं जो बौद्धिक और आचारशास्त्रीय होने के साथ-साथ सारतः आध्यात्मिक है।

एस० राधाकृष्णन

प्रकाशकीय वक्तव्य

गत वर्ष अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के मध्य मुझे श्री रमण महर्षि के आश्रम में जाने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यद्यपि श्री रमण महर्षि का पार्थिव शरीर अब इस संसार में नहीं है, तथापि उनका आध्यात्मिक प्रभाव आश्रम के वातावरण तथा आश्रमवासियों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

आश्रम में मेरा सम्पर्क एक हॉलैण्ड-निवासी युवक श्री माइक लोर्श, जो अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण आश्रम में आये हुए थे, से हुआ। उन्होंने मुझे इंगलैण्ड से प्रकाशित, श्री आसबोर्न लिखित महर्षि का जीवन-चरित्र पढ़ने को दिया। इस पुस्तक से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ कि मेरे मन में तुरन्त ही यह प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई कि प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी संस्करण प्रकाशित किया जाय। मैं श्री आसबोर्न और उनकी धर्मपत्नी से जो आश्रम में वर्षों से साधनारत हैं, मिला और अपने संकल्प की चर्चा की। श्री आसबोर्न ने मुझे पुस्तक के हिन्दी अनुवाद के लिए प्रोत्साहित किया। अन्ततः आश्रम के सभापति श्री टी० एन० वेंकटरमण ने इस ग्रन्थ के हिन्दी संस्करण के प्रकाशन की आज्ञा दे दी, जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। प्रस्तुत पुस्तक उसी पावन संकल्प का परिणाम है।

महर्षि की शिक्षाओं का सार है : 'मैं कौन हूँ' इस तत्त्व को पहचानो, परमात्मा को जानने से पहले स्वयं को जानो, भूत और भविष्य के जंजाल में न पड़कर वर्तमान को सँवारो। सुख और अमृत हमारे चारों ओर बरस रहा है। आवश्यकता है अन्तराभिमुख होने की।

प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से यदि कोई अन्धकारावच्छन्न हृदय आध्यात्मिक प्रकाश से आलोकित हो सका तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

राधेमोहन अग्रवाल

विषय-सूची

मैं उन पुराने भक्तों का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक
की पाण्डुलिपि को पढ़ा और अपने सुझाव दिये ।

पहला अध्याय

प्रारम्भिक जीवन

शैव लोग रुद्र-दर्शन का समारोह बड़ी श्रद्धापूर्वक मनाते हैं। इसी दिन शिव ने नटराज के रूप में, अर्थात् विश्व की सृष्टि और प्रलय के ताण्डव-नृत्य के रूप में, अपने भक्तों को दर्शन दिये थे। सन् १८७९ को इसी दिन गो-धूलि के समय दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश स्थित तिरुचुजही कस्बे में शिव के भक्तगण धूलभरी सड़कों पर मन्दिर के तालाब की ओर नंगे पाँव चल पड़े थे। वहाँ ब्राह्म-मुहूर्त में स्नान करने की परम्परा चली आती है। सूर्य का अरुण प्रकाश उस विशाल वर्गाकार तालाब की पत्थर की सीढ़ियों से स्नान करने के लिए नीचे उतर रहे केवल धोती धारण किये हुए पुरुषों और महिलाओं की गहरी लाल तथा सुनहरी साड़ियों पर पड़ रहा था। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी क्योंकि इस बार त्यौहार दिसम्बर के महीने में पड़ा था। परन्तु इस प्रदेश के लोग बड़े सहिष्णु हैं। कुछ लोगों ने वृक्षों के नीचे या तालाब के निकटवर्ती घरों में कपड़े बदले। परन्तु अधिकांश लोग यह सोचकर कि उनके कपड़े धूप में सूख जायेंगे, गीले वस्त्र धारण किये हुए ही उस कस्बे के प्राचीन मन्दिर की ओर चल पड़े। तमिल प्रदेश के त्रेसठ शैव कवि-दार्शनिकों में से एक सुन्दरमूर्ति स्वामी हुए हैं, जिन्होंने प्राचीनकाल में इस मन्दिर को अपने भक्ति-गीतों से गुँजाया था।

मन्दिर में शिव की प्रतिमा फूलों से लदी थी। लोगों ने ढोल और शंख बजाते हुए पवित्र गीतों की मधुर ध्वनि के साथ दिन-भर मूर्ति का जुलूस निकाला था। रात के एक बजे जुलूस समाप्त हुआ। शिव की प्रतिमा मन्दिर में पुनः प्रविष्ट हुई और इसी समय सुन्दरम ऐय्यर तथा उनकी पत्नी अलगम्माल के घर में बालक वेंकटरमण का जन्म हुआ। इसी बालक में शिव को श्रीरमण के रूप में प्रकट होना था। पश्चिमी ईस्टर की तरह हिन्दू त्यौहार भी चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार बदलते रहते हैं। इस वर्ष रुद्र-दर्शन २९ दिसम्बर को पड़ा था। बालक समय, दिन और वर्ष के हिसाब से, लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पैदा हुए बैथलेहैम के दिव्य बालक से कुछ देर बाद पैदा हुआ था। उसके देहावसान के समय भी यही संयोग घटित हुआ। श्रीरमण का स्वर्गवास १४ अप्रैल को, समय और तिथि की दृष्टि से गुड-फ्राइडे के

मध्याह्नोत्तर से थोड़ी देर बाद हुआ था। दोनों समय सर्वथा उपयुक्त हैं। मध्यरात्रि और मकरसंक्रान्ति वह समय है जब सूर्य भगवान् पृथ्वी पर उदय होना प्रारम्भ कर रहे होते हैं और वासन्तिक विषुव को दिन और रात बराबर होते हैं तथा दिन लम्बा होना शुरू होता है।

सुन्दरम ऐय्यर ने उन दिनों दो रुपये मासिक के अत्यल्प हास्यास्पद वेतन पर एक एकाउण्टेण्ट के यहाँ अर्जीनवीस के रूप में कार्य प्रारम्भ किया था। कुछ वर्ष बाद उन्हें एक अप्रमाणित वकील अर्थात् ग्रामीण वकील के रूप में प्रैक्टिस करने की आज्ञा मिल गयी थी। उनकी प्रैक्टिस खूब चल निकली, लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा हुई और उन्होंने एक मकान[1] बनवाया। इसी मकान में बालक रमण का जन्म हुआ था। यह मकान काफी खुला था। इसका एक हिस्सा अतिथियों के लिए सुरक्षित था। श्री सुन्दरम ऐय्यर बड़े सामाजिक और अतिथि-भक्त थे। वह सरकारी अधिकारियों और कस्बे में आने वाले नवागन्तुकों को अपने घर ठहराया करते थे। यही कारण है कि वह अपने कस्बे के प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे जाते थे और इसका उनके व्यावसायिक कार्य पर भी बहुत अच्छा असर पड़ा।

श्री ऐय्यर ने बहुत सफलता प्राप्त की, परन्तु परिवार को एक विचित्र विधि-विधान का सामना करना था। ऐसा कहा जाता है कि एक बार एक घुमक्कड़ साधु उनके किसी पूर्वज के घर भिक्षा माँगने के लिए आया था। जब परिवार के लोगों ने भिक्षा से इन्कार कर दिया तब उस साधु ने शाप दिया कि उनकी सन्तान की हर पीढ़ी में से एक व्यक्ति साधु बनेगा और उसे भिक्षा माँगनी पड़ेगी। इसे शाप समझें या वरदान, साधु का कथन पूरा हुआ। सुन्दरम ऐय्यर के एक चाचा ने गेरुए वस्त्र धारण कर लिये थे और दण्ड तथा कमण्डल हाथ में लेकर घर का परित्याग कर दिया था; उनके बड़े भाई पड़ोस की एक जगह देखने का बहाना करके घर से निकल गये थे और बाद में संसार का परित्याग करके संन्यासी बन गये थे।

सुन्दरम ऐय्यर को अपने परिवार के सम्बन्ध में कोई विचित्र बात दिखायी नहीं देती थी। वेंकटरमण का एक सामान्य और स्वस्थ बालक के रूप में विकास हुआ। थोड़े अरसे के लिए उसे स्थानीय स्कूल में भेजा गया और जब वह ग्यारह वर्ष का हुआ, उसे दिन्दीगुल के एक स्कूल में भेजा गया। उसका भाई नागस्वामी था, जो उससे दो साल बड़ा था। उसके छः साल बाद तीसरे पुत्र नागसुन्दरम का जन्म हुआ और दो साल बाद पुत्री अलामेलु का। यह बड़ा सुखी और समृद्ध मध्यवर्गीय परिवार था।

---

[1] **अब आश्रम ने इस मकान को अपने अधिकार में ले लिया है। यहाँ दैनिक पूजा होती है और यह भक्तों के लिए तीर्थ-स्थल के रूप में खुला रहता है।**

जब वेंकटरमण बारह साल का हुआ, सुन्दरम ऐय्यर की मृत्यु हो गयी और परिवार विघटित हो गया। बच्चे अपने चाचा सुब्बियर के पास चले गये। पास ही मदुरा में उनका अपना मकान[1] था। वेंकटरमण को पहले वहाँ स्काट्स मिडिल स्कूल और बाद में अमरीकन मिशन हाई स्कूल में भेजा गया। उस समय वेंकटरमण में ऐसा कोई लक्षण दिखायी नहीं देता था जिससे यह प्रकट हो कि वह आगे चलकर विद्वान बनेगा। उसे खेलकूद और सैर-सपाटे का बड़ा शौक था। फुटबॉल, कुश्ती तथा तैरने में उसका मन बहुत रमता था। जहाँ तक स्कूल का सम्बन्ध है, उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तेज थी। जिस पाठ को वह एक बार सुन लेता था, उसे वह कण्ठस्थ हो जाता था और इस प्रकार वह अपनी शिथिलता की पूर्ति कर लेता था।

बचपन के दिनों में उसका एकमात्र असामान्य लक्षण उसकी असाधारण प्रगाढ़ निद्रा थी। श्रीभगवान् के एक भक्त देवराज मुदालियर ने अपनी डायरी में उसके सम्बन्ध में एक संस्मरण लिखा है। श्रीभगवान् ने बहुत वर्ष बाद आश्रम में बातचीत के दौरान, अपने भक्तों को वह घटना सुनायी जिसमें उन्होंने अपने एक सम्बन्धी को सभा-भवन में प्रवेश करते हुए देखकर कहा था :

> "आपको देखकर मुझे उस घटना का स्मरण हो आता है जो दिन्दीगुल में मेरे बचपन में घटित हुई थी। आपके चाचा पेरिअप्पा शेषाय्यर, उस समय वहीं रह रहे थे। घर में कोई समारोह हो रहा था। हर कोई इसमें सम्मिलित हुआ। रात को सब लोग मन्दिर गये। घर में अकेला मैं रह गया। मैं सामने के कमरे में बैठा पढ़ रहा था परन्तु कुछ देर बाद मैंने सामने के दरवाजे में ताला लगा दिया, खिड़कियाँ बन्द कर दीं और सो गया। जब सब लोग मन्दिर से वापस आये, तब उन्होंने दरवाजे और खिड़कियों पर जोर से थपथपाया और खूब चिल्लाये परन्तु मेरी नींद नहीं खुली। अन्त में उन्होंने सामने के घर वालों से ताली लेकर दरवाजा खोला और मुझे मार-मारकर जगाने की कोशिश की। सभी लड़कों ने मुझे जी भरकर मारा और तुम्हारे चाचा ने भी मारा परन्तु मेरी नींद नहीं खुली। मुझे इस सम्बन्ध में तब तक कुछ भी पता नहीं चला जब तक कि दूसरे दिन सवेरे उन्होंने सारी कहानी मुझे न बता दी। इसी प्रकार की घटना मदुरा में भी मेरे साथ घटी थी। जब मैं जाग रहा होता था तब लड़के मुझे हाथ लगाने का साहस नहीं करते

---

[1] **इसी मकान में श्रीभगवान् को साक्षात्कार हुआ था। अब इसे आश्रम ने अपने अधिकार में ले लिया है और श्रीभगवान् का एक चित्र यहाँ रख दिया गया है। यह स्थान भक्तों के लिए तीर्थ-स्थल है।**

थे। परन्तु अगर उन्हें मुझसे बदला लेना होता तो वे उस समय आते जब मैं गाढ़-निद्रा में लीन होता। वे मुझे जहाँ चाहते ले जाते, जी भर कर पीटते और वापस मुझे मेरे बिस्तर पर डाल जाते। मुझे इसके बारे में तब तक कुछ पता न चलता जब तक वे अगले दिन सारी घटना न बताते।"

श्रीभगवान् इसे कोई महत्त्व नहीं देते थे और कहा करते थे यह तो केवल अच्छे स्वास्थ्य का परिणाम है। कभी-कभी वह रात को अर्द्ध-निद्रा की अवस्था में लेट जाया करते थे। सम्भवतः ये दोनों अवस्थाएँ आध्यात्मिक जागरण के पूर्व-संकेत हों : गाढ़-निद्रा भले ही वह तिमिरावत और निषेधक हो, इस बात की द्योतक है कि व्यक्ति में मन का परित्याग करने और गहरे डूबने की योग्यता है और अर्द्ध-निद्रा इसकी ओर संकेत करती है कि व्यक्ति साक्षी के रूप में तटस्थ भाव से अपना निरीक्षण कर सकता है।

हमारे पास श्रीभगवान् के बचपन का कोई चित्र नहीं है। वह हँसते हुए अद्भुत ढंग से कहा करते थे कि एक बार बचपन में परिवार का सामूहिक फोटो खींचा गया था। उनके हाथ में एक भारी पुस्तक थमा दी गयी थी जिससे वे बड़े अध्ययनशील दिखायी दें। परन्तु एक मक्खी उन पर आ बैठी और जैसे ही फोटो खींचा जाने लगा, उन्होंने इसे हटाने के लिए अपनी भुजा ऊपर उठायी। इस फोटो की कोई कापी उपलब्ध नहीं है और परिणामतः उनका कोई फोटो हमें नहीं मिलता।

उषा की प्रथम पूर्व-सूचना अरुणाचल से आने वाला प्रकाश था। स्कूल के विद्यार्थी वेंकटरमण ने कोई धार्मिक सिद्धान्त नहीं पढ़ा था। वह केवल इतना ही जानता था कि अरुणाचल एक अत्यन्त पवित्र-स्थान है और यह उसके भाग्य का पूर्वाभास था जिसने उसे आन्दोलित कर दिया। एक दिन वह अपने एक बुजुर्ग रिश्तेदार से, जिनसे उसका परिचय तिरुचुजही में हुआ था, मिला। उसने उनसे पूछा कि वह कहाँ से आ रहे हैं। उस वृद्ध ने उत्तर दिया, "अरुणाचल से।" और यकायक इस अनुभूति से कि वह पवित्र पहाड़ी पृथ्वी पर वस्तुतः एक दर्शनीय स्थान है, वेंकटरमण भाव-विह्वल हो कहने लगे, "क्या कहा ? अरुणाचल से ? वह कहाँ है ?"

उस वृद्ध को इस अनुभव-शून्य युवक के अज्ञान पर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा कि अरुणाचल तिरुवन्नामलाई ही है।

श्रीभगवान् ने बाद में अरुणाचल की स्तुति में निर्मित आठ श्लोकों में से प्रथम श्लोक में इस ओर निर्देश किया है :

"ध्यान देकर सुनो ! यह एक पहाड़ी की तरह है । इसकी क्रिया रहस्यपूर्ण है, जिसे मानव-मन नहीं समझ सकता । मुझे अपनी अबोध आयु में ही यह पता चल गया था कि अरुणाचल की शोभा अद्वितीय है, परन्तु जब किसी दूसरे व्यक्ति ने मुझे बताया कि यह तिरुवन्नामलाई ही है तब मैं इसका अर्थ नहीं समझ सका । जब मैं यहाँ पहुँचा तब मुझे अपार शान्ति मिली और जैसे ही मैं इसके और निकट पहुँचा, मेरा मन बिलकुल स्थिर हो गया ।"

यह घटना नबम्बर १८९५ की है । उस समय श्रीभगवान् की आयु यूरोपीय गणना के अनुसार सोलह वर्ष और हिन्दू गणना के अनुसार सत्रह वर्ष थी ।

इसके शीघ्र बाद दूसरी पूर्व-सूचना आयी । इस बार यह एक पुस्तक के माध्यम से आयी । दिव्य-सत्ता का आविर्भाव इस पृथ्वी पर सम्भव है, इस अनुभूति ने उसके हृदय को अवर्णनीय आनन्द से भर दिया । उसके चाचा कहीं से पेरिया पुराणम् की एक प्रति माँग लाये थे । इसमें त्रेसठ तमिल शैव सन्तों की जीवन-गाथाएँ हैं । वेंकटरमण ने जब यह पुस्तक पढ़ी तब उसका हृदय अद्‌भुत आश्चर्य से भर उठा कि इस प्रकार का विश्वास, इस प्रकार का प्रेम और इस प्रकार का दिव्य-उत्साह सम्भव है और मानव-जीवन में इतना सौन्दर्य भरा पड़ा है । प्रभु-मिलन के लिए प्रेरित करने वाली त्याग की कहानियों से उसका हृदय श्रद्धा और प्रशस्ति के भाव से आप्लावित हो उठा । उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि कोई ऐसी वास्तविक सत्ता है जो सभी स्वप्नों से महान् है, जो सभी महत्त्वाकांक्षाओं से ऊँची है और जिसकी प्राप्ति सर्वथा सम्भव है । इस साक्षात्कार से उसकी आत्मा आनन्दमयी कृतज्ञता से पूर्ण हो उठी ।

इसके बाद से श्रीभगवान् चिन्तन में लीन हो गये । इस अवस्था में भक्त को अपने चारों ओर की दुनिया की सुध-बुध नहीं रहती, वह दृग और दृश्य के द्वैव से ऊपर उठ जाता है, शारीरिक और मानसिक भूमियों से ऊपर उठकर दिव्य चैतन्य की अवस्था में पहुँच जाता है, परन्तु यह अवस्था शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के पूर्ण प्रयोग के साथ संगत होती है ।

श्रीभगवान् ने अत्यन्त सरलता के साथ इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार मदुरा में प्रतिदिन मीनाक्षी मन्दिर के दर्शकों के लिए जाते समय उनके मन में यह ज्ञान-धारा प्रवाहित होने लगी थी । उनके शब्दों में, "पहले मैंने सोचा कि यह एक प्रकार का ज्वर है, परन्तु मैंने निर्णय किया कि अगर यह ऐसा है तो यह मधुर ज्वर है और इसे बने रहना चाहिए ।"

दूसरा अध्याय

जागरण

भगवान् रमण महर्षि के ज्ञान-मार्गी उपदेशों और शिक्षाओं के अनुसार, अगर इस ज्ञान-धारा को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक प्रवाहित रखा जाय तो यह प्रबल और अधिक स्थिर रूप धारण करती जाती है और अन्ततः **सहज समाधि** की ओर ले जाती है। सहज समाधि की अवस्था में व्यक्ति अपने शुद्ध दिव्य-स्वरूप में स्थित रहते हुए जीवन के सामान्य कार्यकलाप करता रहता है। पृथ्वी पर इसी जीवन में इस स्थिति को प्राप्त करना वस्तुतः दुर्लभ है। यह जीवन तो साक्षात्कार की ओर लम्बी तीर्थयात्रा का केवल एक भाग है और प्रत्येक यात्री इसे उस बिन्दु से प्रारम्भ करता है, जहाँ वह पहले पहुँच चुका है, जैसे कि एक तीर्थयात्री रात को सो जाता है और अगले प्रातःकाल उसी स्थान पर उठ खड़ा होता है। आज के प्रयासों से वह कितनी दूर पहुँचेगा, यह अंशतः उस सोपान पर निर्भर करता है, जहाँ से उसने चलना प्रारम्भ किया है और अंशतः इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितना प्रयास करता है। जीवन एक तीर्थयात्रा है, हमारे जीवन का कोई लक्ष्य है और इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले मार्ग पर हमें दृढ़ निश्चय के साथ कदम बढ़ाना है, यह खोज भी स्वयं में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। श्रीभगवान् को कुछ महीने बाद ऐसा अनुभव हुआ। इसके लिए उन्हें कोई खोज, कोई प्रयत्न और कोई तैयारी नहीं करनी पड़ी। उन्होंने स्वयं इसका वर्णन इस प्रकार किया है :

"मदुरा से सदा के लिए रवाना होने से लगभग छः सप्ताह पूर्व मेरे जीवन में यह महान् परिवर्तन हुआ। अपने चाचा के मकान की पहली मंजिल पर मैं अकेला कमरे में बैठा हुआ था। मुझे कभी कोई बीमारी नहीं हुई थी और उस दिन मेरा स्वास्थ्य भी बिलकुल ठीक था, परन्तु यकायक मृत्यु के भीषण भय ने मुझे आन्दोलित कर दिया। मेरा स्वास्थ्य भी खराब नहीं था, जिसके कारण मुझे यह भय हुआ हो और मैंने इस भय के कारण का पता लगाने की भी कोई चेष्टा नहीं की। मुझे केवल ऐसा अनुभव होने लगा कि 'मुझे मरना है' और मैंने यह सोचना शुरू कर दिया कि अब क्या किया जाय। किसी डाक्टर या अपने बड़े बुजुर्गों

और मित्रों से परामर्श करने का विचार भी मेरे मन में नहीं आया। मैंने अनुभव किया कि मुझे तत्काल समस्या का समाधान स्वयं करना है।

"मृत्यु के भय के आघात के कारण मैं अन्तर्मुख हुआ और मेरे मन में अनायास ही ये विचार आने लगे—'अब मृत्यु आ गयी है; इसका क्या अभिप्राय है ? मृत्यु किसकी होनी है ? यह शरीर नहीं रहेगा।' और मैंने यकायक मृत्यु का अभिनय करना शुरू किया। मैं अपने अंगों को फैलाकार और कड़ा करके लेट गया और मैंने एक शव का अनुकरण किया ताकि मैं इस खोज की तह तक पहुँच सकूँ। मैंने श्वास रोक लिया और अपने ओंठ कसकर बन्द कर लिये ताकि न तो 'मैं' और न कोई अन्य शब्द मैं कह सकूँ। फिर मैंने अपने-आप से कहना शुरू किया, 'हाँ तो मेरा शरीर मृत है। लोग इसे उठाकर श्मशान-घाट ले जायेंगे और जला देंगे, तब यह राख हो जायेगा। परन्तु क्या इस शरीर की मृत्यु से मेरी मृत्यु हो जायगी ? क्या मैं शरीर हूँ ? मेरा शरीर मौन और जड़ है परन्तु मैं अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण शक्ति को अनुभव कर रहा हूँ और इसके अतिरिक्त अपने अन्दर उठने वाली 'मैं' की आवाज को भी अनुभव कर रहा हूँ। इसलिए मैं शरीर से परे आत्मा हूँ। शरीर की मृत्यु हो जाती है, परन्तु आत्मा को मृत्यु स्पर्श तक भी नहीं कर सकती। इसका अभिप्राय है, 'मैं अमर आत्मा हूँ।' यह सब शुष्क विचार-प्रक्रिया नहीं थी। जीवित सत्य की भाँति अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक ये विचार मेरे मन में बिजली की तरह कौंध गये। बिना किसी विचार-प्रक्रिया के मुझे सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया। 'अहं' ही वास्तविक सत्ता थी और मेरे शरीर से सम्बद्ध सभी चेतन गतिविधियाँ इसी 'अहं' पर केन्द्रित थीं। इसी क्षण से किसी शक्तिशाली प्रेरणा के कारण 'अहं' ने अपने पर ध्यान केन्द्रित करना आरम्भ किया। मृत्यु का भय सदा के लिए जा चुका था। इससे आगे आत्म-केन्द्रित ध्यान अविच्छिन्न रूप से जारी रहा। संगीत के विभिन्न स्वरों की भाँति अन्य विचार आते और चले जाते परन्तु 'अहं' उस आधारभूत श्रुतिस्वर के समान जारी रहा, जो सभी अन्य स्वरों के मूल में सम्मिश्रित है।[1] मेरा शरीर वार्तालाप, अध्ययन या किसी अन्य कार्य में भले ही लीन हो, परन्तु मेरा ध्यान 'अहं' पर केन्द्रित था। इससे पहले मुझे अपनी आत्मा की

---

[1] **यह एक स्वर-संगीत में सर्वत्र गुंजरित होता है। जिस प्रकार माला के सभी मनकों में सूत्र पिरोया होता है, उसी प्रकार सत्ता के सभी रूपों में 'आत्म' तत्त्व अनुस्यूत है।**

स्पष्ट अनुभूति नहीं हुई थी और मैं इसकी ओर चेतन रूप से आकृष्ट नहीं हुआ था। मुझे इसमें कोई प्रयत्क्ष दिलचस्पी अनुभव नहीं हुई, इसमें स्थायी रूप से रहने की तो और भी कम इच्छा हुई।''

बिना किसी आडम्बर और वाक्-प्रपंच के अगर सीधे-सादे शब्दों में कहें तो यह अवस्था अहंभाव से भिन्न नहीं, परन्तु इसका एकमात्र कारण 'मैं' और 'आत्म' शब्दों की अस्पष्टता है। मृत्यु के प्रति हमारी धारणा के कारण यह अन्तर पैदा होता है जिसका ध्यान 'अहं' में केन्द्रित होता है, जो 'अहं' को एक पृथक व्यक्ति के रूप में देखता है, वही मृत्यु से भयभीत होता है। मृत्यु हमारे अहं के विनाश की धमकी देती है। परन्तु यहाँ तो मृत्यु के भय का सर्वथा लोप हो चुका था। महर्षि ने यह अनुभव कर लिया था कि 'अहं' उस सार्वलौकिक अमर आत्मा के साथ एकरूप है जो प्रत्येक व्यक्ति में विराजमान है। यह कथन भी ठीक नहीं कि वह यह जानते थे कि वह विश्वात्मा के साथ एकरूप हैं। इससे तो ऐसा लगता है कि 'अहं' की पृथक सत्ता है जो इसे जानता है जबकि महर्षि ने यह अनुभव कर लिया था कि वे आत्मा हैं।

कुछ वर्ष बाद श्रीभगवान् ने एक पाश्चात्य जिज्ञासु श्रीपाल ब्रण्टन के सम्मुख इस अन्तर की इस प्रकार व्याख्या की थी :[1]

ब्रण्टन—''उस आत्मा का स्वरूप क्या है जिसकी आप चर्चा करते हैं ? आप जो कुछ कहते हैं, अगर वह सत्य है, तो उस स्थिति में मनुष्य में एक दूसरी आत्मा होनी चाहिए।''

श्रीरमण—''क्या एक व्यक्ति के दो स्वरूप, दो आत्माएँ सम्भव हैं ? इस विषय को समझने के लिए पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य अपना विश्लेषण करे। चूँकि वह लम्बे अरसे से अन्य लोगों की तरह सोचता आया है, इसलिए उसने कभी सच्चे ढंग से 'अहं' का सामना नहीं किया है। उसके सम्मुख अपनी सही तस्वीर नहीं है, उसने लम्बे अरसे से शरीर और मस्तिष्क के साथ अपने को एकरूप अनुभव किया है। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि आप इस सत्य का अन्वेषण करें कि 'मैं कौन हूँ' ?

''आपने इस यथार्थ आत्म-तत्त्व का वर्णन करने के लिए मुझसे कहा है। इसके बारे में क्या कहा जाय ? यह वह तत्त्व है जिसमें से 'मैं' की भावना पैदा होती है और इसी में इसे लय होना है।''

---

[1] **इस पुस्तक में दिया गया श्रीपाल ब्रण्टन का यह तथा अन्य उद्धरण राइडर एण्ड को०, लन्दन द्वारा प्रकाशित 'A Search in Secret India' पर आधारित है और आश्रम ने श्रीपाल ब्रण्टन की अनुमति से उद्धृत किया है।**

ब्रण्टन—"लय होना ? कोई अपने व्यक्तित्व की भावना को किस प्रकार भुला सकता है ?"

श्रीरमण—"प्रत्येक मनुष्य के मन में सर्वप्रथम और सर्वप्रधान विचार 'मैं' का होता है। इस विचार के बाद ही अन्य कोई विचार जन्म ले सकते हैं। प्रथम उत्तम पुरुष के सर्वनाम 'मैं' के मन में विचार के बाद ही द्वितीय मध्यम पुरुष के सर्वनाम 'तुम' की उत्पत्ति होती है। अगर आप मानसिक रूप से 'मैं' के सूत्र का अनुकरण कर सकें तो आपको यह पता चलेगा कि जिस प्रकार यह सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला विचार है, उसी प्रकार यह सबसे अन्त में लोप होने वाला विचार है। इसे आप अनुभव द्वारा जान सकते हैं।"

ब्रण्टन—"आपका कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार अपने आप में मानसिक अन्वेषण सम्भव है।"

श्रीरमण—"निश्चित रूप से। अपने अन्दर प्रवेश करना सम्भव है और अन्त में धीरे-धीरे 'मैं' का लोप हो जाता है।"

ब्रण्टन—"इसके बाद क्या बच रहता है ? इस अवस्था में क्या व्यक्ति बिलकुल अचेतन बन जाता है या वज्रमूर्ख बन जाता है ?"

श्रीरमण—"नहीं, इसके विपरीत उसमें वह चैतन्य प्रकट होता है जो अमर है और तब वह वस्तुतः बुद्धिमान बन जाता है जब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का पता चल जाता है। मनुष्य का वही वास्तविक स्वरूप है।"

ब्रण्टन—"परन्तु निश्चित ही 'मैं' का भाव इसके साथ सम्बद्ध है।"

श्रीरमण—'मैं' का भाव व्यक्ति, शरीर और मस्तिष्क से सम्बद्ध है। जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है तब प्रथम बार उसकी आत्मा की गहराइयों में से कोई ऐसी चीज जन्म लेती है, जो उस पर पूरी तरह हावी हो जाती है। यह चीज हमारे मन के पीछे है, यह असीमित दिव्य और शाश्वत है। कई लोग इसे स्वर्ग का साम्राज्य कहते हैं, दूसरे इसे आत्मा और अन्य लोग निर्वाण तथा हिन्दू इसे मुक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं; आप जो भी नाम चाहें, इसे दे सकते हैं। इस अवस्था में मनुष्य अपने को खोता नहीं बल्कि पा लेता है।"

जब तक मनुष्य इस सत्य आत्म-तत्त्व की खोज नहीं करेगा, सन्देह और अनिश्चितता उसे जीवन भर घेरे रहेगी। महान् सम्राट और राजनीतिज्ञ दूसरों पर शासन करने का प्रयत्न करते हैं जबकि वे अपने हृदय के अन्तःस्थल में यह अच्छी तरह जानते हैं कि वे अपने पर शासन नहीं कर सकते। परन्तु जो व्यक्ति आत्मा की गहराइयों में प्रवेश करता है, विश्व की महत्तम शक्ति भी उसकी आज्ञा का अनुकरण करती है। जब तक कि आपको यह पता नहीं कि

आप स्वयं कौन हैं, संसार की अन्य वस्तुओं के जानने का क्या उपयोग है ? मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप के इस अन्वेषण से बचते हैं परन्तु इससे बढ़कर और कौन-सा अन्वेषण हो सकता है ?

इस सम्पूर्ण साधना में मुश्किल से आधा घण्टा लगा। तथापि हमारे लिये यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि **यह एक साधना थी।** प्रकाश-प्राप्ति का प्रयास है, निष्प्रयास जागरण नहीं है। सामान्यतः एक गुरु अपने शिष्यों को उसी मार्ग पर ले जाता है, जिसका उसने स्वयं अनुसरण किया है। श्रीभगवान् ने आधा घण्टे के अन्दर न केवल जीवन भर की, बल्कि अधिकांश साधकों के लिए अनेक जीवनों की साधना पूरी कर ली, इससे यह तथ्य नहीं बदलता कि यह आत्म-अन्वेषण का प्रयास था। उन्होंने बाद में अपने अनुयायियों से इसी का अनुसरण करने के लिए कहा था। उन्होंने अपने भक्तों को यह चेतावनी दी कि आत्म-अन्वेषण से सामान्यतः सिद्धि शीघ्र नहीं मिलती। इसके लिए काफी लम्बे अरसे तक प्रयास करना पड़ता है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि "यही एकमात्र प्रत्यक्ष निर्भ्रान्त साधन है, उस निरपेक्ष परम सत्ता की अनुभूति का जो आप स्वयं वस्तुतः हैं।" (**महर्षीज गॉस्पल,** दूसरा भाग) उन्होंने कहा कि इससे तत्काल ही रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, भले ही इसके पूर्ण होने में देर ही क्यों न लगे। "परन्तु ज्योंही अहंभाव अपने को जानने का प्रयास करता है, यह शरीर में कम से कम रमता है और आत्म-चैतन्य में अधिक से अधिक।"

यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि साधना के सिद्धान्त या व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ भी न जानते हुए श्रीभगवान् ने एकाग्रता के लिए प्राणायाम का आश्रय लिया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि प्राणायाम से विचारों के नियन्त्रण में सहायता मिलती है। उन्होंने अन्य किसी प्रयोजन के लिए प्राणायाम के प्रयोग को निरुत्साहित किया और वस्तुतः अपने शिष्यों को इसका कभी आदेश नहीं दिया :

> "प्राणायाम भी एक साधन है। यह उन विभिन्न विधियों में से एक है, जिनका प्रयोग चित्त की एकाग्रता के लिए किया जाता है। प्राणायाम से इधर-उधर भटकते हुए मन को नियन्त्रित करने और एकाग्रता प्राप्त करने में सहायता मिलती है, इसलिए इसका प्रयोग भी किया जा सकता है। परन्तु व्यक्ति को यहीं नहीं रुक जाना है। प्राणायाम द्वारा मन पर नियन्त्रण प्राप्त करने के बाद, व्यक्ति को इससे प्राप्त अनुभव से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, अपितु नियन्त्रित मन को 'मैं

कौन हूँ ?' इस प्रश्न की ओर तब तक लगाना चाहिए जब तक कि मन आत्मा में लीन न हो जाय।''

चैतन्य की इस परिवर्तित अवस्था के कारण वेंकटरमण के मूल्यों के अर्थ और आदतों में परिवर्तन हो गया। जो चीजें उसे पहले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती थीं, अब उनका सारा आकर्षण जाता रहा, जीवन के परम्परागत ध्येय अवास्तविक हो गये। जिस वस्तु की पहले उपेक्षा की जाती थी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगी। इस चैतन्यमयी नवीन स्थिति के अनुरूप जीवन का अनुकूलन उस किशोर के लिए सरल नहीं रहा होगा जो अभी स्कूल का विद्यार्थी था और जिसने आध्यात्मिक जीवन का कोई सैद्धान्तिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था। उसने इस बारे में किसी से बात नहीं की। वह परिवार में ही रहा और उसने स्कूल जाना जारी रखा। तथ्य तो यह है कि उसने बाह्य परिवर्तन कम से कम किया तथापि उसके परिवार के लोग अनिवार्यतः उसके परिवर्तित व्यवहार को जान गये और उन्होंने उसकी कई बातों का बुरा भी माना। इसका भी उसने वर्णन किया है।

''इस नये चैतन्य के परिणाम मेरे जीवन में दृष्टिगोचर होने लगे। सर्वप्रथम मित्रों और सम्बन्धियों में मैंने दिलचस्पी लेना बन्द कर दिया। मैं अपना अध्ययन यान्त्रिक भाव से करने लगा। मैं अपने सम्बन्धियों को सन्तुष्ट करने के लिए अपने सामने पुस्तक खोलकर बैठ जाता, परन्तु वस्तु-स्थिति यह थी कि मेरा मन पुस्तक में बिलकुल नहीं लगता था। मैं लोगों के साथ व्यवहार में अत्यन्त विनम्र और शान्त बन गया। पहले अगर मुझे दूसरे लड़कों की अपेक्षा अधिक काम दिया जाता तो मैं शिकायत किया करता था और अगर कोई लड़का मुझे तंग करता तो मैं उससे बदला लिया करता था। किसी भी लड़के में मेरा मजाक उड़ाने या मेरे साथ उच्छृंखलतापूर्वक व्यवहार करने का साहस नहीं था। अब सब कुछ बदल चुका था। मुझे जो भी काम दिया जाता, मैं उसे खुशी से करता। मुझे जितना भी तंग किया जाता, मैं इसे शान्ति से सहन कर लेता। विक्षोभ और प्रतिशोध प्रदर्शित करने वाले मेरे अहं का लोप हो चुका था। मैंने मित्रों के साथ खेलने के लिए बाहर जाना बन्द कर दिया और एकान्त पसन्द करने लगा। मैं प्रायः ध्यानावस्था में अकेला बैठ जाता और आत्मा में, स्वनिर्माण करने वाली शक्ति या धारा में लीन हो जाता। मेरा बड़ा भाई मेरा मजाक उड़ाया करता था और व्यंग्य से मुझे 'साधु' अथवा 'योगी' कहा करता था तथा प्राचीन ऋषियों की तरह मुझे जंगल में जाने की सलाह दिया करता था।

"दूसरा परिवर्तन मुझमें यह हुआ कि भोजन के सम्बन्ध में मेरी कोई रुचि-अरुचि नहीं रही। जो कुछ भी मेरे सम्मुख परोसा जाता, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट, अच्छा या बुरा, मैं उसे उदासीन भाव से निगल जाता।

"एक और परिवर्तन मुझमें यह हुआ कि मीनाक्षी के मन्दिर[१] के प्रति मेरी धारणा बदल गयी। पहले मैं मन्दिर में कभी-कभी मित्रों के साथ मूर्तियों का दर्शन करने और मस्तक पर पवित्र विभूति तथा सिन्दूर लगाने के लिए जाया करता था और बिना किसी आध्यात्मिक प्रभाव के मैं घर वापस आ जाया करता था। परन्तु जागरण के बाद मैं प्रायः हर सायंकाल वहाँ जाने लगा। मैं मन्दिर में अकेला जाया करता और शिव या मीनाक्षी या नटराज और त्रेसठ सन्तों की मूर्तियों के सामने अविचल भाव से खड़ा हो जाता। मेरे हृदय-सागर में भावना की तरंगें उठने लगतीं। जब आत्मा ने 'मैं शरीर हूँ' इस विचार का परित्याग कर दिया तो इसका शरीर पर से आधिपत्य जाता रहा। अब यह किसी नये आश्रय की तलाश करने लगी। मैं बार-बार मन्दिर जाने लगा और मेरी आत्मा द्रवित हो उठी। यह आत्मा के साथ भगवान् की लीला थी। मैं जगन्नियन्ता और सृष्टि के भाग्य-विधाता, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ईश्वर के सम्मुख खड़ा होता और कभी-कभी उससे उसकी कृपा के लिए प्रार्थना करता कि मेरी भक्ति में वृद्धि हो और वह त्रेसठ सन्तों की भक्ति की तरह शाश्वत बने। प्रायः मैं बिलकुल प्रार्थना नहीं करता था और अपने अन्तरतम की गहराइयों में विद्यमान अमृत-प्रवाह को अनन्त सत्ता की ओर प्रवाहित होने देता। मेरी आँखों से अश्रुओं की अजस्र धारा प्रवाहित होकर मेरी आत्मा को आप्लावित कर देती। यह किसी विशेष आनन्द या पीड़ा की सूचक नहीं थी। मैं निराशावादी नहीं था; मुझे जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं था और मैं यह भी नहीं जानता था कि यह दुःखों से भरा हुआ है। मैं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने या मुक्ति की प्राप्ति या आवेशशून्य होने की किसी इच्छा से प्रेरित नहीं हुआ था। मैंने पेरियापुराणम्, बाइबिल और तायुमनावर या तेवरम के कुछ अंशों के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ नहीं पढ़े थे। मेरी ईश्वर सम्बन्धी धारणा वही थी जो पुराणों में पायी जाती है। मैंने ब्रह्म, संसार और इसी प्रकार के अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में कभी नहीं सुना था। मुझे अभी तक यह

---

[१] **मदुरा का विख्यात मन्दिर।**

ज्ञात नहीं था कि प्रत्येक वस्तु में एक अवैयक्तिक यथार्थ सत्ता अनुस्यूत है और ईश्वर तथा मैं, दोनों इसके साथ एकरूप हैं। बाद में तिरुवन्नामलाई में जब मैंने ऋभु गीता और अन्य धार्मिक ग्रन्थ पढ़े, तब मुझे ज्ञात हुआ कि धार्मिक-ग्रन्थों में उस वस्तु का विश्लेषण और नामकरण है जिसे मैंने बिना विश्लेषण या नाम के स्फुरणात्मक रूप से अनुभव कर लिया था। धार्मिक ग्रन्थों की भाषा में जागरण के बाद की इस स्थिति को जिसमें मैं इस समय था, **शुद्ध मनस्** या **विज्ञान** या प्रकाश सम्पन्न की स्फुरणा कहते हैं।"

यह उस रहस्यवादी की स्थिति से नितान्त भिन्न था जो थोड़ी देर के लिए आनन्द की परम अवस्था में पहुँच जाता है, परन्तु फिर उसके चारों ओर अँधेरा छा जाता है। श्रीभगवान् पहले ही आत्म-तत्त्व के साथ निरन्तर एक-रूप थे और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इसके बाद उन्हें और आध्यात्मिक साधना नही करनी पड़ी। आत्म-तत्त्व में लीन होने के लिए उन्हें और प्रयास नहीं करना पड़ा क्योंकि उस 'अहं' का जिसके विरोध के कारण संघर्ष होता है, लोप हो चुका था और अब संघर्ष के लिए कोई वस्तु शेष नहीं बची थी। सामान्य बाह्य जीवन में, आत्म-तत्त्व के साथ निरन्तर एकरूपता और अपने सान्निध्य में आने वाले भक्तों पर कृपा-दृष्टि का भाव स्वाभाविक और अनायास हो गया। इस प्रगति के बावजूद श्रीभगवान् का कथन है कि उनकी आत्मा एक नये आश्रय की खोज कर रही थी। एक ओर सन्तों का अनुकरण और दूसरी ओर यह चिन्ता कि बड़े बुजुर्ग क्या कहेंगे—ये विचार श्रीभगवान् के जीवन में द्वित्व की व्यावहारिक स्वीकृति की ओर संकेत करते हैं, जिसका बाद में लोप हो गया। इस निरन्तर प्रक्रिया का एक शारीरिक संकेत भी था। जागरण के समय से लेकर तिरुवन्नामलाई के देवालय में संकेत भी था। जागरण के समय से लेकर तिरुवन्नामलाई के देवालय में प्रवेश तक श्रीभगवान् को शरीर में लगातार ज्वलन की अनुभूति होती थी।

तीसरा अध्याय

यात्रा

वेंकटरमण के जीवन में इस परिवर्तन के कारण संघर्ष उठ खड़ा हुआ। वह स्कूल के काम की अब पहले से भी अधिक उपेक्षा करने लगा। हालाँकि यह उपेक्षा अब खेल के लिए न होकर प्रार्थना और चिन्तन के लिए होती थी। वेंकटरमण के चाचा और उसके बड़े भाई उसकी कटु आलोचना करने लगे और उन्हें उसकी वृत्ति बिलकुल अव्यावहारिक दिखायी दी। उनकी दृष्टि में वेंकटरमण एक मध्यवर्गीय परिवार का किशोर पुत्र था जिसे धन कमाने और दूसरों की सहायता करने में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए थी।

जागरण के कोई दो महीने बाद २९ अगस्त को एक अभूतपूर्व घटना घटी। वेंकटरमण ने बेन के अंग्रेजी व्याकरण का एक अभ्यास याद नहीं किया था। दण्डस्वरूप उसे तीन बार यह अभ्यास लिखने के लिए कहा गया। वह दोपहर का समय था और वह ऊपर के कमरे में अपने बड़े भाई के साथ बैठा था। उसने दो बार तो यह अभ्यास लिख लिया, परन्तु जब वह तीसरी बार यह अभ्यास लिखने लगा, तो उसे इस कार्य की व्यर्थता इतने प्रबल रूप से प्रतीत हुई कि उसने कागज एक ओर हटा दिये और पालथी मारकर समाधिस्थ हो गया।

इस दृष्टि से विक्षुब्ध होकर नागास्वामी ने व्यंग्य से कहा, "ऐसे आदमी को इन सब चीजों से क्या लेना देना है ?" इसका अर्थ स्पष्ट था : जो व्यक्ति साधु की तरह जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसे पारिवारिक जीवन की सुख-सुविधाओं के उपभोग का कोई अधिकार नहीं है। वेंकटरमण के दिल को यह बात लग गयी और वह सत्य (या न्याय जो कि व्यावहारिक सत्य है) को कठोरतापूर्वक स्वीकार करने की अपनी चारित्रिक विशेषता के कारण तत्क्षण सब कुछ परित्याग करके घर छोड़ने के लिए तैयार हो गया। उसका विचार तिरुवन्नामलाई और अरुणाचल की पवित्र पहाड़ी की ओर प्रयाण करने का था।

वेंकटरमण यह अच्छी तरह जानता था कि उसे कौशल से काम लेना होगा, क्योंकि हिन्दू परिवारों में बड़ों का अनुशासन बहुत कड़ा होता है। अगर

उसके चाचा तथा भाई को इस रहस्य का पता चल गया तो वे उसे नहीं जाने देंगे। इसलिए उसने फिर स्कूल जाने और एक विशेष कक्षा में सम्मिलित होने का बहाना किया जिसमें विद्युत सम्बन्धी पाठ पढ़ाया जाता था।

जब वेंकटरमण बाहर जाने के लिए तैयार हुआ तब उसके भाई ने उससे कहा, "तुम स्कूल तो जा ही रहे हो; नीचे सन्दूक में से पाँच रुपये निकाल लो और रास्ते में मेरी कालेज की फीस देते जाना।" उसे यह पता नहीं था कि वह इस प्रकार अनजाने अपने भाई को यात्रा-व्यय दे रहा है।

ऐसी बात नहीं है कि वेंकटरमण के परिवार में आध्यात्मिक चेतना का अभाव था, जिसके कारण उसके परिवार के लोग उसकी उपलब्धि को नहीं पहचान सके। मन की आत्मोन्मुखी वृत्ति का दूसरों पर प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं। यह सामान्यतः मानव व्यक्तित्व में आत्मा के पारस्परिक प्रवाह को प्रेरित करती है और इससे वह दृश्य-शक्ति और दिव्य-ज्योति उत्पन्न होती है जो उनके सम्पर्क में आने वालों को अभिभूत कर लेती है। यह पारस्परिक प्रवाह अनिवार्य नहीं होता। गुप्त सन्त भी संसार में हुए हैं। अभी तक वेंकटरमण की आन्तरिक अवस्था के आभामय सौन्दर्य ने उसके मानव शरीर को परिव्याप्त नहीं किया था और इसका कुछ भी आभास नहीं था। जब कुछ साल बाद वेंकटरमण के स्कूल के एक साथी रंगा ऐय्यर ने उसे तिरुवन्नामलाई में देखा, तब वह उसके प्रति भक्ति और सम्मान की भावना से इतना अधिक अभिभूत हो उठा था कि वह उसके चरणों में गिर पड़ा था, परन्तु अब तो केवल वह अपने सामने अपने चिर-परिचित वेंकटरमण को ही देख रहा था। बाद में जब उसने इसका कारण पूछा तब श्रीभगवान् ने केवल यही उत्तर दिया था कि किसी ने भी उसके इस परिवर्तन को नहीं पहचाना था।

रंगा ऐय्यर ने यह भी प्रश्न किया, "तब आपने कम से कम मुझे यह क्यों नहीं बताया कि आप घर छोड़कर जा रहे हैं?"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हें कैसे बताता? मुझे स्वयं भी इसका पता नहीं था।"

वेंकटरमण की चाची नीचे के कमरे में थी। उसने उसे पाँच रुपये दिये और उसके आगे भोजन परोसा, जिसे वह जल्दी-जल्दी खा गया। घर में एक एटलस था, उसने इसे खोला और उसे यह पता चला कि तिरुवन्नामलाई के सबसे अधिक निकट का स्टेशन तिन्दीवनम है। वस्तुतः तिरुवन्नामलाई तक एक ब्रांच लाइन का पहले ही निर्माण हो चुका था, परन्तु एटलस पुराना था और उसमें यह लाइन नहीं दिखायी गयी थी। वेंकटरमण ने यह अन्दाजा लगाया कि यात्रा के लिए तीन रुपये पर्याप्त होंगे और केवल तीन ही रुपये

अपने पास रखे। उसने अपने भाई को एक पत्र लिखा कि वह कोई चिन्ता न करें और उसकी तलाश न करें। बचे हुए दो रुपये उसने पत्र के साथ ही रख दिये। पत्र इस प्रकार था :

"मैं अपने महान् पिता की आज्ञा के अनुसार, उसकी तलाश में चल पड़ा हूँ। एक पवित्र कार्य के लिए इसने घर से प्रयाण किया है, इसलिए इस कार्य से आप लोग चिन्तित न हों और इसकी तलाश में पैसा बर्बाद न करें। आपकी कालेज की फीस भी जमा नहीं करायी गयी। दो रुपये वापस भेजे जा रहे हैं।"

यह सारी घटना श्रीभगवान् के इस कथन को स्पष्ट करती है कि शरीर के बन्धन से ऊपर उठकर वह आत्म-तत्त्व में, जिसके साथ उन्होंने अपने को एकरूप कर दिया था, स्थायी आश्रय की खोज कर रहे थे। स्कूल की विद्युत-कक्षा में सम्मिलित होने का बहाना, हालाँकि इससे किसी को हानि नहीं पहुँची थी, बाद में सम्भव न होता। न ही तलाश का विचार सम्भव होता, क्योंकि जिसने पा लिया है वह खोज नहीं करता। जब भक्तगण श्रीभगवान् के चरणों में नतमस्तक हुए, वह परमपिता के साथ एकरूप थे और अब उन्हें उसकी तलाश नहीं थी। पत्र से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और भक्ति के मार्ग द्वारा उन्होंने तादात्म्य का परम आनन्द प्राप्त कर लिया था। पत्र 'मैं' और 'अपने महान् पिता' से प्रारम्भ होता है तथा इसमें आज्ञा और तलाश की ओर संकेत है, परन्तु दूसरे वाक्य में अब पत्र-लेखक की ओर से 'मैं' के रूप में निर्देश न होकर 'यह' के रूप में निर्देश है और अन्त में जब हस्ताक्षर करने का समय आया तब उसने अनुभव किया कि 'अहं' का लोप हो चुका है, हस्ताक्षर के लिए नाम शेष नहीं रहा और इसलिए हस्ताक्षर के स्थान पर डैश (—) से पत्र समाप्त हुआ। उन्होंने फिर कभी पत्र नहीं लिखा और न कभी अपने नाम के हस्ताक्षर किये हालाँकि केवल दो बार अपना पूर्व नाम लिखा था। एक बार, कुछ वर्ष बाद आश्रम में आने वाले एक चीनी दर्शक को श्रीभगवान् की पुस्तक 'Who Am I' की एक प्रति भेंट की गयी थी। चीनी दर्शक ने बड़े सौजन्यपूर्ण ढंग से श्रीभगवान् से पुस्तक पर हस्ताक्षर करने के लिए आग्रह किया था। श्रीभगवान् ने पुस्तक हाथ में ले ली और इस पर सृष्टि के कण-कण में व्याप्त आद्य ध्वनि 'ॐ' अंकित कर दी।

वेंकटरमण ने तीन रुपये ले लिये और बाकी दो वापस कर दिये। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि उसने तिरुवन्नामलाई की यात्रा के लिए जितनी धनराशि अपेक्षित थी, उससे अधिक नहीं ली। वही उसका शरण-स्थल

था, एक बार वहाँ पहुँच जाने पर धन या भरण-पोषण का प्रश्न ही नहीं उठता था।

उसने दोपहर के समय घर छोड़ा था। स्टेशन आधा मील दूर था। उसने तेजी से कदम बढ़ाये क्योंकि गाड़ी बारह बजे छूटती थी। हालाँकि उसे देर हो गयी थी, परन्तु जब वह स्टेशन पहुँचा, तो अभी तक गाड़ी नहीं आयी थी। स्टेशन पर रेल-भाड़े की एक सूची टंगी हुई थी। उसने सूची में देखा कि तिण्डीवनम् तक का तीसरे दरजे का किराया दो रुपये तेरह आने है। उसने टिकट खरीद लिया। उसके पास केवल तीन आने शेष रह गये। अगर उसने कुछ और नीचे तालिका में देखा होता तो उसे वहाँ तिरुवन्नामलाई का नाम भी दिखायी दे जाता और इस स्थान का किराया ठीक तीन रुपये था। यात्रा की घटनाएँ लक्षोन्मुख जिज्ञासु के सतत प्रयास की प्रतीक हैं। पहले तो भगवान् की यह कृपा हुई कि उसे यात्रा-व्यय के लिए धनराशि मिल गयी; दूसरे, यद्यपि वह घर से देर से चला था, उसे गाड़ी मिल गयी। पैसे भी उसके पास ठीक उतने ही थे, जितने उसे गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए चाहिए थे। परन्तु यात्री की बेपरवाही के कारण उसकी यात्रा लम्बी हो गयी और उसे मार्ग में अनेक कठिनाइयों और कष्टों का सामना करना पड़ा।

वेंकटरमण अपने आनन्द की तालाश में खोया हुआ यात्रियों में चुपचाप बैठा हुआ था। इस प्रकार कई स्टेशन गुजर गये। एक सफेद दाढ़ी वाले मौलवी साहब, जो सन्तों के जीवन और शिक्षाओं पर भाषण कर रहे थे, वेंकटरमण को सम्बोधित कर पूछने लगे :

"स्वामी, आप कहाँ जा रहे हैं ?"

"तिरुवन्नामलाई।"

"मैं भी वहीं जा रहा हूँ।" मौलवी ने जवाब दिया।

"क्या कहा ? आप तिरुवन्नामलाई जा रहे हैं !"

"तिरुवन्नामलाई तो नहीं, उससे एक स्टेशन आगे।"

"अगला स्टेशन कौन-सा है ?"

"तिरुकोइलूर।"

तब अपनी गलती महसूस करते हुए वेंकटरमण ने आश्चर्य से कहा, "तो क्या गाड़ी तिरुवन्नामलाई तक जाती है ?"

"तुम भी विचित्र यात्री हो ! तुमने कहाँ का टिकिट खरीदा है ?" मौलवी ने पूछा।

"तिण्डीवनम् का।"

"अरे भाई इतनी दूर जाने की जरूरत नहीं है। हम विल्लुपुरम् जंक्शन

पर उतर जायेंगे और वहाँ से तिरुवन्नामलाई और तिरुकोइलूर के लिए गाड़ी बदल लेंगे ।

भगवान् की असीम कृपा से वेंकटरमण को आवश्यक जानकारी मिल गयी थी; वह पुनः आत्मानन्द में लीन हो गया । सूर्यास्त होते-होते गाड़ी त्रिचनापल्ली पहुँच चुकी थी और उसे भूख सता रही थी । उसने दो पैसे की दो बड़ी-बड़ी नाशपातियाँ, जो दक्षिण के पहाड़ी इलाकों में होती हैं, खरीदीं । उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । नाशपाती के पहले ही टुकड़े को मुँह में डालने से उसकी भूख मिट-सी गयी, हालाँकि इससे पहले वह हमेशा भर पेट खाता रहा था । वह जाग्रत निद्रा की आनन्दमयी स्थिति में था कि प्रातःकाल तीन बजे गाड़ी विल्लुपुरम् पहुँची ।

वह दिन निकलने तक स्टेशन पर रहा और फिर कस्बे में तिरुवन्नामलाई जाने वाली सड़क की तलाश करता रहा । उसने शेष रास्ता पैदल जाने का निर्णय कर लिया था । किसी नामस्तम्भ पर तिरुवन्नामलाई का नाम उसे लिखा हुआ नहीं मिला और उसने पूछना पसन्द भी नहीं किया । इधर-उधर चलने के बाद जब वह बहुत थक गया और उसे भूख सताने लगी तो उसने एक होटल में प्रवेश किया और भोजन लाने के लिए कहा । होटल वाले ने उससे कहा कि भोजन दोपहर को तैयार होगा । इसलिए वह भोजन की प्रतीक्षा करने लगा और तत्काल ही चिन्तन में डूब गया । थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद भोजन आ गया और भोजन खाने के बाद उसने दो आने भोजन के मूल्य के रूप में दिये । परन्तु होटल वाला लम्बे बालों वाले, कानों में बालियाँ डाले तथा साधु की तरह बैठे हुए इस सुन्दर ब्राह्मण युवक से अवश्य प्रभावित हुआ होगा । उसने वेंकटरमण से पूछा कि उसके पास कुल कितने पैसे हैं । जब उसे पता चला कि उसके पास केवल ढाई आने हैं तो उसने पैसे लेने से इन्कार कर दिया । उसने वेंकटरमण को यह भी बताया कि नामस्तम्भ पर उसने जो मामबालापट्टू नाम देखा था, वह तिरुवन्नामलाई के रास्ते में है । इसके बाद वेंकटरमण वापस स्टेशन लौट आया और उसने मामबालापट्टू का टिकट खरीद लिया क्योंकि ढाई आने में वह इतनी दूर का टिकट ही खरीद सकता था ।

वह मध्याह्नोत्तर मामबालापट्टू पहुँचा और वहाँ से उसने पैदल चलना शुरू कर दिया । रात होने तक वह दस मील चल चुका था । उसके सामने एक महान् शिलाखण्ड पर बना हुआ अरयानीनल्लूर का मन्दिर था । इस लम्बी यात्रा से, जिसका अधिकांश भाग उसने दोपहर की गरमी में तय किया था, वह थककर चूर हो चुका था । विश्राम करने के लिए वह मन्दिर के पास बैठ गया । थोड़ी देर बाद एक व्यक्ति आया और उसने मन्दिर के पुजारी तथा अन्य लोगों के लिए पूजा के निमित्त मन्दिर खोल दिया । वेंकटरमण ने

मन्दिर में प्रवेश किया और वह स्तम्भों वाले विशाल कक्ष में बैठ गया, मन्दिर का केवल यही भाग ऐसा था जहाँ अभी पूरी तरह अँधेरा नहीं छाया था। उसने तत्काल एक उज्ज्वल प्रकाश देखा जो सारे मन्दिर को व्याप्त किये हुए था। यह सोचकर कि यह प्रकाश अन्दर के कमरे से भगवान् की मूर्ति से आ रहा है, वह मूर्ति के पास गया परन्तु वहाँ उसे ऐसा कुछ दिखायी नहीं दिया। न ही यह कोई भौतिक प्रकाश था। यह लुप्त हो गया और वह पुनः समाधिस्थ हो गया।

पर शीघ्र ही रसोइए के इस कथन से कि पूजा समाप्त हो गयी है और मन्दिर बन्द करने का समय हो गया है, उसका ध्यान भंग हो गया। इसके बाद उसने पुजारी से जाकर पूछा कि क्या कुछ खाने के लिए है। परन्तु उसे निषेधात्मक उत्तर मिला। उसने मन्दिर में प्रातःकाल तक ठहरने की आज्ञा माँगी परन्तु वह भी नहीं मिली। पुजारियों ने उससे कहा कि वे वहाँ से पौन मील दूर किलूर के मन्दिर पर पूजा करने जा रहे हैं, पूजा के बाद शायद उसे खाने के लिए कुछ मिल जाये। इसलिए वह उनके साथ हो लिया। ज्योंही उन्होंने मन्दिर में प्रवेश किया, वह पुनः समाधिस्थ हो गया। नौ बजे पूजा समाप्त हुई और वे सब खाने के लिए बैठ गये। वेंकटरमण ने फिर खाने के लिए पूछा। पहले ऐसा लगा था कि उसे खाने के लिए कुछ नहीं मिलेगा, परन्तु मन्दिर का ढोलकिया उसकी आकृति और श्रद्धापूर्ण व्यवहार से प्रभावित हो गया था; उसने अपना हिस्सा उसे दे दिया। उसे प्यास लगी, चावलों की पत्तल उसके हाथ में थी, उसे पास ही रहने वाले एक शास्त्री के घर का रास्ता दिखा दिया गया, जहाँ उसे पानी मिल सकता था। घर के सामने खड़ा हुआ जब वह पानी का इन्तजार कर रहा था तो उसके कदम डगमगा गये और वह नींद में अथवा बेहोश होकर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद जब उसे होश आया तव उसने देखा कि उसके चारों ओर कुछ लोग खड़े हैं और उत्सुकता-पूर्वक उसकी ओर देख रहे हैं। उसने पानी पिया, उठ खड़ा हुआ, बिखरे हुए थोड़े-से चावल खाये और फिर जमीन पर लेट गया और उसे नींद आ गयी।

अगले प्रातःकाल सोमवार ३१ अगस्त को गोकुलाष्टमी थी। यह श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव का दिन है और हिन्दुओं के लिए यह दिन अत्यन्त पवित्र माना जाता है। तिरुवन्नामलाई अब भी बीस मील दूर था। वेंकटरमण तिरुवन्नामलाई जाने वाली सड़क का पता लगाने के लिए कुछ देर चलता रहा और फिर उसे थकावट महसूस हुई और भूख लगने लगी। उस समय के अधिकांश ब्राह्मणों में प्रचलित प्राचीन रीति-रिवाजों के अनुसार, वह सोने की बालियाँ पहने हुए था और उसकी बालियाँ रत्नजटित थीं। उसने बालियाँ उतार लीं ताकि

उन्हें बेचकर उसे कुछ पैसा मिल जाय और वह शेष यात्रा गाड़ी से करे। परन्तु प्रश्न यह था कि वे बालियाँ कहाँ और किसके पास बेची जायँ। वह यों ही एक घर के सामने आकर रुक गया। यह घर किन्हीं मुथुकृष्णन भागावतार का था। उसने घर के सामने रुककर भोजन के लिए कहा। कृष्ण के जन्मोत्सव के दिन अपने द्वार पर एक सुन्दर और देदीप्यमान नेत्रों वाले तेजस्वी ब्राह्मण युवक को देखकर गृहिणी उससे अवश्य प्रभावित हुई होगी। उसने उसके सामने खाना परोसा और जिस तरह दो दिन पहले गाड़ी में पहला ग्रास ख़ाने के बाद उसकी भूख शान्त हो गयी थी, उसी तरह यहाँ भी हुआ। वह गृहिणी माता के समान उसके पास खड़ी रही और उसने बड़े स्नेह और आग्रह से उसे भोजन कराया।

अब बालियों का प्रश्न था। उनकी कीमत बीस रुपये के लगभग होगी, परन्तु उनके बदले में उसे केवल चार रुपये उधार चाहिए थे ताकि अगर रास्ते में कोई और व्यय हो तो उसकी पूर्ति हो सके। किसी प्रकार का सन्देह पैदा न हो, इसलिए उसने यह बहाना किया कि वह तीर्थ-यात्रा पर जा रहा है और उसका सामान खो गया है, अब उसके पास कुछ नहीं रहा। मुथुकृष्णन ने बालियों की परीक्षा की और यह जाँचने के बाद कि वे असली सोने की हैं, उसे चार रुपये दे दिये। उसने युवक का पता नोट कर लिया और अपना पता उसे दे दिया ताकि वह अपनी बालियाँ किसी भी समय छुड़ा सके। उस भद्र दम्पति ने दोपहर तक उसे अपने यहाँ टिकाया, उसे भोजन कराया और जो मिठाई उन्होंने श्रीकृष्ण की पूजा के लिए तैयार की थी, परन्तु जिसका अभी तक भोग नहीं लगा था, उसे एक बण्डल में बाँधकर दे दी।

जैसे ही वह उस घर से रवाना हुआ उसने पता फाड़ दिया क्योंकि उसका बालियाँ छुड़ाने का कोई इरादा नहीं था। जब उसे यह पता चला कि अगले प्रातःकाल तक कोई गाड़ी तिरुवन्नामलाई जाने वाली नहीं है, वह उस रात स्टेशन पर सो रहा। निर्धारित समय से पूर्व कोई व्यक्ति अपनी यात्रा समाप्त नहीं कर सकता। १ सितम्बर, १८९६ को प्रातःकाल, घर छोड़ने के तीन दिन बाद, वह तिरुवन्नामलाई स्टेशन पर पहुँचा।

जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाते हुए, हर्षोन्मत्त हृदय के साथ वह सीधे ही उस विशाल मन्दिर की ओर चल पड़ा। स्वागत के मौन संकेत के रूप में सेहन की तीन ऊँची दीवारों के दरवाजे और अन्य सभी दरवाजे, यहाँ तक कि अन्दर के देवालय के दरवाजे भी खुले थे। अन्दर और कोई नहीं था, इसलिए उसने अकेले ही अन्दर के मन्दिर में प्रवेश किया और अपने पिता अरुणा-चलेश्वर के सम्मुख भावाभिभूत हो खड़ा रहा। मिलन के परमानन्द में खोज पूर्ण हुई और यात्रा की समाप्ति हुई।

चौथा अध्याय

तपस्या

मन्दिर से आने के बाद वेंकटरमण क़स्बे में इधर-उधर घूमने लगा । किसी ने उससे पूछा कि क्या वह अपना सिर मुँडवायेगा । यह सवाल इसलिए पैदा हुआ होगा क्योंकि इस बात का कोई बाह्य चिह्न नहीं था कि इस ब्राह्मण युवक ने संसार का परित्याग कर दिया है या उसका संसार का परित्याग करने का इरादा है । वह तत्काल सिर मुँडवाने के लिए राजी हो गया और उसे अय्यानकुलम सरोवर पर ले जाया गया जहाँ कई नाई हजामत का धन्धा करते थे । वहाँ उसने अपना सिर मुँडवा दिया । फिर सरोवर की सीढ़ियों पर खड़े होकर उसने अपनी शेष धनराशि जो तीन रुपये से कुछ अधिक थी, दूर फेंक दी । इसके बाद उसने फिर कभी धन का स्पर्श नहीं किया । उसने मिठाइयों की पोटली भी, जिसे वह पकड़े हुए था, दूर फेंक दी । "इस शरीर को मिठाई देने की क्या आवश्यकता है ?"

उसने ब्राह्मण जाति के चिह्नरूप यज्ञोपवीत को उतारा और इसे दूर फेंक दिया क्योंकि जो व्यक्ति संसार का परित्याग करता है वह न केवल गृह और सम्पत्ति का परित्याग करता है बल्कि अपनी जाति और सभी नागरिक मान-प्रतिष्ठा का भी परित्याग कर देता है ।

तब उसने अपनी धोती उतारी, इसमें से एक टुकड़ा लँगोटी के लिए फाड़ लिया और शेष दूर फेंक दिया ।

संसार-परित्याग की क्रियाएँ पूर्ण करने के बाद वह मन्दिर में वापस आया । जैसे ही वह मन्दिर के पास पहुँचा, उसके मन में यह विचार आया कि धर्मशास्त्रों के आदेशानुसार बाल कटवाने के बाद व्यक्ति को स्नान करना चाहिए, परन्तु उसने अपने मन में कहा, "इस शरीर को स्नान का सुख क्यों प्रदान किया जाये ?" तत्काल ही थोड़ी देर के लिए तेज वर्षा की बौछार आयी और इस प्रकार मन्दिर-प्रवेश से पूर्व उसका स्नान पूर्ण हो गया ।

उसने पुनः अन्दर के देवालय में प्रवेश नहीं किया । इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं थी । वस्तुतः तीन वर्ष बाद उसने पुनः वहाँ प्रवेश किया । उसने सहस्र खम्भों वाले महाकक्ष में, पत्थर की ऊँची उठी हुई जगह पर अपना आसन जमा लिया । यह जगह चारों ओर से खुली थी, इसकी छत नक्काशी

किये हुए स्तम्भों पर टिकी थी। वहाँ वह आत्मविभोर होकर बैठा रहा। लगातार कई दिन और रात वह बिना हिले बैठा रहा। अब उसे संसार की कोई आवश्यकता नहीं थी। परमसत्ता में लीन वेंकटरमण को इस छायारूप विश्व में कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। कई सप्ताह तक बिना हिले और बिना कुछ बोले वह इसी अवस्था में बैठा रहा।

आत्म-साक्षात्कार के बाद जीवन की दूसरी अवस्था प्रारम्भ हुई। पहली अवस्था में उस ऐश्वर्य को छुपाये रखा और अपने शिक्षकों तथा बुजुर्गों के प्रति आज्ञाकारिता की भावना के साथ, जीवन की वर्तमान परिस्थितियों को स्वीकार कर लिया था। दूसरी अवस्था में बाह्य संसार की पूर्ण उपेक्षा करते हुए वह अन्तर्मुख हुआ और यह अवस्था धीरे-धीरे तीसरी अवस्था में परिणित हो गयी जो कि आधी शताब्दी तक रही। इस अवधि में मध्याह्नकालीन सूर्य के समान उन्होंने उन सबको प्रकाशित किया जो उनकी शरण में आये। ये अवस्थाएँ उनकी मानसिक स्थिति की बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र थीं; उन्होंने अनेक बार स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि उनके चैतन्य की अवस्था या आध्यात्मिक अनुभव में कोई परिवर्तन या विकास बिलकुल नहीं हुआ था।

शेषाद्रिस्वामी नाम के एक साधु कुछ वर्ष पूर्व तिरुवन्नामलाई में आये थे। उन्होंने ब्राह्मणस्वामी—जिस नाम से वेंकटरमण उस समय विख्यात थे—की देखभाल का काम अपने जिम्मे ले लिया। इससे सर्वथा लाभ हुआ हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दूसरे लोग शेषाद्रि को थोड़ा विक्षिप्त समझते थे और यही कारण है कि स्कूल के लड़के उसे तंग किया करते थे। उन्होंने अब उसके आश्रित, जिसे वे 'छोटा शेषाद्रि' कहते थे, को छेड़ना प्रारम्भ किया। उन्होंने उस पर पत्थर फेंकने शुरू किये, कुछ ने तो बालोचित निर्दयता के कारण और कुछ ने इस कारण कि उन्हें यह देखकर बहुत कुतूहल हुआ कि एक व्यक्ति जिसकी आयु उनसे बहुत अधिक नहीं थी, बुत की तरह बैठा हुआ था। एक लड़के ने जैसा कि बाद में बताया, वे उस पर इसलिए पत्थर फेंक रहे थे क्योंकि वे यह जानना चाहते थे कि वह असली स्वामी है या नकली।

शेषाद्रिस्वामी बच्चों को दूर रखने की कोशिश किया करते थे, परन्तु उन्हें बहुत सफलता नहीं मिली। कई बार तो इसका उल्टा असर होता था। इसलिए ब्राह्मणस्वामी ने पाताललिंगम् में शरण ली। यह लिगंम सहस्र स्तम्भों वाले महाकक्ष में अँधेरा और सीलन से भरा एक तहखाना था जहाँ सूर्य की किरणें प्रवेश नहीं कर पाती थीं। मानव-प्राणी तो कदाचित ही इस स्थान में प्रवेश करते थे, केवल कीड़ों और मच्छरों की वहाँ बहुतायत थी। वे उनकी जाँघों से चिपट गये, उनमें जख्म हो गये, तथा उनसे खून और पीप बहने लगा। जख्मों के निशान जीवनपर्यन्त बने रहे। उन्होंने जो कुछ सप्ताह

वहाँ गुजारे, वे नरक-तुल्य थे, परन्तु ब्राह्मणस्वामी परमानन्द में मग्न थे, उन पर इस पीड़ा का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा, यह उनके लिए सर्वथा अवास्तविक थी। एक श्रद्धालु महिला रतनाम्मल ने उन्हें भोजन पहुँचाने के लिए तहखाने में प्रवेश किया और उनसे प्रार्थना की कि वे वह स्थान छोड़कर उसके घर आ जायें, परन्तु इस विनती का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उन्होंने इसे अनसुना कर दिया। वह एक साफ कपड़ा वहाँ छोड़ गयी और उसने उनसे प्रार्थना की कि वह उस पर बैठें या लेटें या उससे कीड़ों को हटायें परन्तु उन्होंने उस कपड़े का स्पर्श तक नहीं किया।

उन शरारती लड़कों को अँधेरे तहखाने में जाने से डर लगता था इसलिए वे इसके प्रवेश-द्वार पर पत्थर या टूटे-फूटे बर्तन फेंकते थे और ये उससे टकरा कर दूर जा पड़ते थे। शेषाद्रिस्वामी रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गये परन्तु इससे केवल लड़कों को शरारत करने का और बढ़ावा मिला। एक दिन दोपहर को वेंकटाचल मुदाली नामक एक व्यक्ति सहस्र स्तम्भों वाले महाकक्ष में आये और उन्हें लड़कों को मन्दिर के निकट पत्थर फेंकते हुए देखकर उन पर बहुत क्रोध आया। उन्होंने एक छड़ी ली और लड़कों को दूर भगा दिया। वापस आने पर उन्होंने शेषाद्रिस्वामी को महाकक्ष के अँधेरे तहखाने में से बाहर निकलते हुए देखा। एक क्षण के लिए वह स्तम्भित हो गये, परन्तु जल्दी ही सँभल गये और उन्होंने शेषाद्रि से पूछा कि कहीं उन्हें चोट तो नहीं लगी। शेषाद्रि ने उत्तर दिया, "नहीं, परन्तु आप अन्दर जाइए और छोटे स्वामी की देखभाल कीजिए," और यह कहकर वे चले गये।

आश्चर्यचकित मुदाली ने तहखाने की सीढ़ियों पर पैर रखे। प्रकाश से अँधेरे में पहुँचने पर पहले-पहल तो उन्हें कुछ दिखायी नहीं दिया परन्तु धीरे-धीरे उनकी आँखें इसकी अभ्यस्त हो गयीं और उन्हें छोटे स्वामी दिखायी देने लगे। जो कुछ उन्होंने तहखाने में देखा उससे मुदाली स्तब्ध रह गये और उन्होंने बाहर आकर एक साधु से, जो निकट ही फूलों के बगीचे में अपने कुछ शिष्यों के साथ काम कर रहा था, यह सब कथा कह सुनायी। वह भी देखने के लिए अन्दर आये। छोटे स्वामी न हिले, न कुछ बोले। उन्हें उन सबकी उपस्थिति का भान ही नहीं हुआ। इसलिए उन लोगों ने उन्हें उठा लिया और उन्हें बाहर ले आये। उन्होंने उनको सुब्रह्मण्यम् के देवालय के सामने रख दिया, उस समय तक वह बेसुध थे।[१]

---

१ **श्रीभगवान् की तपोभूमि होने के कारण पातालिंगम् का पुनरुद्धार किया गया है। अब इस स्थान को ठीक ढंग से रखा जाता है। यहाँ बिजली की रोशनी का प्रबन्ध किया गया है और श्रीभगवान् का एक चित्र रखा गया है।**

लगभग दो मास तक ब्राह्मणस्वामी सुब्रह्मण्यम् देवालय में ठहरे। वह निश्चल अवस्था में समाधिस्थ होकर बैठ जाते और कई बार भोजन भी उनके मुख में डालना पड़ता क्योंकि उन्हें तो भोजन की जरा भी चिन्ता नहीं थी। कई सप्ताह तक तो उन्होंने लँगोटी बाँधने की चिन्ता भी नहीं की। देवालय में एक मौनीस्वामी रहा करते थे। वही उनकी देखभाल किया करते थे।

मन्दिर में उमा की प्रतिमा को प्रतिदिन दूध, पानी, हल्दी, खाँड, केले तथा अन्य पदार्थों के मिश्रण से स्नान कराया जाता था और मौनीस्वामी इस विचित्र मिश्रण का गिलास भरकर प्रतिदिन छोटे स्वामी के लिए ले जाते थे। वह इस मिश्रण की गन्ध और स्वाद की चिन्ता किये बिना इसे निगल जाते थे, केवल यही उनकी खुराक थी। कुछ समय बाद मन्दिर के पुजारी ने इसे देख लिया और उसने ब्राह्मणस्वामी के लिए मौनीस्वामी को प्रतिदिन शुद्ध दूध देने की व्यवस्था कर दी।

कुछ सप्ताह बाद ब्राह्मणस्वामी देवालय के उद्यान में चले गये, जो लम्बी-लम्बी करवीर की झाड़ियों से भरा हुआ था; कई झाड़ियाँ तो दस-बारह फुट ऊँची थीं। यहाँ भी वे परमानन्द में लीन हो बैठे रहते थे। परमानन्द की इस अवस्था में वह चलने भी लगते थे क्योंकि जब उन्हें होश आता, वह अपने को किसी और ही झाड़ी के नीचे पाते, उन्हें यह बिलकुल स्मरण ही नहीं रहता था कि वह वहाँ किस प्रकार पहुँच गये। इसके बाद वह मन्दिर की गाड़ियों वाले महाकक्ष में रहने लगे। इन गाड़ियों पर धार्मिक समारोहों के अवसर पर देव-प्रतिमाओं का जुलूस निकाला जाता था। यहाँ भी जब कभी उन्हें होश आता, वह अपने को भिन्न स्थान पर पाते और यह देखते कि मार्ग की विभिन्न बाधाओं को उन्होंने बिना अपने शरीर को क्षति पहुँचाये, अनजाने ही पार कर लिया है।

इसके बाद वह कुछ समय के लिए सड़क के किनारे स्थित एक वृक्ष के नीचे बैठे। यह सड़क मन्दिर की बाहरी दीवार के अन्दर इसके अहाते के चारों ओर है और मन्दिर के जुलूसों के लिए इसका उपयोग किया जाता है। वह कुछ समय के लिए यहाँ और मंगाई पिल्लामार देवालय में ठहरे। प्रतिवर्ष सहस्रों तीर्थयात्री नवम्बर या दिसम्बर में पड़ने वाले कार्त्तिकेय के समारोह में भाग लेते हैं। इस अवसर पर जैसा कि छठे अध्याय में बताया गया है, शिव के प्रकाश-स्तम्भ के रूप में आविर्भाव की स्मृतिस्वरूप अरुणाचल के शिखर पर प्रकाश किया जाता है। इस वर्ष बहुत-से तीर्थयात्री तरुणस्वामी के दर्शनों या उनके सम्मुख साष्टांग प्रणाम करने के लिए आये। इसी अवसर पर उनके एक सर्वप्रथम भक्त नियमित रूप से उनकी सेवा में रहने लगे। उद्दण्डी नयीनार

ने आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था परन्तु उन्हें इससे आध्यात्मिक शान्ति नहीं मिली थी। तरुणस्वामी को निरन्तर समाधि में लीन और अपने शरीर के प्रति सर्वथा उदासीन देखकर उन्होंने अनुभव किया कि तरुणस्वामी ने साक्षात्कार कर लिया है और उन्हीं के द्वारा उन्हें शान्ति मिलेगी। स्वामी की सेवा से उन्हें प्रसन्नता होती थी, परन्तु वह उनके लिए कुछ अधिक सेवा-कार्य नहीं कर पाते थे। वह दर्शकों को उनके निकट नहीं आने देते थे और लड़कों को स्वामी पर अत्याचार नहीं करने देते थे। उनका अधिकांश समय अद्वैत के परम सिद्धान्त के प्रतिपादक तमिल-ग्रन्थों के उच्च स्वर से अध्ययन में व्यतीत होता था। वह स्वामीजी से आध्यात्मिक उपदेश ग्रहण करने के लिए अत्यन्त लालायित थे, परन्तु स्वामीजी उनके साथ कभी नहीं बोले और वह स्वयं पहले बोलकर स्वामीजी का मौन भंग नहीं करना चाहते थे।

इस समय के लगभग, अन्नामलाई ताम्बीराम नामक एक व्यक्ति उस वृक्ष के पास से गुजरे जहाँ तरुणस्वामी बैठे हुए थे। वह मौनभाव से निश्चित बैठे हुए स्वामी के दिव्य सौन्दर्य से इतने अधिक प्रभावित हुए कि यकायक उनका मस्तक नत हो गया और इसके बाद वह प्रतिदिन उनके चरणों में नमस्कार करने के लिए जाने लगे। वह एक साधु थे जो अपने साथियों के साथ भक्तिगीत गाते हुए नगर में से गुजरा करते थे। जो कुछ उन्हें दान में खाने को मिलता, वह उसे गरीबों में बाँट देते और नगर के बाहर स्थित अपने आधीन गुरु (गुरुओं के वंश के आदि प्रवर्तक) की समाधि पर जाकर पूजा किया करते।

कुछ समय बाद उनके मन में विचार आया कि गुरुमूर्त्तम् पर जैसा कि उस देवालय का नाम विख्यात था, तरुणस्वामी की साधना में कम बाधा पड़ेगी और शीतऋतु के कारण उन्हें यहाँ अच्छा आश्रय मिलेगा। उन्हें यह सुझाव देने में पहले कुछ संकोच हुआ। इसलिए उन्होंने पहले इस विषय में नयीनार के साथ बात की क्योंकि उनमें से किसी ने भी कभी स्वामी के साथ बात नहीं की थी। अन्त में उसने सुझाव देने के लिए साहस बटोरा। स्वामी मान गये और फरवरी १८९७ में, तिरुवन्नामलाई में उनके आगमन को अभी ६ महीने भी नहीं हुए थे कि वह अन्नामलाई ताम्बीराम के साथ गुरुमूर्त्तम् पर चले गये।

वहाँ पहुँचने के बाद उनकी जीवन-पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। देवालय का फर्श चींटियों से भरा हुआ था, परन्तु स्वामी ने अपने शरीर पर चींटियों के रेंगने और काटने की तनिक भी चिन्ता नहीं की। कुछ समय बाद एक कोने में उनके बैठने के लिए स्टूल रख दिया गया और चींटियों से दूर

रखने के लिए इसके पाये पानी में डुबा दिये गये। स्वामी दीवार का सहारा लेकर बैठते थे इसलिए चींटियाँ उनके शरीर पर पुनः चढ़ आती थीं। वहाँ निरन्तर बैठने से, दीवार पर उनकी पीठ का स्थायी निशान बन गया।

गुरुमूर्त्तम् पर तीर्थ-यात्रियों और दर्शकों का ताँता लग गया और अनेक व्यक्ति आकर स्वामी के सम्मुख साष्टांग प्रणाम करने लगे। कई उनके पास अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करने आते और कई विशुद्ध श्रद्धा-भाव से उनके पास आते। लोगों की भीड़ इतनी अधिक हो गयी कि उनकी पीठिका के चारों ओर बाँसों का एक घेरा बनाना आवश्यक हो गया ताकि लोगों को स्वामी का स्पर्श करने से रोका जा सके।

पहले ताम्बीराम अपने गुरु के मन्दिर पर चढ़ाये गये चढ़ावे में से स्वामी के लिए आवश्यक स्वल्प भोजन दे दिया करते थे, परन्तु वह शीघ्र ही तिरुवन्नामलाई से चले गये। वह नयीनार से कह गये कि वह एक सप्ताह में वापस आ जायेंगे, परन्तु वह एक साल से भी अधिक समय बाहर रहे। कुछ सप्ताह बाद नयीनार को भी अपने मठ में जाना पड़ा और स्वामी के पास उनकी देखभाल करने वाला कोई भी नहीं रहा। भोजन के सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं थी। अब तक स्वामी के कई ऐसे भक्त बन चुके थे जो उनके लिए नियमपूर्वक भोजन देना चाहते थे। अधिक आवश्यकता तो दर्शकों की भीड़ को परे रखने की थी।

शीघ्र ही एक और नियमित सेवक स्वामीजी की सेवा में आ गये। पलानीस्वामी नामक एक मलयाली साधु ने भगवान् विनायक की पूजा में अपना जीवन समर्पित कर दिया था। वह कठोर तपस्या का जीवन बिता रहे थे; दिन में केवल एक बार खाना खाते थे और वह भी पूजा में भगवान् को समर्पित चढ़ावे में से, स्वाद के लिए भोजन में वह नमक तक नहीं मिलाते थे। उनके एक मित्र, जिनका नाम श्रीनिवास ऐय्यर था, ने एक दिन उनसे कहा, "आप इस पत्थर के स्वामी के चरणों में जीवन क्यों बिता रहे हो? गुरुमूर्त्तम् पर एक तरुणस्वामी रहते हैं। वह पुराणों में वर्णित ध्रुव के समान तपस्या में लीन हैं। अगर आप उनके चरणों में जायें और उनकी सेवा में अपने को अर्पित कर दें तो आपका जीवन धन्य हो जाये।"

इसी समय दूसरे व्यक्तियों ने भी उन मलयाली साधु से तरुणस्वामी की चर्चा की और कहा कि उनके पास कोई सेवक नहीं है और उनकी सेवा से बढ़कर और बड़ा वरदान क्या हो सकता है। मलयाली साधु गुरुमूर्त्तम् पर स्वामी के दर्शनों के लिए गये। उनके दर्शन मात्र से ही वह भावविभोर हो उठे। कुछ समय तक कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर उन्होंने विनायक के

मन्दिर में अपनी पूजा जारी रखी, परन्तु उनका हृदय तो स्वामी के चरणों में था और शीघ्र ही वे उनकी भक्ति में तन्मय हो गये। इक्कीस वर्ष तक वह स्वामी की सेवा में रहे।

वह स्वामीजी की कोई विशेष सेवा नहीं कर सकते थे। भक्तजन उन्हें भेंट में भोज्य-पदार्थ दे जाते थे परन्तु स्वामी प्रतिदिन दोपहर को भोजन का केवल एक प्याला स्वीकार करते थे, शेष भोज्य-पदार्थ भक्तों में प्रसाद के रूप में बाँट दिये जाते थे। अगर उन्हें किसी काम के लिए शहर जाना होता था—प्रायः किसी मित्र से कोई आध्यात्मिक या भक्ति सम्बन्धी पुस्तक लेने के लिए—तो वह मन्दिर को ताला लगा जाते और वापस आकर देखते कि वह स्वामी को जिस स्थिति में छोड़ गये थे, उसी स्थिति में वह बैठे हैं।

स्वामी अपने शरीर के प्रति बिलकुल उदासीन थे। उन्होंने इसकी पूर्णतः उपेक्षा कर दी थी। वह स्नान नहीं करते थे, उनके बाल बढ़ गये थे और उन्होंने जटाओं का रूप धारण कर लिया था, उनके हाथों के नाखून बहुत लम्बे हो गये थे और वे मुड़ गये थे। कुछ ने इसे बड़ी आयु का चिह्न समझा और वे आपस में कानाफूसी करने लगे कि उन्होंने यौगिक सिद्धियों के माध्यम से अपने शरीर के यौवन को बनाये रखा है। वास्तव में उनका शरीर बहुत कृश हो गया था। जब उन्हें बाहर जाने की जरूरत होती, तो वह बड़ी मुश्किल से खड़े हो पाते थे। वह उठने की कोशिश करते, परन्तु फिर गिर पड़ते, दुर्बलता के कारण उन्हें चक्कर आने लगते, अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए उन्हें कई बार कोशिश करनी पड़ती। एक बार वह दरवाजे तक पहुँच गये और दोनों हाथों से उसे पकड़े हुए थे कि उन्होंने देखा पलानीस्वामी उन्हें सहारा दिये हुए हैं। कभी किसी की सहायता लेना वह पसन्द नहीं करते थे, उन्होंने कहा, "आप मुझे क्यों पकड़े हुए हैं ?" और पलानीस्वामी ने उत्तर दिया, "स्वामी गिरने ही वाले थे और मैंने गिरने से रोकने के लिए आपको सहारा दिया है।"

जिस व्यक्ति ने दिव्य-सत्ता के साथ एकता प्राप्त कर ली है, कई बार उसकी देव-प्रतिमा की तरह कर्पूर-प्रज्वलन, चन्दन-लेप, पुष्पोपहार, तर्पण और वेद-मन्त्रोच्चारण के साथ पूजा की जाती है। जब ताम्बीराम गुरुमूर्त्तम् में थे तब उन्होंने इस तरीके से स्वामी की पूजा करने का निर्णय किया। पहले दिन स्वामी सहसा उनके चक्कर में आ गये और उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता मिल गयी, परन्तु अगले दिन जब ताम्बीराम अपना दैनिक भोजन का प्याला लिये हुए आये, उन्होंने स्वामी की दीवार के ऊपर तमिल में कोयले से लिखे हुए ये शब्द देखे, 'इसके लिए यही सेवा पर्याप्त है' जिसका अभिप्राय

यह था कि इस शरीर के लिए जो भोजन दिया जाता है, वही केवल पर्याप्त है ।

भक्तों को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि स्वामी को लौकिक शिक्षा भी मिली थी और वह पढ़ तथा लिख सकते थे । अब स्वामी के दर्शनों के लिए आने वाले एक व्यक्ति ने उनके जन्म-स्थान और नाम के सम्बन्ध में पता लगाने का निश्चय किया । वे एक बुजुर्ग व्यक्ति थे, वेंकटराम ऐय्यर उनका नाम था और शहर के तालुक कार्यालय में वह मुख्य लेखपाल थे । वह प्रातःकाल प्रतिदिन वहाँ आया करते थे और काम पर जाने से पहले स्वामी की उपस्थिति में कुछ देर तक ध्यानावस्थित होकर बैठा करते थे । मौन की प्रतिज्ञा का सभी सम्मान करते हैं और स्वामी के न बोलने के कारण लोग यह समझते थे कि स्वामी ने मौन व्रत धारण कर रखा है । परन्तु जो व्यक्ति प्रायः नहीं बोलता वह लिखकर बात करता है । अब जब वेंकटराम ऐय्यर को इस बात का पता चल गया कि स्वामी लिख सकते हैं तो उन्होंने उनका जन्म-स्थान और नाम जानने का संकल्प कर लिया । उन्होंने उनके सामने पलानीस्वामी द्वारा लायी गयी पुस्तक पर कागज-पेन्सिल लाकर रखा और स्वामी से अपना नाम तथा जन्म-स्थान लिखने की प्रार्थना की ।

स्वामी ने वेंकटराम की प्रार्थना का तब तक कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया जब तक उन्होंने यह घोषणा नहीं कर दी कि वांछित सूचना प्राप्त किये बिना न तो वह खाना खायेंगे और न दफ्तर जायेंगे । तब स्वामी ने अंग्रेजी में लिखा, 'वेंकटरमण, तिरुचुजही' । स्वामी के अंग्रेजी जानने से लोगों को और आश्चर्य हुआ परन्तु वेंकटराम 'तिरुचुजही' शब्द से अचम्भे में पड़ गये ।

स्वामी ने उस पुस्तक को जिस पर कागज रखा हुआ था, यह जानने के लिए उठाया कि क्या यह तमिल में है । यह पुस्तक पेरियापुराणम् थी, जिसका उन पर आध्यात्मिक जागरण से पहले बहुत प्रभाव पड़ा था । उन्होंने पुस्तक में वह स्थल ढूँढ़ा, जहाँ तिरुचुजही का एक नगर के रूप में वर्णन किया गया है और सुन्दरमूर्तिस्वामी ने इसकी प्रशस्ति में गीत गाया है । स्वामी ने यह स्थल वेंकटराम ऐय्यर को दिखाया ।

मई १८९८ में, स्वामी को गुरुमूर्त्तम् में रहते हुए एक साल से ऊपर हो चुका था, वह पास के एक आम के बगीचे में निवास के लिए चले गये । इसके मालिक वेंकटराम नायकर ने पलानीस्वामी के आगे स्थान-परिवर्तन का यह सुझाव रखा था क्योंकि बगीचे में ताला लगाया जा सकता था और स्वामी एकान्तवास का लाभ उठा सकते थे । स्वामी और पलानीस्वामी ने चौकीदार की कुटिया में अपना डेरा जमाया । बगीचे के स्वामी ने माली को यह आदेश

दे दिया कि पलानीस्वामी की आज्ञा के बिना किसी को बगीचे में प्रवेश करने की अनुमति न दी जाय।

स्वामी यहाँ छह महीने रहे और यहीं उन्होंने अगाध ज्ञान प्राप्त किया। ज्ञान लाभ की किसी इच्छा के कारण ऐसा नहीं हुआ, अपितु यह ज्ञानार्जन एक भक्त की सहायता करने की शुद्ध इच्छा के कारण हुआ। पलानीस्वामी आध्यात्मिक दर्शन के ग्रन्थ अध्ययन करने के लिए लाया करते थे, परन्तु जिन ग्रन्थों तक उनकी पहुँच थी, वे तमिल में थे, जिसका उन्हें बहुत कम ज्ञान था और इसलिए उन्हें उन ग्रन्थों को समझने के लिए घोर श्रम करना पड़ता था। इस प्रकार उन्हें कठोर श्रम करते हुए देखकर स्वामी ने उन ग्रन्थों का पूर्ण पारायण किया और उनकी शिक्षा का संक्षिप्त सार पलानीस्वामी के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। अपने पूर्व आध्यात्मिक ज्ञान के कारण वह एक ही दृष्टि में ग्रन्थ के गूढ़ तथ्यों को समझ जाते थे और अपनी आश्चर्यजनक स्मरण-शक्ति के कारण वह जो कुछ पढ़ते थे, उन्हें कण्ठस्थ हो जाता था, इसलिए वह बिना किसी प्रयास के पण्डित बन गये। इसी प्रकार उन्होंने बाद में संस्कृत, तेलुगु और मलयालम में लिखी हुई पुस्तकों के अध्ययन से और इन भाषाओं में प्रश्नों के उत्तर देकर उपरोक्त भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया।

पाँचवाँ अध्याय

वापसी का प्रश्न

जब तरुण वेंकटरमण ने घर छोड़ा, तब सारा परिवार अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गया। उसके बदले हुए रंग-ढंग और परिवार की भवितव्यता के बावजूद किसी ने इस सम्बन्ध में कल्पना तक न की थी। तलाश और पूछताछ निष्फल सिद्ध हुई। उसकी माँ, जो उस समय मानमदुरा में अपने सम्बन्धियों के यहाँ ठहरी हुई थी, सबसे अधिक दुखी हुई। उसने अपने देवरों सुब्बियर और नेल्लियाप्पियर से वेंकटरमण की तलाश में बाहर जाने की प्रार्थना की। ऐसी अफवाह सुनी गयी कि वेंकटरमण एक नाटक कम्पनी में शामिल हो गया है जो त्रिवेन्द्रम में परम्परागत धार्मिक नाटक दिखा रही है। नेल्लियाप्पियर तुरन्त वहाँ गये और उन्होंने कई नाटक कम्पनियों से पूछताछ की, परन्तु परिणाम कोई न निकला। परन्तु अलगम्माल कहाँ हार मानने वाली थी। उसने दूसरी बार उससे जाने का आग्रह किया और कहा कि वह उसे भी अपने साथ ले चले। त्रिवेन्द्रम में उसने वेंकटरमण की आयु और कद के तथा उसके जैसे बालों वाले एक युवक को देखा, जिसने उसे देखते ही मुँह मोड़ लिया और दूर चला गया। उसे पूरा विश्वास हो गया कि यह उसका वेंकटरमण ही था और वह उससे दूर भाग रहा था। वह अत्यन्त निराश होकर घर वापस लौट आयी।

वेंकटरमण के चाचा सुब्बियर का, जिनके पास वह मदुरा में ठहरा था, अगस्त १८९८ में देहान्त हो गया। नेल्लियाप्पियर और उनका परिवार मृत्यु-संस्कार में सम्मिलित होने गये और वहाँ उन्हें पहली बार वेंकटरमण के गुम होने का समाचार मिला। मृत्यु-संस्कार में सम्मिलित होने वाले एक युवक ने उन्हें बताया कि जब वह हाल ही में मदुरा के एक मठ में गया, तो वहाँ उसने अन्नामलाई ताम्बीराम नामक एक व्यक्ति को भक्तिभावपूर्वक तिरुवन्नामलाई के एक तरुणस्वामी की चर्चा करते हुए सुना था। यह जानने के पश्चात कि स्वामी तिरुचुजही के रहने वाले हैं, उसने उनके सम्बन्ध में विस्तार से पूछा था। उसे यह ज्ञात हुआ कि उनका नाम वेंकटरमण है। उसने निष्कर्ष रूप में कहा, "यह जरूर आपका वेंकटरमण होगा और अब वह एक सम्मानित स्वामी है।"

नेल्लियाप्पियर मानमदुरा में दूसरे दरजे के वकील थे। इसलिए जहाँ तक जरूदत पड़ने पर छुट्टी लेने का सवाल था, वह अपने मालिक स्वयं थे। यह समाचार सुनते ही वह एकदम एक मित्र के साथ इस समाचार की सत्यता जानने के लिए तिरुवन्नामलाई के लिए रवाना हो गये। वह स्वामी के पास गये। स्वामी आमों के बगीचे में ठहरे हुए थे और इस बगीचे के मालिक वेंकटराम नायकर ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया, "वह मौनी है। आप अन्दर जाकर उसकी तपस्या में विघ्न क्यों डालते हो ?" जब उन्होंने यह कहा कि वह स्वामी के सम्बन्धी हैं, तो उसने उनसे कहा कि वह अधिक से अधिक यह कर सकता है कि वह स्वामी को एक पत्र लिखकर भेज दें। नेल्लियाप्पियर ने कागज के एक टुकड़े पर लिखा, "मानमदुरा का वकील नेल्लियाप्पियर आपसे मिलना चाहता है।"

लौकिक-व्यवहारों के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि के साथ-साथ स्वामी उनके प्रति पूर्णतः आसक्त थे और इसी कारण उनके अनेक भक्तजन विस्मय में पड़ जाते थे। उन्होंने देखा कि जिस कागज पर उनके चाचा ने सन्देश लिखकर भेजा था, वह पंजीयन विभाग से आया था और उसकी दूसरी तरफ उनके बड़े भाई नागास्वामी के हाथ का लिखा हुआ कुछ कार्यालय सम्बन्धी विषय था। इससे उन्होंने यह परिणाम निकाला कि नागास्वामी ने पंजीयन विभाग में क्लर्क की नौकरी कर ली है। इसी तरह बाद के वर्षों में वह पत्र को उल्टा करके देखा करते और इसे खोलने से पहले इस पर लिखे पते और डाक-मुहर को ध्यान से देखा करते।

उन्होंने दर्शकों को अन्दर आने की आज्ञा दे दी, परन्तु जब वह अन्दर आ गये, स्वामी मौन होकर बैठे रहे और उन्होंने अभी-अभी उनके पत्र की परीक्षा करने में जो दिलचस्पी दिखायी थी, उसका चिह्नमात्र भी अब दृष्टि-गोचर नहीं हो रहा था। जरा भी दिलचस्पी प्रदर्शित करने से वह यह समझते कि स्वामी के घर लौटने की आशा है, जो कि सर्वथा निष्फल थी। स्वामी अस्त-व्यस्त दशा में बिना स्नान किये बैठे थे, उनके नाखून बढ़े हुए थे और बालों ने जटाओं का रूप धारण कर लिया था। नेल्लियाप्पियर उन्हें इस अवस्था में देखकर अत्यन्त भावविभोर हो उठे। स्वामी के मौनव्रत का ध्यान रखते हुए उन्होंने पलानीस्वामी और नायकर की बजाय स्वयं स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहा, "मुझे यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि मेरे परिवार के एक सदस्य ने इतनी उच्च स्थिति प्राप्त कर ली है, परन्तु आपको भौतिक सुविधाओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।"

स्वामी के सम्बन्धी चाहते थे कि वे उनके निकट रहें। वे स्वामी पर

अपनी प्रतिज्ञाएँ तोड़ने या जीवन-पद्धति बदलने के लिए कोई दबाव नहीं डालेंगे। वह बेशक मौनी और तपस्वी का जीवन व्यतीत करें, परन्तु मानमदुरा ने नेल्लियाप्पियर के घर के निकट एक महान् महात्मा के मन्दिर में रहें। उनकी शान्ति में बाधा डाले बिना उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जायगी। वकील ने स्वामी से अत्यन्त अनुनय-विनय की, परन्तु कोई परिणाम न निकला। स्वामी निश्चल होकर बैठे रहे मानो उन्होंने कुछ सुना ही न हो। नेल्लियाप्पियर के पास अपनी हार मानने के अलावा और कोई चारा न था। उन्होंने अलगम्माल को हर्ष और विषाद मिश्रित यह समाचार लिख भेजा कि उनका पुत्र तो मिल गया है, परन्तु अब उसमें महान् परिवर्तन आ गया है और अब वह वापस घर नहीं लौटेगा। तिरुवन्नामलाई में पाँच दिन ठहरने के बाद नेल्लियाप्पियर मानमदुरा वापस आ गये।

इसके थोड़े समय बाद स्वामी ने आमों का बगीचा छोड़ दिया और अय्यानकुलम सरोवर के पश्चिम में स्थित अरुणागिरिनाथार के एक छोटे-से मन्दिर में चले गये। सेवा के निमित्त दूसरों पर निर्भर रहने के लिए सदैव अनुत्सुक स्वामी ने पलानीस्वामी द्वारा भोजन की व्यवस्था किये जाने के स्थान पर अब प्रतिदिन स्वयं बाहर जाने और भिक्षा माँगने का निर्णय किया। उन्होंने पलानीस्वामी से कहा, ''आप भोजन माँगने के लिए एक तरफ जायँ और मैं दूसरी तरफ जाऊँगा। और हम दोनों अब इकट्ठे नहीं रहेंगे।'' पलानीस्वामी के लिए यह भयंकर आघात था। स्वामी के प्रति भक्ति को ही वह अपनी पूजा समझते थे। वह भिक्षा माँगने के लिए स्वामी के आदेशानुसार अकेले गये परन्तु रात होने पर वह वापस अरुणागिरिनाथार के मन्दिर में आ गये। वह अपने स्वामी के बिना कैसे रह सकते थे? उन्हें ठहरने की आज्ञा दे दी गयी।

स्वामी अब भी मौन धारण किये हुए थे। वह घर की दहलीज में जाकर खड़े हो जाते और ताली बजाते। अगर उन्हें भोजन दिया जाता तो वह इसे अपने हाथों में ले लेते और सड़क पर खड़े-खड़े खा जाते। अगर उन्हें भोजन के लिए घर आमन्त्रित किया जाता तो वह घर में कभी भी प्रवेश नहीं करते थे। वह हर रोज दूसरी गली में जाते और एक ही घर से दो बार भिक्षा नहीं माँगते थे। उन्होंने बाद में कहा कि मैंने तिरुवन्नामलाई की लगभग सभी गलियों में भिक्षाटन किया था।

अरुणागिरिनाथार मन्दिर में एक महीना ठहरने के बाद उन्होंने उस विशाल मन्दिर के एक बुर्ज और अलारी उद्यान में डेरा जमाया। वह जहाँ कहीं भी जाते, भक्तजनों का ताँता उनके पीछे लगा रहता। वह वहाँ केवल एक सप्ताह ठहरे और फिर अरुणाचल की पूर्वी पर्वतमाला पर स्थित

पवजहाकुनरु गये और वहाँ मन्दिर में ठहरे। वह यहाँ पहले की भाँति समाधिस्थ होकर बैठते और जब पलानीस्वामी वहाँ न होते तभी भिक्षाटन के लिए उस स्थान को छोड़कर जाते। प्रायः ऐसा होता कि मन्दिर का पुजारी पूजा करने के बाद ताला लगाकर चला जाता, वह यह भी देखने का कष्ट नहीं करता कि स्वामी अन्दर हैं या नहीं।

यहीं पर अलगम्माल ने अपने पुत्र के दर्शन किये। नेल्लियाप्पियर से समाचार मिलने के बाद उसने क्रिसमस को छुट्टियों की प्रतीक्षा की, क्योंकि उन्हीं दिनों उसका सबसे बड़ा लड़का उसके साथ चल सकता था। इसके बाद उसने उसके साथ तिरुवन्नामलाई के लिए प्रस्थान किया। उसने वेंकटरमण के कृश शरीर और जटाओं के बावजूद उसे तत्काल पहचान लिया। पुत्र-स्नेह से उसका हृदय करुणार्द्र हो उठा और उसने उससे घर वापस लौट चलने की प्रार्थना की, परन्तु वह अविचलित बैठा रहा, न उसने कोई जवाब दिया और न यह प्रदर्शित किया कि उसने कुछ सुना है। प्रतिदिन उसकी माँ उसके खाने के लिए स्वादिष्ट पदार्थ ले आती, उससे अनुनय-विनय करती, उसकी भर्त्सना भी करती, परन्तु उस पर कोई असर न होता। एक दिन, अपने प्रति उसके नितान्त उपेक्षा भाव को देखकर उसकी आँखों में आँसू छलछला आये। उसने तब भी कोई जवाब न दिया। कहीं उसकी सहानुभूति न फूट पड़े और उसकी माँ को झूठी आशा न बँधे, इसलिए वह उठ खड़ा हुआ और दूर चला गया। अगले दिन उसने वहाँ एकत्रित भक्तजनों की सहानुभूति प्राप्त की, अपनी दुःख-गाथा उनसे कह सुनायी और हस्तक्षेप की प्रार्थना की। भक्तों में से एक पचियप्पा पिल्लई नामक व्यक्ति ने स्वामी से कहा, "आपकी माँ रो रही है और अनुनय-विनय कर रही है; आप उसे कम से कम 'हाँ' या 'न' में कोई जवाब तो दें। आपको अपना मौनव्रत तोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं; ये रहे कागज और पेंसिल, जो कुछ आपको लिखना हो, लिख दें।"

स्वामी ने कागज-पेंसिल ले लिया और सर्वथा अवैयक्तिक भाषा में लिखा :

> "विधाता जीवों के प्रारब्ध कर्मानुसार उनके भाग्यों का नियन्त्रण करता है। आप कितनी ही कोशिश कर लें, जो कुछ भाग्य में नहीं होना लिखा, वह कभी नहीं होगा। जो कुछ भाग्य में होना लिखा है, वह होकर रहेगा, भले ही आप इसे रोकने की कितनी ही कोशिश क्यों न कर लें। यह निश्चित है, इसलिए सर्वोत्तम मार्ग शान्त रहने का है।"

सारतः जो कुछ स्वामीजी ने कहा, वह वही है जो ईसामसीह ने अपनी माँ से कहा था, "मुझे तुमसे क्या लेना-देना है ? क्या तुम नहीं जानतीं कि मुझे अपने महान् पिता का कार्य सम्पन्न करना है ?" श्रीभगवान् की यह विशेषता

रही कि एक तो प्रथम वह मौन रहे जबकि उनका उत्तर बिलकुल निषेधात्मक था और जब उनके मौन को स्वीकृति प्रदान नहीं की गयी, उन पर और दबाव डाला गया, उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, सामान्य शब्दों में एक सैद्धान्तिक बात कही और साथ ही प्रश्नकर्ता की आवश्यकता के अनुरूप उसके विशिष्ट प्रश्न का उत्तर भी दे दिया।

श्रीभगवान् का यह दृढ़ विश्वास था कि जो कुछ होना है, वह होकर रहेगा। साथ ही वह यह भी कहते थे कि जो कुछ होता है वह मनुष्य के प्रारब्ध-कर्म के अनुसार ही होता है। प्रारब्ध-कर्म का सिद्धान्त कार्य-कारण के कठोर नियम के अनुसार इतनी दृढ़तापूर्वक लागू होता है कि 'न्याय' शब्द द्वारा भी इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। श्रीभगवान् स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और दैववाद के विवाद में कभी नहीं पड़ते थे, क्योंकि इस प्रकार के सिद्धान्त यद्यपि मानसिक-स्तर पर एक-दूसरे के विरोधी हैं, तथापि वे दोनों सत्य के पक्षों को प्रतिबिम्बित करते हैं। वह कहा करते थे, "देखो, खोजो कौन दैवाधीन है और कौन स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति रखता है।"

वह स्पष्टतः कहा करते थे, "शरीर को जो भी क्रियाएँ सम्पन्न करनी हैं, वे सभी पहले ही इसके अस्तित्व में आने के समय निर्धारित हो जाती हैं। आपको केवल इस बात की स्वतन्त्रता है कि आप अपने शरीर के साथ एकरूपता अनुभव करें या न करें।" अगर कोई व्यक्ति किसी नाटक में कोई पार्ट अदा करता है तो उसका सारा पार्ट पहले से लिखा होता और उसे वह पार्ट हूबहू बखूबी अदा करना पड़ता है, चाहे वह सीजर बने, जिसे छुरा घोंपा गया था, या ब्रूटस बने, जिसने छुरा घोंपा था; उस पर इसका जरा भी प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वह यह अच्छी तरह जानता है कि न तो वह सीजर है और न ब्रूटस। इसी प्रकार जो व्यक्ति अमर आत्मा के साथ अपनी एकरूपता अनुभव करता है, वह मानवीय रंगमंच पर बिना भय या चिन्ता के, आशा या निराशा के अपने पार्ट अदा करता है, वह अदा किये जाने वाले पार्ट से बिलकुल अप्रभावित रहता है अगर कोई यह पूछे कि जब व्यक्ति की सभी क्रियाएँ निर्धारित हैं, तो फिर उसकी वास्तविकता क्या है; उसके मन में यह प्रश्न पैदा होना अनिवार्य है : 'तब मैं कौन हूँ' ? अगर अहं जो सोचता है कि वही निर्णय करता वास्तविक नहीं है, और फिर भी मैं जानता हूँ कि मेरी सत्ता है, तो फिर मेरी वास्तविकता क्या है ? यह केवल श्रीभगवान् द्वारा बतायी गयी तलाश का प्रारम्भिक मानसिक रूप है। परन्तु यही वास्तविक खोज की सर्वोत्तम तैयारी है।

पुनरपि, प्रत्यक्षतः विरोधी प्रतीत होने वाला यह विचार कि मनुष्य स्वयं

अपना भाग्य-निर्माता है, कम सत्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु कारक और कार्य के नियम द्वारा घटित होती है और प्रत्येक विचार, शब्द और क्रिया की अपनी प्रतिक्रिया होती है। इस सम्बन्ध में श्रीभगवान् इतने ही अटल थे जितने कि अन्य महापुरुष। उन्होंने अपने एक भक्त शिवप्रकाशम पिल्लई से कहा था (यह दसवें अध्याय में उद्धृत श्रीभगवान् द्वारा दिये गये उत्तर में है) "चूँकि जीवों को उनके कर्मों का फल भगवान् के नियमों के अनुसार मिलता है, इसलिए उत्तरदायित्व उनका है, न कि भगवान् का।" उन्होंने निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता पर बल दिया। **'महर्षीज गॉस्पल'** नामक पुस्तक में एक भक्त की शिकायत इस प्रकार संगृहीत है : "अक्तूबर में आश्रम छोड़ने के उपरान्त दस दिन तक मुझे उसी प्रकार की शान्ति का अनुभव होता रहा जिस प्रकार की शान्ति मैं श्रीभगवान् के सान्निध्य में अनुभव किया करता था। हर समय जबकि मैं कार्य में भी व्यस्त होता था, मुझ में शान्ति की अन्तः-धारा प्रवहमान होती प्रतीत होती थी; यह लगभग दोहरी चेतना के सदृश था जो कि एक व्यक्ति किसी नीरस भाषण के समय, अर्द्ध-स्वप्नावस्था में अनुभव करता है। तब यह बिलकुल लुप्त हो गयी और इसके स्थान पर फिर वही पुरानी मूर्खतापूर्ण बातें आ गयीं।" और श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "अगर आप अपने मन को शक्तिशाली बना लें तो वह शान्ति स्थिर रहेगी। इसकी अवधि निरन्तर अभ्यास द्वारा अर्जित मन की शक्ति के अनुपात में होती है। **'स्पिरिचुअल इंस्ट्रक्शन'** पुस्तक में एक भक्त ने भाग्य और प्रयत्न के बीच इस प्रत्यक्ष विरोध की ओर स्पष्टतः निर्देश किया था, अगर, जैसा कि कहा जाता है, प्रत्येक घटना भाग्य के अनुसार घटित होती है, यहाँ तक कि वे बाधाएँ भी जो शक्ति को सफलतापूर्वक ध्यान करने से रोकती हैं, तो ये बाधाएँ अजेय समझी जानी चाहिए क्योंकि अपरिवर्तनीय भाग्य ने उनका निर्माण किया है। उन पर कोई व्यक्ति जिस प्रकार विजय पा सकता है ?" और इसका श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "ध्यान में बाधा डालने वाले 'भाग्य' का अस्तित्व केवल बहिर्मन के लिए है न कि अन्तर्मन के लिए। इसलिए जो व्यक्ति अपने अन्दर आत्म-तत्त्व की तलाश करता है, वह अपने चिन्तन के मार्ग में आने वाली बाधा से भयभीत नहीं होता। इस प्रकार की बाधाओं का विचार ही सबसे बड़ी बाधा है।"

सन्देश का उपसंहारात्मक वाक्य इस प्रकार था, "इसलिए सर्वोत्तम मार्ग मौन रहना है"—जो श्रीभगवान् की माता पर विशेष रूप से लागू होता है क्योंकि वह उस चीज की माँग कर रही थी, जो स्वीकार नहीं की जा सकती थी। सामान्य लोगों पर यह इस अर्थ में लागू होता है कि "काँटों के विरुद्ध

पदाघात करने का कोई लाभ नहीं" अर्थात् अपरिवर्तनीय भाग्य का विरोध करना निष्फल है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि व्यक्ति प्रयास करना ही छोड़ दे। जो व्यक्ति यह कहता है, "प्रत्येक वस्तु पूर्व-निर्धारित है, इसलिए मैं कोई प्रयास नहीं करूँगा," वह झूठी धारणा का शिकार है, "और मैं जानता हूँ कि पूर्व-निर्धारित क्या है"—सम्भव है उसके भाग्य में विधाता ने प्रयास करना लिखा हो; जैसे कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से 'भगवद्गीता' में कहा था कि उसकी अपनी प्रकृति ही उसे प्रयास करने के लिए प्रेरित करेगी।

माता वापस घर लौट आयी और स्वामी यथापूर्व रहे। सवा दो साल की अवधि में, जो स्वामी ने तिरुवन्नामलाई के देवालयों में गुजारी, बाह्य सामान्य जीवन में वापस आने के प्रथम चिह्न स्वामी में पहले ही प्रकट हो रहे थे। उन्होंने पहले ही नियमित समय पर दैनिक भोजन लेना प्रारम्भ कर दिया था और वह किसी दूसरे पर निर्भर न रहकर स्वयं भोजन की तलाश में बाहर जाने लगे थे। उन्होंने कई बार बातचीत भी की थी। उन्होंने भक्तों के प्रश्नों के उत्तर देना, पुस्तकें पढ़ना और अपनी शिक्षा के सार-तत्त्व की व्याख्या करना प्रारम्भ कर दिया था।

जब वह सर्वप्रथम तिरुवन्नामलाई आये, वे संसार और शरीर की सर्वथा उपेक्षा करके आत्मानन्द में लीन हो बैठ गये। वह केवल उसी समय भोजन करते जब यह उनके हाथों या मुख में डाला जाता और तब भी केवल उतना ही भोजन लेते जितना शरीर-धारण के लिए पर्याप्त होता। इसे तपस् की संज्ञा दी गयी है परन्तु तपस् का बहुत व्यापक अर्थ है। इसमें ध्यान का भाव समाहित है, जो व्यक्ति को तपश्चर्या के मार्ग पर ले जाता है। सामान्यत: यह तपश्चर्या गत आसक्ति के लिए प्रायश्चित्त के रूप में होती है, इस आसक्ति की पुनरावृत्ति का वह समूलोन्मूलन करना चाहती है और मन तथा इन्द्रियों के माध्यम से बाहर निकलने वाली शक्ति पर अंकुश लगाना चाहती है। कहने का भाव यह है कि तपस् का सामान्यत: अर्थ है प्रायश्चित्त और तपश्चर्या के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयास करना। श्रीभगवान् में संघर्ष, प्रायश्चित्त और बलात्कृत नियन्त्रण का सर्वथा अभाव था। चूँकि शरीर के साथ 'मैं' की असत्य एकानुभूति और इसके परिणामस्वरूप समुद्भूत शरीर के प्रति आसक्ति के बन्धन को स्वामी पहले ही तोड़ चुके थे। उनके दृष्टिकोण से तो तपश्चर्या का प्रश्न ही पैदा नहीं होता था क्योंकि उन्होंने उस शरीर के साथ अपने को एकरूप अनुभव करना ही बन्द कर दिया था जो तपश्चर्या करना है। उन्होंने बाद के वर्षों में इसकी इन शब्दों में पुष्टि की, "मैं भोजन नहीं करता था, इसलिए लोग कहते थे मैं उपवास कर रहा

हूँ, मैं नहीं बोलता था, इसलिए वे कहते थे मैं मौनी हूँ।" इसे अगर सरल शब्दों में कहें तो दिखायी देने वाली तपश्चर्या आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति के लिए नहीं थी बल्कि आत्म-साक्षात्कार के परिणामस्वरूप थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मदुरा में अपने चाचा के घर पर आध्यात्मिक जागरण के बाद उन्होंने और कोई साधना नहीं की।

भगवान् इन सामान्य अर्थों में मौनी नहीं थे कि उन्होंने दूसरों के साथ सम्पर्क बन्द करने के लिए मौनव्रत धारण कर रखा था। सांसारिक आवश्यकताओं के अभाव के कारण, उन्हें बोलने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह बताया है कि एक मौनी को देखने के बाद उनके मन में यह विचार आया कि मौन धारण करने से उनकी शान्ति में बाधा नहीं पड़ेगी।

प्रारम्भ के महीनों में जब वे आत्मानन्द में लीन रहते थे तब प्रायः उन्हें बाहरी दुनिया की बिलकुल सुध-बुध नहीं रहती थी। उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में इस ओर निर्देश किया है :

"कभी-कभी मैं अपनी आँखें खोलता तो सवेरा होता, कभी-कभी शाम होती। मुझे इसका पता नहीं था कि कब सूर्योदय हुआ और कब सूर्यास्त।" कुछ सीमा तक भगवान् की यह अवस्था जारी रही, सामान्य के स्थान पर केवल यह विरल हो गयी। बाद के वर्षों में श्रीभगवान् ने एक बार कहा था कि वह प्रायः दैनिक वेद-मन्त्रों का प्रारम्भ सुनते थे और फिर समाप्ति, वह इतने तन्मय हो जाते थे कि मन्त्रों के प्रारम्भ और समाप्ति के बीच उन्हें और कुछ सुनायी नहीं देता था। उन्हें इस पर आश्चर्य होता था कि इतनी जल्दी कैसे मन्त्रों की समाप्ति हो गयी, कहीं बीच में कुछ मन्त्र छूट तो नहीं गये। तिरुवन्नामलाई में, प्रारम्भिक महीनों में भी बड़े समारोहपूर्वक सब उत्सव मनाये जाते और बाद के वर्षों में स्वामी उन घटनाओं को दोहराया करते थे जो इस अवधि में घटित हुई थीं और जिनके सम्बन्ध में लोगों का ऐसा ख्याल था कि स्वामी कुछ नहीं जानते।

बाहरी संसार के प्रति पूर्ण विमुखता और आत्मभाव में पूर्णरूपेण स्थिति को निर्विकल्प समाधि की संज्ञा दी गयी है। यह परमानन्द की अवस्था है परन्तु यह स्थायी नहीं होती। श्रीभगवान् ने इसकी तुलना, **महर्षीज गॉस्पल** पुस्तक में कुएँ में डुबोयी गयी बाल्टी से की है। बाल्टी में पानी (मन) होता है जो कुएँ (आत्मा) के पानी के साथ एकरूप हो जाता है परन्तु रस्सी और बाल्टी (अहं) की अब भी सत्ता है जो इसे पुनः बाहर निकाल लाते हैं। सर्वोच्च और अन्तिम अवस्था **सहज समाधि** की अवस्था है जिसकी ओर

द्वितीय अध्याय में संक्षेप में निर्देश किया गया है। यह शुद्ध अविच्छिन्न चैतन्य है, मानसिक और शारीरिक धरातल से ऊपर, परन्तु इसे बाहरी संसार का पूर्ण ज्ञान है और यह मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग करता है, यह पूर्ण सन्तुलन, पूर्ण समस्वरना, परमानन्द से भी परे की स्थिति है। इसकी तुलना उन्होंने महासागर में विलीन नदी के जल से की है। इस अवस्था में अहं अपनी समस्त सीमाओं सहित सदा के लिए आत्म-तत्त्व में लय हो जाता है। यह पूर्ण स्वतन्त्रता, विशुद्ध चैतन्य है, शुद्ध अहं है, जो अब शरीर या व्यक्तित्व तक सीमित नहीं है।

श्रीभगवान् पहले ही इस उच्च अवस्था में थे, हालाँकि बाह्य संसार का ज्ञान अभी निरन्तररूप से नहीं बना था। बाद में श्रीभगवान् का बाह्य गतिविधियों की ओर प्रतिवर्तन केवल दीखने मात्र का था परन्तु उनमें वस्तुतः कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। श्रीभगवान् ने **'महर्षीज गॉस्पल'** में इसकी इस प्रकार व्याख्या की है :

> "ज्ञानी की स्थिति में अहं का उदय या अस्तित्व देखने मात्र का होता है और वह अहं के इस प्रकार के प्रत्यक्ष उदय या अस्तित्व के बावजूद, सदा अपना ध्यान स्रोत पर केन्द्रित रखते हुए परमानन्द की अविच्छिन्न धारा में लीन रहता है। यह अहं हानिप्रद नहीं होता, यह तो जली हुई रस्सी के सदृश होता है—यद्यपि इसका रूप होता है तथापि इसे बाँधने के प्रयोग में नहीं लाया जा सकता।"

छठवाँ अध्याय

अरुणाचल

अरुणाचल का दृश्य बड़ा ऊबड़-खाबड़ है । चारों ओर पत्थर इस प्रकार पड़े हैं मानो किसी दैत्याकार हाथ ने उन्हें इधर-उधर बिखेर दिया हो । जहाँ-तहाँ सूखे काँटों और नागफनी के घेरे हैं, धूप के झुलसते हुए खेत हैं, भयानक आकार की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं; और धूल भरी सड़क के साथ-साथ विशालकाय छायादार वृक्ष हैं और कहीं-कहीं तालाब या कुएँ के निकट हरे-भरे धान के खेत हैं । अरुणाचल की पहाड़ी के चारों ओर रूक्ष सौन्दर्य बिखरा पड़ा है । यद्यपि यह पहाड़ी केवल २,६८२ फुट ऊँची है तथापि यह समस्त ग्रामीण प्रदेश में छायी हुई है । दक्षिण अर्थात आश्रम की तरफ से यह अत्यन्त सीधी है—एक सममित पहाड़ी जिसके दोनों ओर दो लगभग बराबर तराइयाँ हैं । इस पहाड़ी की चोटी पर प्रातःकाल के समय प्रायः धवल मेघ या धुन्ध का एक मुकुट बन जाता है और यह सममितता और अधिक पूर्ण दिखायी देती है । परन्तु यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि जैसे-जैसे कोई व्यक्ति पहाड़ी के चारों ओर स्थित ८ मील लम्बी सड़क पर निर्धारित मार्ग से दक्षिण से पश्चिम की ओर अपना दायाँ पार्श्व पहाड़ी की ओर किये जाता है तो दृश्य बदलता जाता है और प्रत्येक दृश्य की अपनी विशेषता तथा प्रतीकात्मकता है—कहीं तो प्रतिध्वनि की गूँज सुनायी देती है, कहीं दोनों तराइयों के बीच में मुश्किल से चोटी के दर्शन होते हैं, जिस प्रकार कि दो विचारों के मध्यावकाश में आत्म-तत्त्व के, कहीं पाँचों चोटियों के दर्शन होते हैं, कहीं शिव और शक्ति के, और इसी प्रकार के अन्य दृश्य ।

आठों दिशाओं में पवित्र तालाब हैं और विभिन्न महत्त्वपूर्ण स्थानों पर मण्डप बने हुए हैं । इन मण्डपों में प्रसिद्ध दक्षिणामूर्त्ति का मण्डप दक्षिणी कोने पर है । दक्षिणामूर्त्ति में मौनभाव से उपदेश देते हुए शिव हैं । यह है अरुणाचल का दृश्य ।

> "कौन द्रष्टा है ? जब मैंने अन्तर्मुख होकर देखा तो द्रष्टा का लोप हो गया और कुछ भी शेष न रहा । 'मैंने देखा' इस प्रकार का कोई विचार पैदा न हुआ, जो 'मैंने नहीं देखा' इस प्रकार का विचार कैसे पैदा

हो सकता था ? किसकी शक्ति है कि इसे शब्दों में अभिव्यक्त करे, जबकि तूने भी प्राचीनकाल में दक्षिणामूर्त्ति के रूप में प्रकट होकर इसे केवल मौनभाव से अभिव्यक्त किया था। अपनी स्थिति केवल मौनभाव से प्रकट करने के लिए तू स्वर्ग से पृथ्वी तक प्रकाशमान पहाड़ी के रूप में अवस्थित है।"[1]

श्रीभगवान् पहाड़ी की प्रदक्षिणा के लिए हमेशा भक्तों को प्रोत्साहित किया करते थे। वृद्धों और अशक्तों को भी वह हतोत्साह नहीं करते थे, केवल उनसे धीरे चलने के लिए कहते थे। वस्तुतः, प्रदक्षिणा धीरे-धीरे ही की जानी चाहिए, जिस प्रकार कोई गर्भवती रानी नौवें महीने में धीरे-धीरे चलती है। मौन ध्यानावस्था में या गाते हुए या शंख बजाते हुए प्रदक्षिणा पैदल ही की जानी चाहिए, किसी सवारी में नहीं, और तथ्य तो यह है कि यह नंगे पाँव की जानी चाहिए। प्रदक्षिणा का सर्वाधिक शुभ समय शिवरात्रि और कार्तिकी का है। कार्तिकी के शुभ दिन कृत्तिका नक्षत्रमण्डल का पूर्ण चन्द्र के साथ सम्मिलन होता है। यह दिन प्रायः नवम्बर के महीने में पड़ता है। इन शुभ अवसरों पर भक्तों की निरन्तर धारा की उपमा पहाड़ी के चारों ओर विराजमान माला से की गयी है।

एक बार का जिक्र है कि एक वृद्ध अपाहिज बैसाखियों के सहारे उस सड़क पर चल रहा था जो पहाड़ी को चारों ओर से घेरे हुए है। प्रायः उसने बैसाखियों के सहारे प्रदक्षिणा की थी परन्तु इस बार उसे तिरुवन्नामलाई से प्रस्थान करना था। वह अपने को अपने परिवार पर भार समझता था, परिवार में झगड़े पैदा हो गये थे और उसने परिवार वालों को छोड़ने और किसी गाँव में स्वयं अपनी आजीविका अर्जित करने का निश्चय कर लिया था। यकायक एक युवक ब्राह्मण उसके सामने प्रकट हुआ और उसने यह कहते हुए उसकी बैसाखियाँ उससे छीन लीं, "तुम्हें इन बैसाखियों की जरूरत नहीं है।" पूर्व इसके कि अपने चेहरे पर प्रकट होने वाले क्रोध को वह शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करता, उसने यह अनुभव किया कि उसके अंग सीधे हैं और उसे बैसाखियों की जरूरत नहीं है। उसने तिरुवन्नामलाई नहीं छोड़ा; वह वहीं रुक गया और वहाँ बहुत विख्यात हो गया। श्रीभगवान् ने यह कहानी पूरे विस्तार के साथ कुछ भक्तों को सुनायी थी और कहा था कि यह कहानी अरुणाचल स्थल पुराण में वर्णित कहानी से हूबहू मिलती-जुलती है। उस समय वह पहाड़ी पर तरुणस्वामी के रूप में थे परन्तु उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि वह ही ब्राह्मण युवक के रूप में प्रकट हुए थे।

---

[1] **एट स्टेंजाज ऑन श्री अरुणाचल, जिल्द २, रचयिता श्रीभगवान्।**

अरुणाचल समस्त भारत के पवित्र स्थानों में से सबसे प्राचीन और सबसे पवित्र स्थान है। श्रीभगवान् ने यह घोषणा की थी कि यह पृथ्वी का हृदय है, विश्व का आध्यात्मिक केन्द्र है। श्री शंकर ने मेरु पर्वत के रूप में इसका वर्णन किया है। स्कन्द पुराण में इस प्रकार घोषणा की गयी है : "यह पवित्र स्थान है। सब स्थानों में अरुणाचल सर्वाधिक पवित्र है। यह विश्व का हृदय है। इसे शिव का गुप्त पवित्र हृदय-केन्द्र जानो।" बहुत-से सन्त वहाँ रहे हैं। अपनी पवित्रता को उन्होंने पहाड़ी की पवित्रता के साथ एकाकार कर दिया है। ऐसा कहा जाता है और श्रीभगवान् ने इसकी पुष्टि की है कि आज भी इसकी कन्दराओं में भौतिक शरीरों वाले या भौतिक देहरहित सिद्ध रहते हैं। कई लोगों का कहना है कि उन्होंने रात को प्रकाशमय पुरुषों के रूप में उन्हें पहाड़ी का चक्कर लगाते हुए देखा है।

पहाड़ी के उद्भव के सम्बन्ध में एक पौराणिक गाथा है। एक बार विष्णु और ब्रह्मा में इस बात पर झगड़ा हो गया कि उन दोनों में कौन बड़ा है। उनके झगड़े से पृथ्वी पर अव्यवस्था पैदा हो गयी, इसलिए देवता शिव के पास गये और उनसे झगड़ा निपटाने की प्रार्थना की। इस पर शिव एक प्रकाश-रेखा के रूप में प्रकट हुए। इस प्रकाश-रेखा में से एक ध्वनि निकली कि जो कोई इस प्रकाश-रेखा के ऊपरी या निचले सिरे का पता लगा लेगा वही बड़ा होगा। विष्णु ने सुअर का रूप धारण कर लिया और इसका आधार पता लगाने के लिए भूमि को खोदना शुरू किया। ब्रह्मा ने राजहंस का रूप धारण कर लिया और प्रकाश-रेखा के शिखर का पता लगने के लिए आकाश में ऊँचा उड़ना शुरू किया। विष्णु प्रकाश-रेखा के आधार तक पहुँचने में असफल हो गया, परन्तु उसने अपने अन्दर घट-घटवासी परम प्रकाश के दर्शन किये, वह अपने भौतिक शरीर की सुध-बुध भूल गया और यह भी भूल गया कि वह किसी चीज की खोज में आया है, वह समाधिस्थ हो गया। ब्रह्मा ने एक पहाड़ी वृक्ष के फूल को आकाश में गिरते हुए देखा और छल से विजय का विचार करते हुए वह इस फूल को लेकर वापस लौट पड़ा। उसने यह घोषणा की कि उसने यह फूल शिखर से तोड़ा है।

विष्णु ने अपनी असफलता स्वीकार की और भगवान् की इन शब्दों में स्तुति की, "आप आत्म-ज्ञान हैं। आप ओ३म् हैं। आप प्रत्येक वस्तु के आदि, मध्य और अन्त हैं। आप सब कुछ हैं और सबको प्रकाशित करते हैं।" विष्णु को महान् घोषित किया गया, ब्रह्मा लज्जित हुआ और उसने अपनी गलती स्वीकार कर ली।

इस पौराणिक गाथा में विष्णु अहं या व्यक्तित्व का, ब्रह्मा मनस्तत्व का और शिव आत्मा का प्रतिनिधि है।

कहानी में आगे वर्णन आता है; प्रकाश-रेखा का प्रकाश आँखों को चौंधिया देने वाला था, अतः शिव ने अपने को अरुणाचल पहाड़ी के रूप में प्रकट किया और यह घोषणा की : जिस प्रकार चन्द्रमा अपना प्रकाश सूर्य से ग्रहण करता है, इसी प्रकार अन्य पवित्र स्थान अपनी पवित्रता अरुणाचल से ग्रहण करेंगे। यही वह एकमात्र स्थान है जहाँ मैंने उन लोगों के लिए जो मेरी उपासना करना चाहते हैं और प्रकाश ग्रहण करना चाहते हैं, यह रूप धारण किया है। अरुणाचल स्वयं ओ३म् है। मैं प्रतिवर्ष कार्तिकी के दिन शान्तिदायी दीप-स्तम्भ के रूप में इस पहाड़ी के शिखर पर प्रकट होऊँगा।'' यह न केवल स्वयं अरुणाचल की पवित्रता बल्कि अद्वैत सिद्धान्त की प्रसिद्धि तथा आत्म-अन्वेषण के मार्ग, जिसका अरुणाचल केन्द्र है, की ओर निर्देश करता है। श्रीभगवान् की निम्न उक्ति ''अन्त में हर व्यक्ति को अरुणाचल आना पड़ेगा'' में हर कोई उस अर्थ को समझ सकता है।

तिरुवन्नामलाई में आगमन के दो वर्ष से भी अधिक समय के बाद श्रीभगवान् ने पहाड़ी पर रहना शुरू किया। तब तक वह निरन्तर किसी मन्दिर में ठहरते थे। १८९८ की समाप्ति के समय ही उन्होंने पवजहाक्कुनरु स्थित छोटे-से मन्दिर में आश्रय लिया। शताब्दियों पहले महान् गौतम ऋषि ने इस स्थान को पवित्र किया था। यहीं श्रीभगवान् की माता उन्हें मिली थीं। फिर उन्होंने अरुणाचल कभी नहीं छोड़ा। अगले वर्ष के शुरू में वह पहाड़ी पर स्थित एक कन्दरा में चले गये और १९२२ तक वह किसी न किसी कन्दरा में रहे। इसके बाद वह नीचे पहाड़ी की तराई में आ गये। यहीं वर्तमान आश्रम की स्थापना हुई और यहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष वर्ष व्यतीत किये।

पहाड़ी पर रहते समय, श्रीभगवान् प्रायः सारा समय पहाड़ी की दक्षिणी ढाल पर रहते थे। आश्रम भी दक्षिण में दक्षिणामूर्त्ति मण्डप के पास है। 'दक्षिणी पार्श्व' भगवान् के १०८ नामों में से एक है, जिनका गान उनके स्मारक पर किया जाता है। यह नाम सामान्यतः उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रमाण का प्रतीक है जिस प्रकार सद्गुरु वह स्तम्भ है, जिसके चारों ओर संसार चक्कर काटता है। परन्तु यह विशेषतः दक्षिणामूर्त्ति का एक नाम है। दक्षिणामूर्त्ति मौनभाव से उपदेश देने वाले शिव हैं। इस अध्याय के प्रारम्भ में उद्धृत पद में श्रीभगवान् ने अरुणाचल और दक्षिणामूर्त्ति को एक बताया है; नीचे के पद में वह रमण और अरुणाचल को एक बताते हैं :

"विष्णु से लेकर सभी व्यक्तियों के कमलाकृति हृदयों की गहराइयों में परम चैतन्य के रूप में परमात्मा का प्रकाश विराजमान है जो वही है जो अरुणाचल या रमण है। जब व्यक्ति का मन प्रेमार्द्र हो जाता है और वह हृदय की उन गहराइयों में प्रवेश करता है, जहाँ वह परम पुरुष प्रेमी के रूप में निवास कर रहा है, परम चैतन्य की दिव्य दृष्टि खुल जाती है और वह अपने को विशुद्ध ज्ञान के रूप में प्रकट करता है।"

जिस कन्दरा में श्रीभगवान् सर्वप्रथम गये और जहाँ वह सबसे अधिक देर ठहरे, वह दक्षिण-पूर्वी ढलान पर है। इस कन्दरा को विरूपाक्ष नामक सन्त के नाम पर, जो वहाँ रहते थे और सम्भवतः जिन्हें तेरहवीं शताब्दी में वहाँ दफनाया गया था, विरूपाक्ष कहते हैं। बड़ी विचित्र बात तो यह है कि इस कन्दरा का आकार ओ३म् से मिलता-जुलता है। स्मारक कन्दरा में बिलकुल अन्दर है और ऐसा कहा जाता है कि अन्दर ओ३म् की ध्वनि सुनी जा सकती है।

नगर स्थित विरूपाक्ष मठ के ट्रस्टियों का कन्दरा पर साम्पत्तिक अधिकार था। वे कार्तिकी के वार्षिक समारोह के अवसर पर, कन्दरा के दर्शकों के लिए आने वाले तीर्थयात्रियों पर एक छोटा-सा कर लगाया करते थे। जिस समय श्रीभगवान् वहाँ गये उस समय कर नहीं लगाया जाता था क्योंकि दो दलों में कन्दरा के स्वामित्व के सम्बन्ध में मुकदमेबाजी चल रही थी। जब मुकदमे का फैसला हो गया तब सफल दल ने पुनः कर लगाना शुरू कर दिया। अस्तु, इस समय तक दर्शनार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी और वर्ष-भर न कि केवल कार्तिकी के अवसर पर उनका ताँता लगा रहता था। चूँकि दर्शनार्थी कन्दरा में श्रीभगवान् की उपस्थिति के कारण वहाँ आते थे इसलिए यह कर एक प्रकार से श्रीभगवान् के दर्शनों के लिए था। श्रीभगवान् को यह बात पसन्द नहीं थी, इसलिए वह कन्दरा से बाहर निकलकर, इसके सामने एक छायादार वृक्ष के नीचे आकर बैठ गये। इस पर ट्रस्टियों के एजेण्ट ने अपना कर इकट्ठा करने का स्थान इस प्रकार बदल लिया कि श्रीभगवान् जिस वृक्ष के नीचे बैठते थे वह भी ट्रस्टियों की अधिकार-परिधि में आ गया। अब श्रीभगवान् ने कन्दरा छोड़ दी और वह नीचे सद्गुरुस्वामी कन्दरा में चले गये और फिर वहाँ कुछ देर ठहरने के बाद दूसरी कन्दरा में चले गये। विरूपाक्ष कन्दरा में आने वाले दर्शनार्थियों का ताँता बन्द हो गया। जब ट्रस्टियों ने यह अनुभव किया कि उनके इस कार्य से उन्हें तो कोई लाभ नहीं हुआ, स्वामी को असुविधा हुई है तो उन्होंने उनसे पुनः कन्दरा में लौटने की प्रार्थना की और यह वचन दिया कि जब तक स्वामी कन्दरा में रहेंगे तब तक वह किसी प्रकार का कर नहीं लगायेंगे। इस शर्त पर वह वापस लौट आये।

गरमी के महीनों में विरूपाक्ष की कन्दरा बहुत अधिक तप जाती है। पहाड़ी की तराई में मुलाईपाल तीर्थ तालाब के निकट एक कन्दरा है जो ठण्डी है और वहाँ पीने के लिए शुद्ध पानी भी मिल जाता है। इसके ऊपर एक छायादार आम का वृक्ष है, जिसकी वजह से इस कन्दरा का नाम आम्र-कन्दरा पड़ गया है। श्रीभगवान् के दो सहोदर भक्तों ने बाहर निकले हुए कन्दरा के हिस्से को बारूद से उड़ा दिया, इसके आगे एक दीवार खड़ी कर दी, उसमें एक दरवाजा लगा दिया और श्रीभगवान् गरमी के महीनों में यहीं रहने लगे।

सन् १६०० में, श्रीभगवान् द्वारा पहाड़ी पर रहने के लिए जाने के थोड़े अरसे बाद कुम्बाक्कोनम् निवासी नल्लापिल्लई नामक एक भक्त तिरुवन्नामलाई आये और उन्होंने श्रीभगवान् का एक फोटो लिया। हमारे पास यही उनका सबसे प्रारम्भिक चित्र है। यह एक सुन्दर युवक का चेहरा है, परन्तु इससे श्रीभगवान् की शक्ति और गाम्भीर्य परिलक्षित होते हैं।

पहाड़ी पर निवास के प्रारम्भिक वर्षों में श्रीभगवान् मौनव्रत धारण किये हुए थे। उनके तेज से प्रभावित होकर कई भक्तजन उनके निकट आ गये थे और एक आश्रम की स्थापना हो चुकी थी। केवल साधक भक्तजन ही उनके निकट नहीं आते थे बल्कि सीधे-सादे लोग, बच्चे और यहाँ तक कि पशु भी उनके निकट आते थे। नगर के किशोर पहाड़ी पर चढ़कर विरूपाक्ष कन्दरा में पहुँचते, उनके पास बैठते, खेलते-कूदते और खुशी-खुशी घर वापस लौट आते। गिलहरियाँ और बन्दर श्रीभगवान् के निकट आते और उनके हाथों से खाते।

वह यदाकदा ही अपने शिष्यों के लिए लिखकर निर्देश दिया करते थे। परन्तु उनके मौन के कारण उनके शिष्यों के प्रशिक्षण में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती थी, क्योंकि जब कभी वह भाषण करते थे उनकी वास्तविक शिक्षा, दक्षिणामूर्त्ति की परम्परा में मौन के माध्यम से हुआ करती थी। चीन के लाओ-त्सू और प्रारम्भिक लाओवादी सन्तों ने भी यही परम्परा प्रस्तुत की है। "वह ताओ जिसका नाम लिया जा सकता है, ताओ नहीं है—" वह ज्ञान जो सूत्रबद्ध किया जा सकता है, सत्य ज्ञान नहीं है। यह मौन शिक्षा एक प्रत्यक्ष आध्यात्मिक प्रभाव था, जिसे मन ग्रहण करता था और बाद में अपनी योग्यता के अनुसार इसकी व्याख्या करता था। प्रथम यूरोपीय दर्शक ने इसका इस प्रकार वर्णन किया है :

> "कन्दरा में पहुँचने के बाद हम उनके सम्मुख उनके चरणों में चुप बैठ गये। हम इस प्रकार बहुत देर तक बैठे रहे और मैंने ऐसा अनुभव किया कि मैं अहं की परिधि से परे उठ रही हूँ। मैं आधा घण्टे तक महर्षि

की आँखों में देखती रही, उनकी गहन चिन्तन की अभिव्यक्ति बिलकुल परिवर्तित नहीं हुई। मैंने कुछ इस प्रकार अनुभव करना प्रारम्भ किया कि शरीर पवित्र आत्मा का मन्दिर है; मैं केवल यह अनुभव कर सकी कि उनका शरीर मानव नहीं है : यह भगवान् का यन्त्र है, एक बैठा हुआ अचल शव है, जिसमें से भागवत प्रकाश बड़े वेग से बाहर प्रकाशित हो रहा है। मैं अपने भावों की भी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती।"[1]

एक अन्य विदेशी पाल ब्रण्टन ने, जिनकी वृत्ति आस्तिकता की अपेक्षा सन्देह की अधिक थी, अपने मन पर पड़ने वाले श्रीभगवान् के मौन के प्रथम प्रभाव का इस प्रकार वर्णन किया है :

"मेरा इस प्राचीन सिद्धान्त में अटल विश्वास है कि मनुष्य की आँखें उसकी आत्मा का दर्पण हैं। परन्तु महर्षि की आखों के आगे मैं अपने को संकुचित और अभिभूत अनुभव करता हूँ।"

"मैं उन पर से अपनी दृष्टि नहीं हटा सकता। मेरी प्रारम्भिक व्यग्रता और उलझन जो उनकी उपेक्षा के कारण उत्पन्न हो गयी थी उनके विचित्र आकर्षण के कारण जिसने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया धीरे-धीरे जाती रही। परन्तु इस असाधारण दृश्य के दो घण्टे बाद ही मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे मन में एक मूक और शान्त परिवर्तन हो रहा है। एक-एक करके वे सारे प्रश्न जिन्हें मैंने ट्रेन में इतनी सतर्क यथार्थता के साथ तैयार किये थे, लुप्त हो गये। अब इन प्रश्नों का पूछना या न पूछना मुझे बिलकुल महत्त्वहीन लगने लगा और जो समस्याएँ मुझे अब तक परेशान करती आयी थीं उनका सुलझाना या न सुलझाना महत्त्वहीन था। मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि मेरे निकट शान्ति की धारा निर्बाध रूप से प्रवाहित हो रही थी, एक महान् शान्ति मेरे अन्तस्थल में प्रवेश कर रही थी और मेरा विचारग्रस्त मस्तिष्क शान्त हो रहा था।"

न केवल बौद्धिक व्यक्तियों के अशान्त मन को बल्कि शोकातुर हृदयों को श्रीभगवान् की अनुकम्पा से शान्ति का वरदान प्राप्त होता था। मण्डा कोला-थर गाँव की रहने वाली अचम्माल, जिस नाम से वह आश्रम में विख्यात थी (उसका पहला नाम लक्ष्मीअम्माल था) सुखी पत्नी और माँ थी, परन्तु पच्चीस वर्ष की होने से पूर्व, पहले उसके पतिदेव स्वर्ग सिधार गये, फिर उसका एक-मात्र पुत्र और फिर उसकी एकमात्र पुत्री का स्वर्गवास हो गया। प्रियजनों

[1] **एफ० एच० हम्फ्रीज द्वारा लन्दन में एक मित्र को लिखे गये पत्र से और उसके द्वारा लन्दन के इण्टरनेशनल साइकिक गजट में प्रकाशित।**

के इस वियोग से उसका हृदय संतप्त हो उठा, उनकी स्मृति से उसकी छाती फटी जाती थी, उसे कहीं शान्ति प्राप्त नहीं होती थी। जिस स्थान में उसने सुख-समृद्धि के दिन देखे थे, जिन लोगों के बीच वह इतनी प्रसन्न थी, वे सब उसे काटने लगे। यह सोचकर कि शायद साधु-सन्तों की सेवा से उसका कष्ट दूर हो जाय, वह महाराष्ट्र स्थित गोकर्णम् गयी परन्तु उसकी मनोव्यथा लेशमात्र भी कम न हुई। कुछ मित्रों ने उससे तिरुवन्नामलाई के एक तरुणस्वामी की चर्चा की और कहा कि वह शान्ति के इच्छुकों को शान्ति प्रदान करते हैं। वह एकदम तिरुवन्नामलाई के लिए चल पड़ी। नगर में उसके कुछ सम्बन्धी रहते थे परन्तु वह उनके पास नहीं गयी क्योंकि उनके दर्शन से ही, उसे कटु स्मृतियाँ स्मरण हो आतीं। एक सहेली के साथ वह पहाड़ी पर चढ़कर स्वामी के पास गयी। वह बिना अपना दुःख बताये, उनके सामने मौन होकर खड़ी हो गयी। कष्ट-कथा वर्णन करने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। स्वामी की आँखों में प्रकाशमान करुणा उसके लिए अत्यन्त शान्तिप्रद सिद्ध हुई। पूरा एक घण्टा वह खड़ी रही, उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला, इसके बाद वह नीचे पहाड़ी की ओर शहर में गयी, उसके दुःख का भार हल्का हो चुका था।

इसके बाद वह प्रतिदिन स्वामी के दर्शनों के लिए जाने लगी। स्वामी वह सूर्य थे जिसने उसके शोक की घटाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया था। वह बिना किसी कड़वाहट के अपने स्नेहीजनों को भी स्मरण कर सकती थी। उसने अपना शेष जीवन तिरुवन्नामलाई में बिताया। उसने वहाँ एक छोटा-सा घर ले लिया। उसके पिता कुछ पैसा छोड़ गये थे और उनके भाइयों ने भी उसकी सहायता की और वहाँ आने वाले अनेक भक्तजन उसके आतिथ्य का लाभ उठाने लगे। वह प्रतिदिन भगवान् के लिए भोजन तैयार करती थी जिसका अर्थ था वह सारे आश्रम के लिए भोजन तैयार करती थी, क्योंकि भगवान् कोई भी ऐसी वस्तु स्वीकार न करते जो सब में बराबर न बाँटी जाती। जब तक वह बूढ़ी नहीं हो गयी और उसका स्वास्थ्य खराब नहीं हो गया वह स्वयं भोजन लेकर पहाड़ी की ओर जाती और जब तक सब आश्रमवासियों को न परोस देती तब तक स्वयं न खाती। आश्रमवासियों की संख्या के बढ़ने के साथ सामान्य भोजन में उसका योगदान बहुत छोटा हो गया। परन्तु जब कभी उसे देर हो जाती श्रीभगवान् उसके आने तक प्रतीक्षा करते ताकि वह निराश न हो।

इतने महान् दुःख में से गुजरने और शान्ति लाभ करने के बाद, नया सम्बन्ध बनाने के लिए उसमें वात्सल्य की धारा अभी विद्यमान थी। उसने भगवान् की अनुमति लेकर ही एक कन्या को गोद ले लिया। समय आने

पर उसने उसके विवाह का प्रबन्ध किया और पौत्र के जन्म पर, जिसका नाम उसने रमण रखा था, बहुत खुशियाँ मनायीं। और एक दिन, जबकि वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकती थी, उसे तार मिला कि उसकी गोद ली हुई लड़की का देहान्त हो गया है। पुराना दुःख फिर हरा हो उठा। वह तार लेकर भागी-भागी पहाड़ी की ओर श्रीभगवान् के चरणों में गयी। उन्होंने आँखों में आँसू भरे हुए पत्र पढ़ा, उसे सांत्वना प्रदान की परन्तु वह शोकातुर महिला पुत्री के दाह-संस्कार के लिए चल पड़ी। वह पौत्र रमण के साथ वापस लौटी और उसने उसे श्रीरमण की गोद रख दिया। जैसे ही उन्होंने बच्चे को लिया उनकी आँखों में आँसू उमड़ आये और उनकी करुणा ने उस महिला को शान्ति प्रदान की।

अचम्माल यौगिक अभ्यास किया करती थी जिसकी दीक्षा उसने एक उत्तर भारतीय गुरु से ली थी। वह अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर जमा लेती और समाधिस्थ होकर अलौकिक प्रकाश के स्रोत प्रभु के चिन्तन में लीन हो जाती, कई बार तो घण्टों तक अविचल भाव से बैठी रहती, उसे अपने शरीर की भी सुध-बुध न रहती। श्रीभगवान् को इस सम्बन्ध में बताया गया परन्तु वह मौन रहे। अन्त में उसने स्वयं उन्हें बताया और उन्होंने उसे इस क्रिया के लिए हतोत्साहित किया। "तुम्हें अपने बाहर जो प्रकाश दिखायी देता है, वह तुम्हारा वास्तविक लक्ष्य नहीं है। तुम्हारा ध्येय आत्म-साक्षात्कार का होना चाहिए, इससे कम जरा भी नहीं।" इसके बाद उसने यह अभ्यास बन्द कर दिया और वह एकमात्र श्रीभगवान् पर निर्भर रहने लगी।

एक बार एक उत्तर भारतीय शास्त्री विरूपाक्ष कन्दरा पर श्रीभगवान् के साथ वार्तालाप कर रहे थे कि वहाँ अचम्माल भोजन लेकर पहुँची। वह अत्यन्त उद्वेलित थी और काँप रही थी। जब उससे इसका कारण पूछा गया तो उसने कहा कि जब वह सद्गुरुस्वामी की कन्दरा के पास से गुजर रही थी, उसे ऐसा लगा कि श्रीभगवान् तथा एक अन्य अजनबी व्यक्ति मार्ग में खड़े हैं। वह अपने रास्ते पर चलती गयी परन्तु उसे एक आवाज सुनायी दी, "दूर क्यों जाती हो, जब मैं यहाँ हूँ।" वह देखने के लिए वापस मुड़ी परन्तु वहाँ कोई नहीं था। वह भय से जल्दी-जल्दी भागकर आश्रम पहुँच गयी।

शास्त्री यकायक चिल्ला उठे, "स्वामिन्! आप यहाँ मुझसे बातें कर रहे हैं, और इस महिला के आगे भी मार्ग में प्रकट हो रहे हैं; मुझ पर तो आप इस प्रकार की कृपादृष्टि नहीं करते।" और श्रीभगवान् ने कहा कि तथ्य यह है कि अचम्माल को मैं इसलिए दिखायी दिया क्योंकि इसका ध्यान निरन्तर मेरी ओर रहता है।

अचम्माल ही अकेली ऐसी महिला नहीं थी जिसे श्रीभगवान् दिखायी दिया करते थे। मुझे ऐसा अन्य कोई उदाहरण ज्ञात नहीं है जब स्वामीजी के इस प्रकार दिखायी देने से किसी के मन में भय पैदा हुआ हो। कुछ वर्ष बाद एक पाश्चात्य वृद्ध दर्शक पहाड़ी के नीचे स्थित आश्रम में पधारे थे। दोपहर के भोजन के बाद वह पहाड़ी में घूमने निकल पड़े परन्तु अपना रास्ता भूल गये। वह धूप और श्रम के कारण बहुत थक चुके थे, उन्हें यह नहीं सूझ रहा था कि किस ओर जायँ, उनकी दशा अत्यन्त निराशाजनक थी, कि इस समय श्रीभगवान् उनके पास से गुजरे और उन्होंने उन्हें आश्रम का रास्ता दिखाया। आश्रम के लोग उन वृद्ध सज्जन के सम्बन्ध में बहुत चिन्तित थे। जब वह वापस आये तब आश्रमवासियों ने उनसे सारी घटना पूछी। उन्होंने कहा, "मैं पहाड़ी पर सैर करने गया था और रास्ता भूल गया। मैं धूप और थकान सहन नहीं कर सका और मेरी अत्यन्त बुरी हालत हो गयी। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ था कि इतने में भगवान् वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने मुझे आश्रम का रास्ता बताया।" आश्रमवासी अत्यन्त विस्मय में थे क्योंकि भगवान् उस महाकक्ष से कभी बाहर नहीं गये थे।

काठमाण्डू, नेपाल में त्रिचन्द्र कालेज के प्रिन्सिपल श्री रुद्रराज पाण्डे, तिरुवन्नामलाई से प्रस्थान करने से पूर्व, अपने एक मित्र के साथ, नगर के महान् देवालय में पूजा करने के लिए गये।

> "अन्दर के देवालय के द्वार खोल दिये गये और हमारा मार्गदर्शक हमें भीतरी भाग की ओर ले गया जहाँ अँधेरा था। हमारे सामने कुछ गज की दूरी पर एक छोटी मोमबत्ती झिलमिल कर रही थी। मेरे तरुण साथी के कण्ठ से यकायक निकल पड़ा 'अरुणाचल'। उस पवित्र स्थल में मेरा समस्त ध्यान लिङ्गम् (जो उस देवाधिदेव शाश्वत और अनभिव्यक्त सत्ता का प्रतीक है) के दर्शन की ओर केन्द्रित हो गया। परन्तु बड़ी अद्भुत बात है कि लिङ्गम् के स्थान पर मुझे महर्षि भगवान् श्रीरमण की मूर्ति दिखायी देने लगी, उनका वह स्थिर बदन और देदीप्यमान नेत्र मेरी ओर थे। और इससे अधिक विचित्र बात यह है कि यह एक महर्षि नहीं था, जिसे मैं देख रहा था, न दो या तीन महर्षि थे, मैं सहस्त्रों की संख्या में वही स्थिर बदन और देदीप्यमान नेत्र देखने लगा। जिधर ही मैं उस पुनीत स्थल में दृष्टि डालता मुझे यह सब कुछ दिखायी देता। मुझे महर्षि की पूरी आकृति नहीं दिखायी देती थी, केवल ठोड़ी से ऊपर उनका हँसता हुआ चेहरा दिखायी देता था। मेरे आनन्द का पारावार न रहा—मैंने जिस अनुपम आनन्द और शान्ति का अनुभव

किया, वह वर्णनातीत है। मेरे गालों पर आनन्दाश्रु बहने लगे। मैं भगवान् अरुणाचल के दर्शनों के लिए मन्दिर में गया और मैं साक्षात् जीवित भगवान् का प्रसादभाजन बना। मुझे उस प्राचीन मन्दिर में जो गहरी अनुभूति हुई, उसे मैं कदापि विस्मृत नहीं कर सकता।"[1]

तथापि श्रीभगवान् इस प्रकार के दर्शनों में दिलचस्पी या उनके लिए इच्छा को कभी प्रोत्साहित नहीं करते थे, न ही ये दर्शन सभी भक्तों या शिष्यों को होते थे।

इस समय श्रीभगवान् के सर्वाधिक श्रद्धालु भक्तों में से एक शेषाद्रिस्वामी थे। ये वही शेषाद्रिस्वामी थे, जिन्होंने श्रीभगवान् की स्कूल के विद्यार्थियों से रक्षा की थी, जब वे सर्वप्रथम तिरुवन्नामलाई आये थे। वे अब विरूपाक्ष कन्दरा से नीचे पहाड़ी पर रहते थे और वहाँ अक्सर जाया करते थे। वे बहुत ऊँची आध्यात्मिक स्थिति में पहुँच चुके थे। उनमें देवोपम आकर्षण और सौन्दर्य था, जो उनके विद्यमान चित्रों में दिखायी देता है। वे पक्षियों के सदृश स्वतन्त्र और सबसे न्यारे दिखायी देते थे। प्रायः उन तक लोगों की पहुँच नहीं हो पाती थी, वह प्रायः मौन रहते थे और जब कभी बोलते थे तो वह प्रायः समझ से परे और पहेलियों से भरा होता था। उन्होंने १७ वर्ष की आयु में घर छोड़ दिया था और उन मन्त्रों तथा जप की दीक्षा ली थी, जिनसे रहस्यमयी सिद्धियों का विकास होता है। कभी-कभी वे शक्ति की सिद्धि के लिए रात भर श्मशान में बैठे रहते थे।

न केवल वे हमेशा भक्तों को रमण स्वामी, जैसा कि वे उन्हें पुकारते थे, के पास जाने के लिए प्रोत्साहित करते थे बल्कि कई अवसरों पर वे अपने को रमण स्वामी के साथ एकरूप समझते थे। वे दूसरों के विचार जान जाते और अगर श्रीभगवान् ने किसी भक्त से कोई बात कही होती तो वे कहा करते थे, "मैंने तुमसे ऐसा-ऐसा कहा था, तुम फिर क्यों पूछते हो ?" या "तुम इस पर आचरण क्यों नहीं करते।" वे किसी मन्त्र की दीक्षा तो बहुत ही कम देते थे और अगर वह निवेदक पहले से ही रमण स्वामी का भक्त होता तो वे हमेशा इन्कार कर देते थे, उसे वहाँ जाने के लिए कहते जहाँ सबसे बड़ा उपदेश मौन मार्गदर्शन का मिलता।

एक ही अवसर ऐसा आया जब उन्होंने वस्तुतः एक भक्त को सक्रिय साधना के लिए प्रेरित किया। इस व्यक्ति का नाम सुब्रह्मण्य मुदाली था जो अपनी पत्नी और माता के साथ मिलकर, अपनी अधिकांश आय उन साधुओं

---

[1] **स्वर्ण-जयन्ती स्मृति-चिह्न, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १६६।**

के लिए, जिन्होंने संसार का परित्याग कर दिया था, भोजन तैयार करने में व्यय कर दिया करता था। अचम्माल की तरह वे प्रतिदिन श्रीभगवान् और उनके आश्रमवासियों के लिए, और शेषाद्रिस्वामी के लिए भी अगर वे मिल जायँ, भोजन ले जाया करते थे। साथ ही साथ सुब्रह्मण्य एक जमींदार था और मुकदमेबाजी में फँसा हुआ था और अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की कोशिश कर रहा था। शेषाद्रिस्वामी को इस बात से बहुत दुःख हुआ कि इतना बड़ा भक्त संसार के माया-मोह में आसक्त है। उन्होंने उसे आदेश दिया कि वह इस प्रकार की सांसारिक चिन्ताओं का सर्वथा परित्याग कर दे, अपने को पूर्णतः भगवान् के प्रति समर्पित कर दे तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयास करे। उन्होंने उससे कहा, "देखो मेरे छोटे भाई की आय १० हजार रुपये है, और मेरी १ हजार रुपये है; तुम कम से कम १०० रुपये की आय के लिए तो कोशिश करो।" 'छोटा भाई' से उनका अभिप्राय रमण स्वामी से और 'आय' से अभिप्राय आध्यात्मिक उन्नति से था। परन्तु जब सुब्रह्मण्य न माने, शेषाद्रि-स्वामी ने हठ किया और उन्हें चेतावनी दी कि वे ब्रह्म-हत्या का पाप कर रहे हैं। सुब्रह्मण्य को श्रीभगवान् में अधिक आस्था थी इसलिए उन्होंने उनसे पूछा कि क्या यह सत्य है। श्रीभगवान् ने कहा, "हाँ, आप अपने ब्रह्म-स्वरूप को भूलकर ब्रह्म-हत्या के भागी बन रहे हैं।"

एक बार का जिक्र है कि शेषाद्रिस्वामी आम्र-कन्दरा में श्रीभगवान् के विचारों को जानने के लिए उन पर दृष्टि स्थिर करके बैठ गये। परन्तु श्रीभगवान् तो आत्मा की अनन्त शान्ति में लीन थे, उनमें विचार की कोई तरंग उठती ही न थी। इससे शेषाद्रिस्वामी चकित हो गये और उन्होंने कहा, "यह स्पष्ट नहीं है कि श्रीभगवान् क्या सोच रहे हैं।"

श्रीभगवान् मौन रहे। कुछ देर रुकने के बाद शेषाद्रिस्वामी ने कहा, "अगर कोई भगवान् अरुणाचल की पूजा करे तो उसे मुक्ति मिल जायगी।"

और तब भगवान् ने प्रश्न किया, "वह कौन है जो पूजा करता है और किसकी पूजा की जाती है।"

शेषाद्रिस्वामी हँस पड़े, "यही बात तो स्पष्ट नहीं है।"

तब श्रीभगवान् ने विस्तार से उस एक आत्मा के सम्बन्ध में बताया जो विश्व के सब रूपों में अभिव्यक्त हो रही है और फिर भी अनभिव्यक्त है और अभिव्यक्ति में उसमें जरा भी परिवर्तन नहीं आता। यही एकमात्र सत्य है। शेषाद्रिस्वामी ने बड़े ध्यान से इसे सुना, अन्त में वह उठ खड़े हुए और उन्होंने कहा, "मैं कुछ नहीं कह सकता। यह सब मेरी समझ से परे है तथापि मैं पूजा करता हूँ।"

इतना कहकर उन्होंने गिरि-श्रृंग की ओर मुँह किया, बार-बार वह इसे साष्टांग प्रणाम करने लगे और फिर वहाँ से चले गये।

शेषाद्रिस्वामी भी कभी-कभी उस एकता के दृष्टिकोण से भाषण करते, वह सब वस्तुओं को आत्मा की अभिव्यक्ति समझते, परन्तु वह जिस भी दृष्टिकोण से भाषण करते, उसमें शुष्क और व्यग्र परिहास का पुट होता। एक दिन किसी नारायणस्वामी ने उन्हें एक भैंस की ओर घूरते हुए देखा और पूछा, "स्वामी, किसे देख रहे हैं ?"

"मैं इसे देख रहा हूँ।"

उसने आग्रहपूर्वक कहा, "क्या यह भैंस है, जिसे स्वामी देख रहे हैं ?"

और तब भैंस की ओर इशारा करते हुए शेषाद्रिस्वामी ने उससे कहा, "मुझे बताओ यह क्या है ?"

उसने भोलेपन से उत्तर दिया, "यह भैंस है।" इस पर शेषाद्रिस्वामी चिल्ला उठे, "क्या यह भैंस है ? भैंस ? तुम भैंस होगे। इसे ब्राह्मण कहो !" इतना कहकर वह मुड़ पड़े और दूर चले गये।

जनवरी १९२९ में शेषाद्रिस्वामी का स्वर्गवास हुआ। सन्तों की तरह, उनका शरीर जलाया नहीं गया बल्कि इसे दफनाया गया। श्रीभगवान् मौन भाव से यह सब देखते रहे। अब भी तिरुवन्नामलाई में शेषाद्रिस्वामी की पूजा की जाती है और उनके मृत्यु-समारोह के अवसर पर उनके चित्र का सारे नगर में जुलूस निकाला जाता है।

श्रीभगवान् ने पहाड़ी पर जो प्रारम्भिक वर्ष व्यतीत किये, उस दौरान वे धीरे-धीरे बाह्य क्रियाकलाप की ओर अभिमुख हो रहे थे। उन्होंने चलना-फिरना, पहाड़ी की छानबीन करना, पुस्तकें पढ़ना और लिखना प्रारम्भ कर दिया था। पद्मनाभ नाम के एक स्वामी थे जिन्हें उनकी लम्बी-लम्बी जटाओं के कारण जटाई स्वामी भी कहते थे। पहाड़ी पर उन्होंने एक आश्रम बना रखा था और उनके पास आश्रम में आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी तथा आयुर्वेद जैसे आध्यात्मिक आधार वाले प्रयोगात्मक ज्ञान सम्बन्धी कई ग्रन्थ थे। श्रीभगवान् पद्मनाभ स्वामी से उनके आश्रम में मिलने जाया करते और इन ग्रन्थों का अवलोकन किया करते। उन्होंने तत्काल ही इन ग्रन्थों की विषय-वस्तु पर इतना अधिक आधिपत्य प्राप्त कर लिया और उसे कण्ठस्थ कर लिया कि वे न केवल इसे दोहरा सकते थे बल्कि इसका सूक्ष्मतम विवरण भी प्रस्तुत कर सकते थे।

पुराणों में ऐसा कहा गया है कि अरुणाचल की उत्तरी ढलान पर, चोटी के निकट अरुणागिरि योगी के नाम से विख्यात एक सिद्ध पुरुष एक पीपल के

वृक्ष के नीचे मौन भाव से उपदेश देते हुए, ऐसे स्थान पर बैठे हुए हैं जहाँ पहुँचना लगभग असम्भव है। तिरुवन्नामलाई के भव्य मन्दिर में उनकी पवित्र स्मृति में एक मण्डप बना हुआ है। कहानी में ऐसा वर्णित है कि यद्यपि अरुणाचल मौन दीक्षा के माध्यम से लोगों को आत्म-अन्वेषण के मार्ग पर मुक्ति की ओर ले जाते हैं तथापि उनकी यह कृपादृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि से अन्धकारावच्छन्न इस युग के लोगों के लिए अप्राप्य हो गयी थी। तथापि, कहानी का प्रतीकात्मक अर्थ इसे शाब्दिक रूप से असत्य नहीं ठहराता। १९०६ के लगभग एक दिन जब श्रीभगवान् पहाड़ी की उत्तरी ढलान पर घूम रहे थे कि उन्हें एक शुष्क जलधारा में एक बड़ा-सा पीपल के वृक्ष का पत्ता दिखायी दिया। यह पत्ता इतना बड़ा था कि इस पर भोजन परोसा जा सकता था। उन्होंने यह अनुमान लगाया कि इस पत्ते को पानी नीचे बहा लाया होगा। और उस वृक्ष को, जिस पर इतने बड़े पत्ते लगते होंगे देखने की इच्छा से उन्होंने बाद में एक अवसर पर पहाड़ी पर चढ़कर उस जलधारा तक पहुँचने का निश्चय किया। ऊबड़-खाबड़ और दुर्गम पहाड़ी पर चढ़ने के बाद वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ से एक विशाल चपटी शिला दिखायी दी। इस चट्टान पर वह विशाल और हरा-भरा पीपल का वृक्ष था जिसकी वह तलाश में थे। उन्हें उस नंगी शिला पर उस वृक्ष को देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्होंने चढ़ना जारी रखा। परन्तु जैसे ही वे निकट पहुँचने वाले थे, उनकी टाँग के स्पर्श से भिड़ों का एक छत्ता भड़क उठा। भिड़ उड़ने लगे और उन्होंने प्रतिशोध के क्रोध में उनकी टाँग पर धावा बोल दिया। श्रीभगवान् शान्त भाव से खड़े रहे। उन्होंने अत्यन्त नम्र भाव से भिड़ों के छत्ते को नष्ट करने के परिणामस्वरूप मिलने वाले उस दण्ड को स्वीकार किया। परन्तु इस संकेत से उन्होंने आगे न बढ़ने का निश्चय किया और वे कन्दरा में वापस लौट आये। उन्हें गये हुए बहुत देर हो गयी थी इसलिए भक्तजन अत्यन्त चिन्तित हो रहे थे। जब उन्होंने श्रीभगवान् को देखा तो वे उनकी फूली हुई टाँग को देखकर अत्यन्त भयभीत हो गये। उन्होंने उस अगम्य पीपल के वृक्ष की ओर संकेत किया। वे फिर कभी उस ओर नहीं गये। उनके जो भक्तजन उस वृक्ष तक पहुँचना चाहते थे, उन्हें भी उन्होंने निरुत्साहित किया।

एक बार भक्तों के एक दल ने, जिसमें थॉमसन नामक एक अंग्रेज भी थे, उस वृक्ष तक पहुँचने का संकेत किया। कुछ देर तक अन्धाधुन्ध बढ़ने के बाद वे इतनी कठिन स्थिति में पड़ गये कि न तो उनमें ऊपर जाने की हिम्मत रही और न नीचे उतरने की। उन्होंने सहायता के लिए भगवान् से प्रार्थना की और किसी प्रकार सुरक्षित आश्रम वापस लौट आये। उन्होंने फिर कभी कोशिश नहीं की। दूसरों ने भी प्रयास किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

यद्यपि श्रीभगवान् किसी कार्य को निन्दनीय ठहराते थे तथापि बहुत कम अवसरों पर वह स्पष्टतः इसके लिए निषेध करते थे। वह यह समझते थे कि क्या उचित है और क्या अनुचित, यह अन्तरात्मा ही बता सकती है। वर्तमान उदाहरण में उनके भक्तों के लिए स्पष्टतः यह अनुचित था कि वे वह कार्य करें, जिसके लिए उनके स्वामी ने उन्हें मना किया है।

एक समय ऐसा था जब भगवान् अक्सर पहाड़ी पर घूमते, इसकी चोटी पर चढ़ते और इसकी प्रदक्षिणा करते ताकि वे इसके प्रत्येक भाग से परिचित हो सकें। एक दिन जब वह अकेले घूम रहे थे, वह एक वृद्ध महिला के पास से गुजरे। यह महिला पहाड़ी पर लकड़ियाँ इकट्ठी कर रही थी। वह एक साधारण अस्पृश्य महिला लगती थी परन्तु उसने एक सवर्ण हिन्दू के समान अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक स्वामी को सम्बोधित करते हुए अस्पृश्य जनोचित भाषा में कहा, "तुम्हारा सत्यानाश हो ! तुम इस तरह गरमी में क्यों घूम रहे हो ! तुम शान्त होकर क्यों नहीं बैठते ?"

अब श्रीभगवान् ने इस घटना की चर्चा अपने भक्तों से करते समय कहा, "यह साधारण औरत नहीं हो सकती। कौन जानता है, वह कौन थी।" निश्चय ही किसी अछूत औरत को स्वामी से इस प्रकार बोलने का साहस न होता। भक्तों का यह कहना था कि यह निश्चय ही कोई अरुणगिरि का सिद्ध, अरुणाचल की आत्मा हो। तब से श्रीभगवान् ने पहाड़ी पर घूमना छोड़ दिया।

जब श्रीभगवान् सर्वप्रथम तिरुवन्नामलाई गये, जैसा हमने पहले वर्णन किया है, वे कभी-कभी परमानन्द की अवस्था में घूमने निकल पड़ते थे। लगभग १९१२ तक, जबकि उन्हें मृत्यु का अन्तिम और पूर्ण अनुभव हुआ, भ्रमण की उनकी यह आदत कुछ-कुछ बनी रही। एक दिन प्रातःकाल वे पलानीस्वामी, वासुदेव शास्त्री तथा अन्य भक्तजनों के साथ विरूपाक्ष कन्दरा से पचैयामान कामता के लिए चल पड़े। वहाँ उन्होंने तैल-स्नान किया। जब वह वापसी पर कच्छप शिला के निकट पहुँचे तब यकायक उन्हें शारीरिक निर्बलता अनुभव होने लगी। बाद में उन्होंने इस प्रकार इसका वर्णन किया :

> "मेरे आगे का दृश्य लुप्त हो गया, मानो मेरी आँखों के आगे एक चमकीला सफेद परदा आ गया हो और मेरी आँखों को उसने ढक लिया हो। मैं इस क्रमिक प्रक्रिया को स्पष्टतः देख सकता था। मेरे सामने एक रंगमंच था, मैं दृश्य का कुछ भाग स्पष्टतः देख सकता था, जबकि शेष अग्रिम परदे से ढका था। यह इस प्रकार था मानों सैरबीन (स्टीरियोस्कोप) में किसी के नेत्रों के आगे स्लाइड आ गयी हो। इस प्रकार अनुभव

करने के बाद, मैंने चलना बन्द कर दिया ताकि मैं कहीं गिर न पड़ूँ। जब यह साफ हो गया मैंने चलना शुरू कर दिया। जब दूसरी बार मेरी आँखों के आगे अँधेरा छा गया और मुझे कमजोरी महसूस होने लगी मैं एक शिला का सहारा लेकर तब तक खड़ा रहा जब तक मेरी आँखों के आगे से यह अँधेरा छँट नहीं गया। जब तीसरी बार ऐसा हुआ तो मैंने बैठ जाना ही उचित समझा इसलिए मैं शिला के पास बैठ गया। तब उस चमकीले सफेद पर्दे के कारण मेरा देखना बिलकुल बन्द हो गया, सिर चकराने लगा, खून का दौरा बन्द हो गया और साँस रुक गयी। मेरी त्वचा नीली-काली पड़ गयी। यह मौत का रंग था। यह गहरा और गहरा होता गया। तथ्य तो यह है कि वासुदेव शास्त्री ने मुझे मृत समझ लिया, अपनी गोद में ले लिया और मेरी मृत्यु का शोक मनाते हुए जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया।

"मुझे वासुदेव शास्त्री के आलिंगन और उनकी कँपकँपी का स्पष्ट अनुभव हो रहा था, उनके विलाप के शब्द स्पष्ट सुनायी पड़ रहे थे और उनका अर्थ मेरी समझ में आ रहा था। मुझे अपनी त्वचा का रंग उड़ता हुआ दिखायी दिया और ऐसा लगा कि खून का दौरा बन्द हो रहा है, साँस रुक रही है और शरीर ठण्डा होता जा रहा है। इस स्थिति में भी मेरा सामान्य चैतन्य बना हुआ था। मुझे जरा भी भय नहीं था और शरीर की इस अवस्था पर मुझे तनिक भी शोक नहीं था। मैं अपनी सामान्य स्थिति में शिला के निकट बैठा था, अपनी आँखें बन्द कर ली थीं और शिला का सहारा लेकर वहीं बैठा था। बिना खून के दौरे और साँस के मेरा शरीर उसी स्थिति में था। यह अवस्था कोई दस या पन्द्रह मिनट तक रही। तब यकायक मेरे शरीर में कम्पन की एक लहर दौड़ पड़ी, प्रबल शक्ति के साथ खून का दौरा और साँस चालू हो गयी और शरीर के प्रत्येक अंग से पसीना छूटने लगा। त्वचा पर जीवन का रंग पुनः प्रकट हो गया था। मैंने तब अपनी आँखें खोलीं और उठ खड़ा हुआ। मैंने कहा, "चलो, अब चलें।" हम बिना किसी और बाधा के विरूपाक्ष कन्दरा पर पहुँच गये। यही एकमात्र दौरा मुझे पड़ा जिसमें मेरा खून का दौरा और साँस दोनों रुक गये थे।"

तब बाद में, जो गलत विवरण फैलने लगे थे, उन्हें दूर करने के लिए उन्होंने यह वक्तव्य दिया :

"मैं किसी प्रयोजन से अपने को दौरे की हालत में नहीं लाया था और न ही मैं यह देखना चाहता था कि मृत्यु के बाद मेरे शरीर की क्या

अवस्था होगी । न ही मैंने यह कहा था कि दूसरों को चेतावनी दिये बिना मैं इस शरीर का त्याग नहीं करूँगा । यह उन दौरों में से था, जो मुझे कभी-कभी पड़ा करते थे । केवल इस बार दौरे ने भयंकर रूप धारण कर लिया था ।''

इस अनुभव के सम्बन्ध में शायद सबसे अधिक विशिष्ट बात यह है कि यह श्रीभगवान् के आध्यात्मिक जागरण के फलस्वरूप समुत्पन्न मृत्यु के समय की सहिष्णुता की आवृत्ति है, जो वास्तविक शारीरिक प्रदर्शन द्वारा प्रकट हो रही है । इससे हमें थायुमनावर कवि के उस पद का पुनः स्मरण हो आता है, जिसे श्रीभगवान् प्रायः उद्धृत किया करते थे : ''जब व्यक्ति उस सर्वव्यापिनी सत्ता से जिसका न आदि है, न अन्त और न मध्य, अभिभूत हो जाता है, तब उसे अद्वैत आनन्द की अनुभूति होती है ।''

इससे श्रीभगवान् के बाह्य सामान्य जीवन की ओर वापसी की प्रक्रिया की पूर्णता सूचित होती है । श्रीभगवान् अपनी जीवन-पद्धति में कितने सामान्य और मानवीय थे, इस सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है । परन्तु इसका वर्णन आवश्यक है क्योंकि उनकी पूर्व कठोर तपस्या से किसी का यह विचार बन सकता है कि उनका रूप भयानक और घृणास्पद होगा । इसके विपरीत उनकी जीवन-पद्धति स्वाभाविक और सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त थी । नवागन्तुक उनके सान्निध्य में तत्काल ही अपने को सुखद स्थिति में अनुभव करने लगता था । उनकी बातचीत में हमेशा हास-परिहास का पुट रहता था । उनका बाल-सुलभ हास्य इतना प्रभावी था कि जो उनकी भाषा नहीं भी समझते थे, वे भी इसका आनन्द लेते थे ।

श्रीभगवान् और उनका आश्रम अत्यन्त स्वच्छ थे । जब एक नियमित आश्रम की स्थापना हो गयी तब इसका कार्य कार्यालय की तरह समय-सारणी के अनुसार चलने लगा । घड़ियों का समय बिलकुल ठीक रखा जाता था और दैनिक कार्यक्रम सर्वथा निर्धारित होता था । किसी वस्तु का अपव्यय नहीं किया जाता था । एक बार एक सेवक को श्रीभगवान् ने इसलिए डाँटा क्योंकि वह पुस्तक पर चढ़ाने के लिए नया कागज ले आया था । जबकि पहले कटे हुए कागज का भी प्रयोग किया जा सकता था । भोजन के सम्बन्ध में भी यही बात थी । जब श्रीभगवान् भोजन कर चुकते थे, उनकी पत्तल पर चावल का एक भी दाना जूठन के रूप में नहीं दिखायी देता था । सब्जी के डण्ठल और पत्ते पशुओं के खाने के लिए रख दिये जाते थे, उन्हें फेंका नहीं जाता था ।

श्रीभगवान् स्वभावतः अत्यन्त सरल और विनम्र थे । जिन बातों पर उन्हें क्रोध आता था, उनमें से एक यह भी थी । खाना परोसने के थोड़ी-सी

समय यदि उनके सामने कोई स्वादिष्ट वस्तु दूसरों की अपेक्षा अधिक मात्रा में परोसी जाती तो वे क्रोधित हो उठते। महाकक्ष में प्रवेश करते समय वह लोगों का अपने सम्मान में उठ खड़े होना पसन्द नहीं करते थे और उनसे अपने स्थानों पर बैठे रहने का संकेत करते थे। एक बार वह दोपहर को धीरे-धीरे नीचे पहाड़ी पर स्थित आश्रम की ओर जा रहे थे। उनका कद लम्बा और रंग स्वर्ण-सदृश था। बाल पहले ही सफेद हो चुके थे। वह अत्यन्त कृशकाय दिखायी देते थे। गठिया के कारण वे झुककर और लाठी का सहारा लेकर चल रहे थे। उनके साथ छोटे कद का, श्याम वर्ण का एक सेवक था। पीछे से उनका एक भक्त आ रहा था, इसलिए वह यह कहते हुए एक ओर हो गये, "तुम तरुण हो, और जल्दी चलते हो, पहले तुम जाओ।" यह एक छोटी-सी शिष्टाचार की बात थी परन्तु भक्त के प्रति गुरु का यह गौरव गरिमामय आचरण था।

ऐसी अनेक कथाएँ हैं। कहाँ तक वर्णन करें। इनमें से कुछ पर बाद में उपयुक्त स्थान पर प्रकाश डाला जायगा। चूँकि अब सामान्य जीवन-पद्धति की ओर वापसी की चर्चा हो रही है, इसलिए यह निर्देश करना आवश्यक है कि उनकी जीवन-पद्धति कितनी सामान्य, कितनी मानवीय और कितनी उदात्त थी।

सातवाँ अध्याय

अ-प्रतिरोध

एक स्थापित धर्म में अ-प्रतिरोध अव्यावहारिक प्रतीत हो सकता है क्योंकि प्रत्येक देश को न्यायालय और पुलिस और कम से कम आधुनिक परिस्थितियों में सेना अवश्य रखनी पड़ती है। धर्म के दायित्व के दो स्तर होते हैं : एक तो निम्नतम दायित्व उन सब व्यक्तियों का जो इसका अनुसरण करते हैं और उन देशों का जहाँ यह स्थापित है और दूसरे पूर्ण दायित्व उन व्यक्तियों का जो स्वर्गिक सुख की खोज में सभी सांसारिक वस्तुओं को तुच्छ समझते हुए धर्मात्माओं द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते हैं। केवल इसी दूसरे और उच्चतर अर्थ में श्रीभगवान् ने एक मार्ग का निर्धारण किया था। इसीलिए वे स्वयं अपने को तथा अपने अनुयायियों को कह सकते थे, "बुराई का प्रतिरोध मत करो।" वे समस्त समाज के लिए किसी सामाजिक नियम की घोषणा नहीं कर रहे थे बल्कि वे अपने अनुयायियों के लिए एक जीवन-पद्धति का संकेत कर रहे थे। यह केवल उन्हीं लोगों के लिए सम्भव है जिन्होंने भगवदिच्छा के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है और जो कुछ उनके सामने आता है उसे वह उचित और आवश्यक रूप में स्वीकार कर लेते हैं भले ही सांसारिक दृष्टिकोण से वह दुर्भाग्य हो। श्रीभगवान् ने एक बार एक भक्त से कहा था, "आप भगवान् को अच्छी चीजों के लिए धन्यवाद देते हो परन्तु आप उसे उन चीजों के लिए धन्यवाद नहीं देते जो आपको बुरी प्रतीत होती हैं, यहीं आप गलती करते हैं।"

यह आपत्ति की जा सकती है कि यह सरल विश्वास श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट एकरूपता के सिद्धान्त से बहुत भिन्न है, परन्तु केवल मानसिक स्तर पर ही इस प्रकार के सिद्धान्तों में संघर्ष होता है। उनका कहना था, "भगवान्, गुरु या आत्मा के प्रति समर्पण ही आवश्यक है।" जैसा कि एक बाद के अध्याय में दिखाया जायगा, समर्पण की ये तीन पद्धतियाँ वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि उस व्यक्ति के लिए जो यह मानता है कि केवल एक ही आत्मा है, सभी बाह्य गतिविधि एक स्वप्न या चलचित्र प्रदर्शन प्रतीत होता है जो आत्मा के उपस्तर पर हो रहा है और वह एक

उदासीन दर्शक की भाँति इसे देख रहा है। बुराई या उत्पीड़न के अवसरों पर श्रीभगवान् की इस प्रकार की धारणा होती थी।

गुरूमूर्त्तम् के बाहर इमली के वृक्ष थे। जब श्रीभगवान् वहाँ रहते थे, वे कभी-कभी किसी एक इमली के वृक्ष के नीचे जाकर बैठा करते थे। एक दिन, जब कोई और व्यक्ति आसपास नहीं था, चोरों का एक दल इमली की पकी फलियाँ चुराने के लिए वहाँ आया। वृक्ष के नीचे तरुण स्वामी को मौन भाव से बैठे हुए देखकर, उनमें से एक कहने लगा, "कहीं से थोड़ा-सा अम्ल रस लाओ और इसकी आँखों में डाल दो, देखें फिर वह बोलता है कि नहीं।" इस रस से, भयंकर दर्द के अलावा, आदमी अन्धा भी हो सकता है, परन्तु स्वामी अचल बैठे रहे, मानो उन्हें अपनी आँखों की और इमली की फली की कोई चिन्ता ही न हो। दल के एक अन्य व्यक्ति ने उत्तर दिया, "इसकी चिन्ता मत करो! यह हमें क्या नुकसान पहुँचायेगा! आओ, हम अपना काम करें।"

पहाड़ी पर, शुरू के वर्षों में कभी-कभी हस्तक्षेप या विरोध होता था। साधुओं की विचित्र दुनिया में, कुछ साधु-ठग भी होते हैं और कुछ ने अपने आवेशों को नियन्त्रित किये बिना, प्रयत्न से कुछ सिद्धियाँ प्राप्त कर ली होती हैं। भक्तों द्वारा दैवी दीप्ति-सम्पन्न तरुण स्वामी की प्रशस्ति के कारण कई साधुओं में विक्षोभ की भावना पैदा होना स्वाभाविक था। हालाँकि अधिकांश साधु श्रीभगवान् के आगे नतमस्तक होते और उनकी कृपा की आकांक्षा करते थे।

पहाड़ी पर एक कन्दरा में एक वृद्ध साधु रहते थे। वह श्रीभगवान् का जब तक वह गुरूमूर्त्तम् में रहे बड़ा सम्मान करते रहे। विरूपाक्ष आने के बाद श्रीभगवान् कभी-कभी उनके दर्शनों के लिए जाते और उनके पास मौन भाव से बैठ जाते। यद्यपि वह तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहे थे और उनके अनुयायी भी थे तथापि वह अभी मानवीय आवेशों पर विजय नहीं पा सके थे। इसीलिए वह यह सहन नहीं कर सकते थे कि तरुण स्वामी के अनुयायियों की संख्या तो बढ़ती जाय और उनके अपने अनुयायियों की संख्या घटती जाय। वह श्रीभगवान् को मारने या भयभीत करके पहाड़ी से भगाने का निश्चय करके सूर्यास्त के बाद विरूपाक्ष के ऊपर पहाड़ी पर छिपकर बैठ गये और शिलाएँ तथा पत्थर नीचे लुढ़काने लगे। श्रीभगवान् अविचल भाव से बैठे रहे, हालाँकि एक पत्थर उनके बिलकुल निकट आ गया। सतत जागरूक भगवान् इस घटना-चक्र से पूर्णतः परिचित थे। एक अवसर पर तो वह जल्दी-जल्दी चुपके से पहाड़ी पर चढ़ गये और उन्होंने उस वृद्ध व्यक्ति को रँगे हाथों पकड़ लिया। फिर भी उस वृद्ध व्यक्ति ने इसे मजाक में उड़ाने की कोशिश की।

जब उस वृद्ध साधु को अपने प्रयत्न में सफलता न मिली तब उसने बाला-

नन्द नामक एक धूर्त की सहायता ली। वह व्यक्ति सुन्दर और पढ़ा-लिखा था। साधु के भेष में लोगों की आँखों में धूल झोंकता था। इस व्यक्ति ने श्रीभगवान् के कारण लाभ उठाना और ख्याति अर्जित करनी चाही। यह सोच कर कि तरुण स्वामी अपनी सन्तवृत्ति के कारण बुराई का प्रतिरोध नहीं करेंगे, उसने उनके गुरु होने का ढोंग रचा। वह दर्शकों से कहने लगा, "यह तरुण स्वामी मेरा शिष्य है।" या "हाँ, बच्चे को कुछ मिठाई दे दो," और वह श्रीभगवान् से कहता, "हाँ, तो मेरे बच्चे वेंकटरमण, मिठाई ले लो।" या वह अपने तथाकथित शिष्य के लिए बाजार जाकर चीजें खरीदने का ढोंग रचता। वह इतना धृष्ट था कि जब वह श्रीभगवान् के साथ अकेला होता तो वह उन्हें उद्दण्ड भाव से कहा करता, "मैं दर्शकों से कहूँगा कि मैं तुम्हारा गुरू हूँ और उनसे पैसे ले लूँगा। इसमें तुम्हारी कोई हानि नहीं, इसलिए तुम मेरा विरोध मत करना।"

इस व्यक्ति के अभिमान और उद्दण्डता का कोई अन्त नहीं था। और एक रात को उसने कन्दरा के बरामदे में टट्टी तक कर दी। अगले प्रात.काल वह अपने फालतू कपड़े, जिनमें कुछ रेशमी और जरीदार थे कन्दरा में छोड़कर बाहर चला गया। श्रीभगवान् ने कुछ नहीं कहा। उस प्रात:काल वह पलानी-स्वामी के साथ एक पवित्र स्थान की यात्रा के लिए चल पड़े और चलने से पहले पलानीस्वामी ने बरामदे को धोया, बालानन्द के कपड़े बाहर फेंक दिये और कन्दरा को ताला लगा दिया।

जब बालानन्द वापस लौटा, वह बहुत क्रुद्ध हुआ। पलानीस्वामी को डाँटते हुए उसने कहा कि उसने उसके कपड़े छूने का साहस कैसे किया। श्रीभगवान् को उसने आदेश दिया कि वह तत्काल ही उसे दूर भेज दें। न तो पलानीस्वामी ने और न श्रीभगवान् ने इसका कोई जवाब दिया या इस ओर ध्यान दिया। क्रोध में बालानन्द ने श्रीभगवान् पर थूक दिया। फिर भी श्रीभगवान् अनुद्विग्न भाव से बैठे रहे। उसके साथ जो शिष्य थे, वह भी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया के बिना शान्त भाव से बैठे रहे। नीचे की कन्दरा में रहने वाले एक भक्त ने यह सब सुन लिया और वह यह चिल्लाता हुआ दौड़ कर आया, "तुम्हारी यह हिम्मत कि तुम स्वामी पर थूको।" इस भक्त को धूर्त बालानन्द पर हाथ उठाने से बड़ी मुश्किल से रोका गया। बालानन्द ने अनुभव किया कि वह बहुत आगे बढ़ गया है और कुशल इसी में है कि वह तिरुवन्नामलाई छोड़ दे। वह डींग मारकर कहने लगा कि पहाड़ी में रहने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। वह वहाँ से चला गया। रेलवे स्टेशन पहुँचकर, वह बिना टिकट लिये दूसरे दरजे के रेल के डिब्बे में घुस गया। एक तरुण

दम्पत्ति भी उसी डिब्बे में थे। उसने उस तरुण को भाषण देना और उस पर हुक्म चलाना शुरू किया। जब उस तरुण ने बालानन्द की ओर कोई ध्यान नहीं दिया तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और कहने लगा, "तुम मेरी बात क्यों नहीं सुनते? इस लड़की के प्रति कामासक्ति के कारण तुम मेरे प्रति समुचित सम्मान प्रदर्शित नहीं कर रहे।" इस पर उस युवक ने अपना जूता निकाला और उसकी खूब अच्छी तरह मरम्मत की।

कुछ महीने बाद बालानन्द लौट आया और फिर उत्पात मचाने लगा। एक अवसर पर तो वह श्रीभगवान् की आँखों की ओर स्थिर दृष्टि करके बैठ गया और कहने लगा कि वह उसे **निर्विकल्प समाधि** (आध्यात्मिक परमानन्द) की दशा में ले जायगा। परन्तु हुआ यह कि उसे नींद आ गयी और श्रीभगवान् तथा उनके शिष्य उठ खड़े हुए और वहाँ से प्रस्थान कर गये। इसके तत्काल बाद बालानन्द के प्रति लोगों की सामान्य धारणा इस प्रकार की हो गयी कि उसने वहाँ से चले जाने में ही अपना कल्याण समझा।

एक और 'साधु' भी था जिसने तरुणस्वामी के गुरू होने का ढोंग रचकर प्रतिष्ठा अर्जित करने का प्रयत्न किया। कालाहस्ती से लौटने के बाद यह साधु कहने लगा, "मैं इतनी दूर से केवल यह देखने आया हूँ कि तुम्हारा हाल-चाल कैसा है। मैं तुम्हें **दत्तात्रेय मन्त्र** की दीक्षा दूँगा।"

श्रीभगवान् न तो हिले और न ही कुछ बोले। उस साधु ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "मुझे स्वप्न में भगवान् प्रकट हुए हैं और उन्होंने तुम्हें उपदेश देने का मुझे आदेश दिया है।"

श्रीभगवान् ने व्यंग्य से पूछा, "तो मुझे भी स्वप्न में भगवान् को प्रकट होने और तुम्हारा उपदेश ग्रहण करने का आदेश लेने दो, फिर मैं इसे ग्रहण कर लूँगा।"

"नहीं, यह उपदेश बहुत छोटा है केवल कुछ अक्षरों का; तुम अभी से प्रारम्भ कर सकते हो।"

"तुम्हारे उपदेश का क्या लाभ होगा जब तक मैं दीक्षा न ले लूँ। इसके लिए कोई उपयुक्त शिष्य ढूँढ़ो। मैं इसके उपयुक्त नहीं हूँ।"

कुछ समय बाद, जब साधु ध्यानमग्न था। श्रीभगवान् उसे ध्यान में दिखायी दिये और कहने लगे, "धोखे में मत आओ।" इससे साधु अत्यन्त भयभीत हो उठा और यह सोचने लगा कि श्रीभगवान् में भी वही सिद्धियाँ होनी चाहिए जिनका वह उनके विरुद्ध प्रयोग कर रहा है। यह विचार आते ही साधु ने क्षमायाचना के लिए तुरन्त विरूपाक्ष की ओर प्रस्थान कर दिया। उसने श्रीभगवान् से प्रार्थना की कि वे उन्हें भूल से छुटकारा दिला दें।

श्रीभगवान् ने उसे आश्वासन दिया कि उन्होंने किसी सिद्धि का प्रयोग नहीं किया था। साधु ने देखा कि श्रीभगवान् में रत्ती-भर भी क्रोध या विक्षोभ का भाव नहीं है।

इस प्रकार के हस्तक्षेप का एक और प्रयास शराबी साधुओं के एक दल ने किया था। एक दिन विरूपाक्ष कन्दरा पर आकर यह साधु सौगन्ध खाकर कहने लगे, "हम पोदीकाई पहाड़ी से आये हैं। यह वह पवित्र पहाड़ी है, जिस पर प्राचीन अगस्त ऋषि अब भी सहस्रों वर्षों से तपस्या कर रहे हैं। उन्होंने हमें आदेश दिया है कि हम पहले आपको श्रीरंगम में सिद्धों के सम्मेलन में ले जायँ और वहाँ से पोदीकाई ले जायँ। वहाँ आपके शरीर से उन लवणों का निष्कासन किया जायगा जो आपकी आध्यात्मिक सिद्धि में बाधक हैं और फिर आपको नियमित दीक्षा दी जायगी।"

श्रीभगवान् ने, जैसा कि इस प्रकार के सब अवसरों पर उनकी आदत थी, कोई जबाब नहीं दिया। किन्तु इस अवसर पर उनके एक भक्त पेरूमल स्वामी ने उन धूर्तों को भी मात दे दी। उसने कहा, "हमें पहले ही आपके आगमन की सूचना मिल चुकी है और यह आदेश मिला है कि आपको कढ़ाहों में रखें और उन्हें आग पर चढ़ा दें।" और दूसरे भक्त को सम्बोधित करते हुए उसने कहा, "जाओ और गढ़ा खोदो जहाँ इन लोगों को आग पर चढ़ाया जाय।" वह शराबी साधु यकायक भाग खड़े हुए।

सन् १९२४ में, जब श्रीभगवान् पहाड़ी की तराई में स्थित वर्तमान आश्रम में निवास कर रहे थे, कुछ चोरों ने उस शाला में सेंध लगायी, जिसमें उनकी माता का स्मारक था। वह कुछ चीजें चुराकर ले गये। कुछ हफ्तों बाद तीन चोर आश्रम में चोरी करने आये।

२६ जून का दिन था और लगभग साढ़े ग्यारह बजे का समय। अँधेरी रात थी। श्रीभगवान् पहले ही माता के स्मारक के सामने वाले महाकक्ष में बने हुए चबूतरे पर विश्राम करने के लिए चले गये थे। चार भक्त खिड़कियों के निकट फर्श पर सो रहे थे। इनमें से दो सेवक कुंजूस्वामी और मस्तान ने बाहर किसी को यह कहते हुए सुना, "अन्दर छः आदमी सो रहे हैं।"

कुंजू चिल्लाया, "वहाँ कौन है ?"

चोरों ने अन्दर के लोगों को डराने के लिए खिड़की तोड़नी शुरू की। कुंजूस्वामी और मस्तान उठे तथा उस चबूतरे की ओर गये जहाँ श्रीभगवान् थे। चोरों ने उस तरफ की एक खिड़की तोड़ी परन्तु श्रीभगवान् अविचल भाव से बैठे रहे। तब कुंजूस्वामी महाकक्ष के उत्तरी द्वार से बाहर निकल गया क्योंकि चोर दक्षिण की ओर थे। वह दूसरी झोंपड़ी में सो रहे, एक भक्त

रामकृष्णस्वामी को सहायता के लिए बुला लाया। जब उसने दरवाजा खोला तब आश्रम के दो कुत्ते, जैक और करुप्पन बाहर दौड़ पड़े। चोरों ने उन्हें और जैक को मारा और भाग खड़े हुए। करुप्पन बचने के लिए दौड़कर महाकक्ष में आ गया।

श्रीभगवान् ने चोरों से कहा कि उनके ले जाने के लिए आश्रम में कोई वस्तु नहीं है, परन्तु वह खुशी से अन्दर आ सकते हैं और जो चाहें ले जा सकते हैं। या तो चोरों ने यह सोचा कि श्रीभगवान् उनके साथ छल कर रहे हैं या वह इतने मूर्ख थे कि अपने दैनिक कृत्य से विरत नहीं हो सकते थे। अस्तु, उन्होंने उनकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु खिड़की का चौखटा उखाड़ने का अपना प्रयास जारी रखा ताकि वह अन्दर घुस जायँ। (जैसा कि आमतौर पर होता है, खिड़कियों में लोहे की छड़ें लगी थीं ताकि कोई अन्दर न घुस सके) चोरों के इस विध्वंस से विक्षुब्ध होकर रामकृष्णस्वामी ने उन्हें चुनौती देने के लिए भगवान् की आज्ञा माँगी। परन्तु उन्होंने उसे यह कहते हुए मना कर दिया, "उनका अपना धर्म है और हमारा अपना। हमारा धर्म सहिष्णुता और क्षमा है। हमें उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"

यद्यपि श्रीभगवान् ने चोरों को द्वार से आने के लिए निमन्त्रित किया तथापि उन्होंने अपने हिंसक तौर-तरीके जारी रखे। उन्होंने यह जताने के लिए कि क्या आश्रमवासियों के पास हथियार हैं, खिड़की पर पटाखे छोड़े। चोरों से अन्दर आने और जो चीज वह चाहें, उठा ले जाने के लिए कहा गया, परन्तु इसका प्रत्युत्तर उन्होंने धमकियों से दिया। इस बीच कुंजूस्वामी महाकक्ष से चले गये थे और सहायता के लिए उन्होंने शहर की ओर प्रस्थान कर दिया था।

रामकृष्णस्वामी ने फिर चोरों से कहा कि वह उत्पात न मचायें और जो कुछ ले जाना चाहें ले जायँ। जवाब में उन्होंने फूस के छप्पर को आग लगाने की धमकी दी। श्रीभगवान् ने उन्हें आग लगाने से रोका और कहा कि वह महाकक्ष उनके हवाले करके स्वयं बाहर जा रहे हैं। यही वह चाहते भी थे, परन्तु अब भी उन्हें डर लग रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि जब वह चोरी कर रहे हों तो दूसरे लोग उन पर टूट पड़ें। श्रीभगवान् ने पहले राम-कृष्णस्वामी से कहा कि वह करुप्पन कुत्ते को दूसरी शाला में सुरक्षित स्थान पर ले जायँ क्योंकि उन्हें यह भय था कि अगर यह अकेला रह गया तो चोर इसे मार डालेंगे। इसके बाद वह तीन अन्य व्यक्तियों, मस्तान, थंगावेलु पिल्ले और मुनिस्वामी, जो आश्रम में पूजा किया करता था, के साथ उत्तरी द्वार

से बाहर निकल गये। चोर छड़ियाँ लेकर दरवाजे में खड़े हो गये और जैसे ही ये लोग बाहर निकले, उन्होंने इन्हें पीटना शुरू कर दिया। या तो वह उनका अंग-भंग करना चाहते थे या उन्हें डराना चाहते थे ताकि वह प्रतिरोध न कर सकें। जब श्रीभगवान् की बायीं जाँघ पर चोरों ने प्रहार किया तब उन्होंने कहा, "अगर आपकी सन्तुष्टि न हुई हो तो आप दूसरी टाँग पर भी प्रहार कर सकते हैं।" श्रीभगवान् की रक्षा के लिए रामकृष्णस्वामी समय पर पहुँच गये।

श्रीभगवान् और उनके भक्तों ने महाकक्ष के उत्तर में स्थित फूस की शाला में (जिसे बाद में नष्ट कर दिया गया) शरण ली। चोर चिल्ला-चिल्लाकर उनसे कहने लगे "यहीं बैठे रहो, अगर तुम लोग यहाँ से हिले तो हम तुम्हारा सिर तोड़ देंगे।"

श्रीभगवान् ने चोरों से कहा, "सारा महाकक्ष आपके कब्जे में है; आप जो चाहें करें।"

एक चोर उनके पास आया और उसने लैम्प माँगा। श्रीभगवान् के आदेश पर रामकृष्णस्वामी ने उसे एक जलता हुआ लैम्प दे दिया। फिर एक चोर आया और उसने अलमारी की चाबियाँ माँगीं परन्तु चाबियाँ कुंजूस्वामी अपने साथ ले गये थे और चोर को यह बता दिया गया। चोरों ने अलमारियाँ तोड़कर खोलीं। उनके हाथ कुछ चाँदी के पत्तरे जो मूर्तियों की सजावट के लिए रखे थे, कुछ आम और थोड़े-से चावल—कुल मिलाकर दस रुपये का सामान हाथ लगा। थंगावेलु पिल्ले के छः रुपये भी चोर ले गये।

चोर थोड़ा-सा सामान हाथ लगने से बहुत निराश हुए। एक चोर छड़ी घुमाता हुआ वापस आया और पूछने लगा, "आपका धन कहाँ है ? आप उसे कहाँ रखते हैं ?"

श्रीभगवान् ने उस चोर से कहा, "हम गरीब साधु हैं, दान के सहारे गुजर-बसर करते हैं, हमारे पास धन कहाँ से आया।" चोर को बड़ी झुंझलाहट हो रही थी और क्रोध आ रहा था, परन्तु वह कर ही क्या सकता था।

श्रीभगवान् ने रामकृष्णस्वामी तथा अन्य भक्तों से अपने घावों की मरहमपट्टी कराने के लिए कहा।

रामकृष्णस्वामी ने पूछा, "स्वामिन् आपका क्या होगा ?"

श्रीभगवान् हँस पड़े और उन्होंने व्यंग्य भाव से उत्तर दिया, "मेरी भी पूजा हुई है।"

श्रीभगवान् की जाँघ के घाव को देखकर रामकृष्णस्वामी को यकायक क्रोध आ गया। उसने पास पड़ी हुई लोहे की एक छड़ उठा ली और स्वामी

से बाहर जाकर यह देखने की आज्ञा माँगी कि चोर क्या कर रहे हैं। परन्तु श्रीभगवान् ने उसे रोक दिया, "हम साधु हैं। हमें अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। अगर तुम बाहर गये और तुमने उन्हें मारा और किसी की मृत्यु हो गयी तो इसके लिए दुनिया हमें दोषी ठहरायेगी न कि उन्हें। वह तो पथभ्रष्ट आदमी हैं और उनकी आँखों पर अज्ञान का परदा पड़ा है, परन्तु हमें तो ठीक रास्ते पर चलना चाहिए। अगर तुम्हारे दाँत यकायक तुम्हारी जबान को काट डालें तो क्या आप उन्हें उखाड़ फेंकेंगे ?"

सवेरे के दो बजे चोर वहाँ से चले गये। कुछ देर बाद कुंजूस्वामी एक ग्राम अधिकारी और दो पुलिस के सिपाहियों के साथ वापस लौटा। श्रीभगवान् अब भी उत्तरी शाला में बैठे हुए थे और अपने भक्तों से आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा कर रहे थे। पुलिस के सिपाहियों ने श्रीभगवान् से घटना के सम्बन्ध में पूछा और उन्होंने केवल इतना ही कहा कि कुछ मूर्ख आदमी आश्रम में घुस आये थे; जब उनके हाथ कुछ नहीं लगा तब वह निराश होकर चले गये। पुलिस वालों ने इसे दर्ज कर लिया और वह ग्राम अधिकारी के साथ वापस चले गये। मुनिस्वामी उनके पीछे दौड़ता हुआ गया और उसने कहा कि चोरों ने स्वामी को तथा अन्य भक्तों को पीटा है। प्रातःकाल सर्कल इंस्पैक्टर, सब-इंस्पैक्टर और एक हैड कांस्टेबल जाँच-पड़ताल करने के लिए आये और बाद में डिप्टी-सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस आये। श्रीभगवान् ने किसी से भी अपनी चोट या चोरी का, जब तक कि उनसे इस बारे में पूछताछ नहीं की गयी, जिक्र नहीं किया। कुछ दिन बाद कुछ चुराई गयी चीजें मिल गयीं, चोर पकड़ लिये गये और उन्हें सजा हो गयी।

आठवाँ अध्याय

माँ

सन् १६००में जब श्रीभगवान् की माँ अपने पुत्र को घर चलने के लिए प्रेरित करने के प्रयत्नों में असफल होकर वापस लौटी तो कुछ अरसे बाद उनके सबसे बड़े पुत्र की मृत्यु हो गयी। दो साल बाद सबसे छोटा पुत्र नागसुन्दरम्, जिसकी आयु अभी १७ वर्ष की थी, प्रथम बार अपने स्वामी भाई के दर्शनों के लिए तिरुवन्नामलाई गया। वह उनके दर्शनों से इतना भावविभोर हो उठा कि उसने स्वामी का आलिंगन किया और जोर-जोर से रोने लगा। श्रीभगवान् मौन भाव से स्थिर बैठे रहे। माँ बनारस की तीर्थयात्रा से वापसी के समय थोड़े अरसे के लिए वहाँ आयी। सन् १६१४ में वह तिरुपति स्थित वेंकटरमणस्वामी देवालय की तीर्थयात्रा पर गयी और वापसी पर फिर तिरुवन्नामलाई ठहरी। इस बार वह वहाँ बीमार हो गयी और कई हफ्ते तक टायफायड की भयंकर पीड़ा उसने सही। श्रीभगवान् ने अत्यन्त विनीतभाव से माँ की सेवा-सुश्रूषा की। अपनी माँ की बीमारी के दौरान उन्होंने कई पदों की रचना की। यही पद घटना-चक्र को प्रभावित करने की उनकी प्रार्थना के एकमात्र ज्ञात उदाहरण हैं।

हे शरणागतों के रक्षक भगवन्! आप जन्मों के पुनरावर्तन से मुक्ति दिलाने वाले हैं। आप ही मेरी माँ के ज्वर को ठीक कर सकते हैं।

हे मृत्यु से छुटकारा दिलाने वाले भगवन्! मुझे जन्म देने वाली माँ के हृदय-कमल में आप प्रकट हों। मैं आपके चरण-कमलों में नत-मस्तक हूँ। आप मेरी माँ की मृत्यु से रक्षा करें। अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मृत्यु कुछ भी नहीं।

ज्ञान के दीप्तिपुंज अरुणाचल! मेरी माँ को अपने प्रकाश से आवृत कर दो और उसे अपने साथ एकाकार कर लो। फिर उसके दाह-संस्कार की क्या आवश्यकता है?

भ्रम को निवारण करने वाले अरुणाचल! आप मेरी माँ के उन्माद का निवारण करने में विलम्ब क्यों कर रहे हैं? प्रभो! आपके सिवा दूसरा ऐसा कौन है जो शरणागत की माता के समान रक्षा करे और उसे कर्म के बन्धन से मुक्त करे?

देखने में तो ऐसा लगता था कि यह माता की रोग-मुक्ति की प्रार्थना है परन्तु वस्तुतः यह उसे भ्रम के महान् रोग से मुक्ति दिलाने और जीवन के उन्माद से छुटकारा दिलाकर आत्मा के साथ एकरूप अनुभव कराने की प्रार्थना थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अलगम्माल ठीक हो गयी। वह मानमदुरा वापस आ गयी परन्तु इस प्रार्थना के बाद परिस्थितियों का चक्र इस प्रकार चला कि वह सांसारिक जीवन से पुनः आश्रम के जीवन में प्रविष्ट हो गयी। तिरुचुजही का पारिवारिक घर कर्जा चुकाने तथा अन्य आवश्यक खर्च पूरे करने के लिए बेच दिया गया था। उसके बहनोई नेल्लियाप्पियर की मृत्यु हो गयी थी और वह परिवार को बहुत बुरी दशा में छोड़ गये थे। सन् १९१५ में उसके सबसे छोटे पुत्र नागसुन्दरम् की पत्नी की मृत्यु हो गयी थी। पीछे वह एक पुत्र छोड़ गयी थी, जिसे उसकी चाची अलामेलु ने गोद लिया था। अब इसकी शादी हो चुकी थी। अलगम्माल ने अनुभव किया कि अब इस वृद्धावस्था में उसका एकमात्र आश्रय-स्थान अपने स्वामी पुत्र के पास ही था। सन् १९१६ के प्रारम्भ में वह तिरुवन्नामलाई गयी।

पहले वह कुछ दिनों के लिए अचम्माल के पास ठहरी। कुछ भक्त उसके श्रीभगवान् के साथ ठहरने के विरुद्ध थे। उन्हें भय था कि कहीं मौन विरोध के परिणामस्वरूप स्वामी वह स्थान छोड़कर न चले जायँ जैसे कि सन् १८९६ में वह घर छोड़कर चले गये थे। पहले की और वर्तमान स्थिति में बहुत अन्तर था क्योंकि अब माँ ने गृह-परित्याग किया था, श्रीभगवान् ने नहीं, जो वहाँ ठहरे हुए थे। श्रीभगवान् की तेजस्विता इतनी प्रभावशालिनी थी कि उनके अनुग्रहपूर्ण व्यवहार के बावजूद, जब इस प्रकार का प्रश्न उठता था कि उनकी क्या इच्छा है, किसी को उनसे प्रत्यक्षतः पूछने का साहस नहीं होता था। अगर कोई पूछता भी था तो वह बिना उत्तर दिये अविचल भाव से बैठे रहते थे क्योंकि उनकी कोई इच्छाएँ नहीं थीं।

जब श्रीभगवान् की माँ उनके पास रहने के लिए आयी तो वह इसके तत्काल बाद विरूपाक्ष से स्कन्दाश्रम चले गये। यह स्थान कुछ ऊँचाई पर और विरूपाक्ष के ठीक ऊपर था। यह बहुत खुली कन्दरा थी और श्रीभगवान् के रहने के लिए बनायी गयी थी। वहाँ एक आर्द्र शिलाखण्ड को देखकर उन्होंने यह अनुमान किया कि वहाँ कोई गुप्त स्रोत है। खुदाई करने और बारूद से जगह उड़ाने के पश्चात् जल का एक प्रवाह फूट पड़ा जो आश्रम तथा कन्दरा के सामने बनाये जाने वाले लघु उद्यान के लिए पर्याप्त था। माँ ने वहाँ भोजन बनाना प्रारम्भ किया और इस प्रकार आश्रम के जीवन में एक नया युग प्रारम्भ हुआ।

अपने छोटे पुत्र को आश्रम में बुलाने की इच्छा से अलगम्माल ने एक भक्त को भेजा। उसने तिरूवेंगडू में अपना काम छोड़ दिया और तिरुवन्नामलाई में रहने के लिए आ गया। पहले वह नगर में ठहरा, अपने किसी मित्र के घर भोजन कर लेता और प्रतिदिन आश्रम जाता। उसने शीघ्र ही संसार परित्याग का निश्चय किया और निरंजनानन्द स्वामी के नाम से गेरुए वस्त्र धारण कर लिये। स्वामी का भाई होने के कारण वह प्रायः 'चिन्नास्वामी' या 'छोटे स्वामी' के नाम से विख्यात थे। कुछ समय तो वह प्रतिदिन भिक्षाटन के लिए नगर में जाते थे परन्तु भक्तों को यह बात अच्छी नहीं लगी कि स्वामी के छोटे भाई शहर जाकर भिक्षा माँगें क्योंकि आश्रम में सब लोगों के लिए पर्याप्त भोजन था। अंततः उन्हें आश्रम में रहने के लिए मना लिया गया।

ऐसा प्रतीत होता था कि श्रीभगवान् पुनः पारिवारिक जीवन में आ गये हैं, उनके परिवार में उनके सब भक्तजन सम्मिलित थे और वस्तुतः वह कभी-कभी उन सबको अपना परिवार कहकर पुकारा करते थे। इसी आभासी असंगति के कारण श्रीभगवान् की माँ और उसका भाई उनके साथ रहने के लिए नहीं आये। एक बार शेषाद्रिस्वामी ने परिहास करते हुए इस ओर निर्देश किया था। एक दर्शक जो उन्हें मिलने के लिए मार्ग में खड़ा हो गया था, ऊपर पहाड़ी पर रमणस्वामी के दर्शनों के लिए जाना चाहता था। उस दर्शक से शेषाद्रिस्वामी ने कहा, "हाँ, देखो ऊपर चले जाओ, वहाँ एक गृह-स्वामी रहते हैं। वहाँ तुम्हारा केक से स्वागत किया जायगा।"

शेषाद्रिस्वामी के परिहास का भाव यह है कि गृहस्थ की स्थिति साधु की स्थिति से निम्न समझी जाती है क्योंकि साधु तो अपने को पूर्णतः भगवान् की खोज में लगा सकता है जबकि गृहस्थी को सांसारिक धन्धे निपटाने होते हैं। घर और सम्पत्ति परित्याग को सत्यान्वेषण की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम समझा जाता है। इसलिए बहुत-से भक्त श्रीभगवान् से संसार-परित्याग के सम्बन्ध में पूछा करते थे। श्रीभगवान् सदा इसे हतोत्साहित किया करते थे। नीचे के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जायगा कि परित्याग निवृत्ति नहीं अपितु प्रेम का विस्तार है।

भक्त : मेरी इच्छा है कि मैं अपना काम छोड़ दूँ और सदा श्रीभगवान् के चरणों में रहूँ।

भगवान् : भगवान् सदा आपके साथ हैं, आप में हैं। आपकी आत्मा भगवान है। आपको इसी का साक्षात्कार करना है।

भक्त : परन्तु मेरी यह उत्कट इच्छा है कि मैं एक संन्यासी के रूप में सभी आसक्तियों को छोड़ दूँ और संसार का परित्याग कर दूँ।

भगवान् : परित्याग का अर्थ वस्त्र-परिवर्तन या गृह-परित्याग से नहीं है। वास्तविक परित्याग तो इच्छाओं, आवेशों और आसक्तियों का परित्याग है।

भक्त : परन्तु भगवान् की हार्दिक भाव से भक्ति संसार-परित्याग के बिना सम्भव नहीं है।

भगवान् : नहीं, जो वस्तुतः संसार का परित्याग करता है, वह संसार में निमग्न हो जाता है और अपने प्रेम की परिधि इतनी विस्तृत कर लेता है कि उसमें समस्त विश्व समा जाता है। गेरुए वस्त्र धारण करने के लिए गृह-परित्याग की अपेक्षा सार्वलौकिक प्रेम के रूप में भक्त की वृत्ति का वर्णन अधिक उपयुक्त होगा।

भक्त : घर पर प्रेम के बन्धन बहुत दृढ़ होते हैं।

भगवान् : जो व्यक्ति उस समय गृह-परित्याग करता है जब वह इसके लिए परिपक्व नहीं होता, वह केवल दूसरे बन्धन पैदा कर लेता है।

भक्त : क्या परित्याग आसक्तियों के तोड़ने का सर्वोत्तम साधन नहीं है ?

भगवान् : यह उस व्यक्ति के लिए हो सकता है जिसका मन पहले ही बन्धनों से मुक्त है। परन्तु आपने परित्याग के गम्भीर अर्थ को हृदयंगम नहीं किया : सांसारिक जीवन का परित्याग करने वाली महान् आत्माओं ने पारिवारिक जीवन के प्रति विरक्ति के कारण ऐसा नहीं किया बल्कि अपनी विशाल-हृदयता और समस्त मानव जाति तथा संसार के समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम के कारण ऐसा किया है।

भक्त : पारिवारिक बन्धनों को कभी न कभी तो तोड़ना ही है, तो मैं उन्हें अभी से क्यों न तोड़ूँ ताकि मेरा प्रेम सबके प्रति समान हो।

भगवान् : जब आप वस्तुतः सबके लिए समान प्रेम का अनुभव करेंगे, जब आपका हृदय इतना विशाल हो जायगा कि उसमें समस्त सृष्टि समा जायगी तब आप निश्चित ही इस या उस वस्तु के परित्याग के सम्बन्ध में नहीं सोचेंगे; आप सांसारिक जीवन से इस प्रकार पराङ्मुख हो जायेंगे जिस प्रकार एक पका हुआ फल वृक्ष की शाखा से अलग हो जाता है। आप यह अनुभव करेंगे कि सारा संसार आपका घर है।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस प्रकार के प्रश्न अक्सर पूछे जाते थे और बहुतों को इन प्रश्नों के जो उत्तर मिलते थे, उनसे वह आश्चर्य में पड़ जाते थे क्योंकि भगवान् की धारणा परम्परागत दृष्टिकोण के विपरीत थी। यद्यपि युगों से चले आ रहे आध्यात्मिक सत्यों में कभी भेद नहीं होता तथापि

आध्यात्मिक गुरुजन युग की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप सत्य के साक्षात्कार की साधिका प्रशिक्षण विधियों को ढाल लेते हैं। आधुनिक संसार में बहुत-से ऐसे व्यक्ति हैं जिनके लिए परित्याग या रूढ़िनिष्ठता का पूर्णतः परिपालन असम्भव है। बहुत-से भक्तजन ऐसे हैं जो व्यापारी, कार्यालय कर्मचारी, डाक्टर, वकील और इंजीनियर हैं तथा किसी न किसी प्रकार से आधुनिक नगर की जीवन-पद्धति से सम्बद्ध हैं और फिर भी मुक्ति की खोज में हैं।

श्रीभगवान् प्रायः कहा करते थे कि सच्चा परित्याग मन में है। न तो भौतिक परित्याग से इनकी प्राप्ति होती है और न भौतिक परित्याग के अभाव में, इसके मार्ग में बाधा पड़ती है।

"आप यह क्यों सोचते हैं कि आप गृहस्थी हैं ? इसी प्रकार के विचार कि आप संन्यासी हैं, अगर आप घर-गृहस्थी छोड़कर बाहर भी चले जायँ, फिर भी आपका पीछा नहीं छोड़ेंगे। चाहे आप गृहस्थी रहें या गृहस्थी का परित्याग क़र दें और जंगल में चले जायँ, यह आपका मन ही है जो आपका पीछा करता रहता है। अहं ही विचारों का स्रोत है। यही शरीर और संसार की सृष्टि करता है और यही आपको यह सोचने पर बाध्य करता है कि आप गृहस्थ हैं। अगर आप परित्याग कर दें तो आप केवल परिवार के स्थान पर परित्याग के विचार और घर के स्थान पर जंगल की परिस्थितियों को प्रतिस्थापित करेंगे। परन्तु मानसिक बाधाएँ सदा आपके सामने रहेंगी। नयी परिस्थितियों में तो वे और भी अधिक बढ़ जाती हैं। परिस्थितियों के परिवर्तन से कोई लाभ नहीं। हमारी बाधा मन है, चाहे घर हो या जंगल हमें इस पर विजय प्राप्त करनी है। अगर आप जंगल में मन पर विजय पा सकते हैं तो घर में क्यों नहीं ? इसलिए परिस्थितियों को क्यों बदला जाय ? कोई भी परिस्थितियाँ हों, आप अभी से प्रयत्न प्रारम्भ कर सकते हैं।"

उन्होंने यह भी बताया कि कार्य से साधना के मार्ग में बाधा नहीं पड़ती बल्कि जिस मानसिक वृत्ति से यह किया जाता है, उससे बाधा पड़ती है। अनासक्ति भाव से अपना सामान्य कार्यकलाप जारी रखना सम्भव है। उन्होंने **महर्षीज गॉस्पल** में कहा है, " 'मैं काम करता हूँ' यह भावना ही बाधा है। अपने से पूछो कि कौन कार्य करता है। स्मरण रखो कि तुम कौन हो। तब कार्य तुम्हें बन्धन में नहीं डालेगा। यह स्वतः जारी रहेगा।" देवराज मुदालियर लिखित **डे बाई डे विद भगवान्** में इसकी पूरी व्याख्या की गयी है।

"अनासक्ति भाव से जीवन के सब कार्य सम्पन्न करना और केवल आत्मा को ही वास्तविक समझना सम्भव है। यह सोचना गलत है कि अगर कोई

व्यक्ति आत्मलीन है, तो वह जीवन के कर्तव्यों का समुचित रीति से पालन नहीं कर सकेगा। वह तो एक अभिनेता के समान है। वह पोशाक पहनता है, अभिनय करता है, और स्वयं को वह व्यक्ति अनुभव करता है जिसका पार्ट वह अभिनय करने जा रहा है, परन्तु वह यह वस्तुतः जानता है कि वह पात्र नहीं है बल्कि वास्तविक जीवन में कुछ और है। इसी प्रकार, जब आप यह निश्चित रूप से जानते हैं कि आप शरीर नहीं बल्कि आत्मा हैं तब शरीर-चेतना या 'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार की भावना आपको उद्विग्न क्यों करे ? शरीर के किसी भी कार्य से आपकी आत्मलीनता में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होना चाहिए। इस प्रकार की आत्मलीनता से शरीर के कर्तव्यों के समुचित तथा प्रभावी निर्वहन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होगी, जिस प्रकार एक अभिनेता के जीवन में अपने वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के कारण, रंगमंच पर अभिनय करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।"

जिस प्रकार ध्यान या स्मरण, आप जो नाम भी इसे दें, से कार्य में बाधा नहीं पड़ती, इसी प्रकार कार्य से ध्यान में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। श्रीभगवान् ने पाल ब्रण्टन महोदय के साथ वार्तालाप के दौरान इसकी स्पष्टतः व्याख्या की है।

भगवान् : क्रियाशील जीवन के परित्याग की आवश्यकता नहीं है। यदि आप प्रतिदिन एक या दो घण्टे ध्यान में बैठें, आप अपना कर्तव्य भलीभाँति सम्पन्न कर सकते हैं। अगर आप ठीक ढंग से ध्यान करें तो आपके कार्य के दौरान भी ध्यान की धारा सतत रूप से प्रवहमान रहेगी। यह ऐसे है जैसे मानो एक ही विचार की अभिव्यक्ति के दो तरीके हैं; ध्यान में आप जो विचार-सरणि अपनायेंगे वहाँ आपकी गतिविधियों में अभिव्यक्त होगी।

पाल ब्रण्टन : इस प्रकार के आचरण का परिणाम क्या होगा ?

भगवान् : जैसे-जैसे आप इसका अभ्यास करते जायेंगे, आपको ऐसा प्रतीत होगा कि लोगों, घटनाओं और पदार्थों के सम्बन्ध में आपकी धारणा में धीरे-धीरे परिवर्तन होता जा रहा है। आपकी क्रियाएँ स्वयमेव आपके ध्यान का अनुसरण करने लगेंगी।

व्यक्ति को चाहिए कि वह वैयक्तिक स्वार्थ का, जो उसे इस संसार के साथ बाँधे हुए है, परित्याग कर दे।

पाल ब्रण्टन : सांसारिक गतिविधि का जीवन व्यतीत करते हुए निःस्वार्थ रहना किस प्रकार सम्भव है ?

भगवान् : कार्य और प्रज्ञा में कोई संघर्ष नहीं है।

पाल ब्रण्टन : आपका कहने का अभिप्राय क्या यह है कि व्यक्ति अपनी व्यावसायिक गतिविधियाँ जारी रखते हुए भी तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है ?

भगवान् : क्यों नहीं ? पर उस अवस्था में व्यक्ति यह नहीं सोचेगा कि उसका पुरातन व्यक्ति कार्य सम्पन्न कर रहा है क्योंकि चेतना धीरे-धीरे रूपान्तरित हो जायगी और अन्ततः उसमें समा जायगी जो इस तुच्छ अहं से परे है।

बहुत-से व्यक्ति श्रीभगवान् के अनासक्त भाव से कार्य करने के आदेश से पहले उलझन में पड़ जाते थे और उन्हें इस सम्बन्ध में आश्चर्य होता था कि क्या वह इस प्रकार अपना कार्य दक्षतापूर्वक सम्पन्न कर सकेंगे। उनके सामने स्वयं श्रीभगवान् का उदाहरण था क्योंकि वह जो कोई भी कार्य करते थे, चाहे यह प्रूफ संशोधन का कार्य हो या जिल्दबन्दी का, भोजन तैयार करने का कार्य हो या नारियल के खोल को काट कर उससे चमचा बनाने या उस पर पालिश करने का, वह इन सब कामों को बिलकुल ठीक-ठीक करते थे। और तथ्य तो यह है कि 'मैं कर्त्ता हूँ' इस प्रकार की भ्रान्त धारणा के लुप्त होने से पूर्व, कार्य के प्रति निरपेक्ष वृत्ति से कार्य खराब नहीं होता अपितु व्यक्ति की कार्य-दक्षता तब तक बढ़ती जाती है जब तक कि वह पूरी ईमानदारी से कार्य में संलग्न रहता है। इसका अभिप्राय कार्य की गुणवत्ता के प्रति उदासीनता से नहीं बल्कि इसका अभिप्राय तो केवल कार्य में अहं के अहस्तक्षेप से है। अहं के हस्तक्षेप के कारण ही संघर्ष और अदक्षता का आविर्भाव होता है। अगर सभी लोग कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर निरभिमान और निःस्वार्थ भाव से कार्य करें तो शोषण बन्द हो जायगा, प्रयत्नों का समुचित दिशा में नियोजन होगा, प्रतिद्वन्द्विता का स्थान समन्वय ले लेगा और विश्व की अधिकांश समस्याओं का समाधान हो जायगा। कार्य-सौष्ठव को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुचेगी। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक धर्म में विश्वास के युगों ने अपने को साधन-मात्र समझने वाले और गुप्त रहना पसन्द करने वाले कलाकारों के माध्यम से अत्यन्त सुन्दर कलाकृतियों को—चाहे यह गॉथिक गिरिजाघर के रूप में हों या मस्जिद के, हिन्दू मूर्तिकला के रूप में हों या ताओवादी पेंटिंग के—जन्म दिया है। अन्य व्यवसायों से भी उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। एक डाक्टर, जब भावुक नहीं होता तब वह अधिक दक्षता से कार्य करता है और वस्तुतः यही कारण है कि वह प्रायः अपने परिवार का इलाज करना पसन्द नहीं करता। जब एक वित्त-प्रबन्धक के अपने स्वार्थ निहित नहीं होते तब वह अधिक ठण्डे दिमाग से और दक्षता से काम करता है। खेलों में भी भाग्य उसी का साथ देता है जो निरपेक्ष भाव से खेलता है।

पारिवारिक जीवन जारी रखने के आदेश पर कई बार लोग यह आक्षेप करते थे कि स्वयं श्रीभगवान् ने गृह-त्याग कर दिया है। इसका वह अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर दिया करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रारब्ध के अनुसार कार्य करता है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के दैनिक कार्य-क्रम में पूर्ण बाह्य सामान्यता और योगदान, जिसका भगवान् ने बाद के वर्षों में इतनी पूर्णता के साथ आदर्श प्रस्तुत किया और अपने अनुयायियों से जिसके अनुसरण के लिए कहा, मदुरा में अपने चाचा के घर पर जागरण के बाद तत्काल सम्भव नहीं था। भगवान् के लिए जो चीज सम्भव है, उसे वह अपनी अनुकम्पा से अपने अनुयायियों के लिए भी सम्भव बनाते हैं।

अब हम फिर माँ की ओर आते हैं। उन्होंने जो प्रशिक्षण प्राप्त किया वह अत्यन्त कठोर था। प्राय: श्रीभगवान् माँ की उपेक्षा कर देते, जब वह बोलतीं तब उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे हालाँकि वह दूसरों का ध्यान रखते थे। अगर वह शिकायत करतीं तो श्रीभगवान् कहा करते, "सभी स्त्रियाँ मेरी माताएँ हैं, केवल तुम्हीं नहीं।" यहाँ हमें ईसामसीह का कथन स्मरण हो आता है। जब उनसे कहा गया कि उनकी माता और भाई भीड़ में सबसे आगे उनसे बात करने की प्रतीक्षा में खड़े हुए हैं, तो उन्होंने कहा था, "जो कोई स्वर्ग स्थित मेरे महान् पिता की इच्छा पालन करता है, वही मेरा भाई, बहिन और माता है।" पहले श्रीभगवान् की माँ उद्विग्न होकर अश्रुपात करने लगती थीं परन्तु धीरे-धीरे उन्हें समझ आने लगी। स्वामी की माता होने की उच्च भावना लुप्त हो गयी, अहं भाव क्षीण हो गया, उन्होंने अपने को भक्तों की सेवा में लगा दिया।

अब भी श्रीभगवान् अपनी माता के रूढ़िनिष्ठ मिथ्या विश्वासों का मजाक उड़ाया करते थे। अगर उनकी साड़ी किसी अब्राह्मण से छू जाती तो वह परिहासमय आश्चर्य में चिल्ला उठते, "देखो, देखो तुम्हारी पवित्रता नष्ट हो गयी, तुम्हारा धर्म चला गया!" आश्रम का भोजन सर्वथा निरामिष था परन्तु कई अत्यन्त श्रद्धालु ब्राह्मणों की तरह अलगम्माल और आगे बढ़ गयी थीं और कई सब्जियों को भी असात्विक समझती थीं। श्रीभगवान् उनकी हँसी उड़ाते हुए कहा करते थे, "प्याज से बचकर रहना मोक्ष में बड़ा बाधक है।"

यहाँ मैं यह बता दूँ कि श्रीभगवान् सामान्यत: रूढ़िनिष्ठता के विरोधी नहीं थे। पर यहाँ रूढ़िनिष्ठता के प्रति अत्यधिक आसक्ति थी और इसी के वह तीव्र विरोधी थे। सामान्यत: वह सात्विक भोजन की महत्ता पर बल दिया करते थे। वह प्राय: बाह्य गतिविधि के सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं

दिया करते थे, उनका सामान्य तरीका भक्त के हृदय में आध्यात्मिक बीज बोना और इसके विकास के साथ बाह्य जीवन को रूपान्तरित करने के लिए छोड़ देना था। आदेश तो भक्त को उसके अन्तःकरण से मिलते थे। एक पाश्चात्य भक्त जब आश्रम आया, तब वह पक्का माँसाहारी था, माँस को भोजन का अत्यन्त आवश्यक और अत्यन्त स्वादिष्ट अंग समझता था। उसे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया, परन्तु एक समय ऐसा आया जब उसे माँस खाने के विचार तक से घृणा हो गयी।

उन हिन्दू पाठकों को मैं यह बता देना चाहता हूँ कि निरामिष भोजन हिन्दू लोग केवल इसलिए नहीं करते कि इससे जीव-हत्या होती है और वह माँस नहीं खाना चाहते, हालाँकि यह भी एक कारण है परन्तु मुख्य कारण यह है कि असात्विक भोजन (जिसमें कई प्रकार की सब्जियाँ और माँस भी सम्मिलित हैं) से पाशवी आवेशों को बढ़ावा मिलता है और आध्यात्मिक प्रयास में बाधा पड़ती है।

अन्य भी अनेक उपायों से माता को ऐसा अनुभव कराया गया कि उनका पुत्र दैवी अवतार है। एक बार जब वह उसके सामने बैठीं, वह लुप्त हो गया और उसके स्थान पर उन्होंने एक विशुद्ध प्रकाश का एक लिंग देखा। यह सोचकर कि उसने अपना मानवीय रूप छोड़ दिया है, वह फूट-फूटकर रोने लगी, परन्तु शीघ्र ही लिंग लुप्त हो गया और वह पहले के समान पुनः प्रकट हो गया। एक अन्य अवसर पर उसने उन्हें शिव के परम्परागत प्रति-निधि रूपों के सदृश मालाओं से लदा हुआ और सर्पों से घिरा हुआ देखा। उसने चिल्लाते हुए उससे कहा, "उन्हें दूर भेज दो। मैं उनसे भयभीत हो गयी हूँ।"

इसके उपरान्त उसने उससे मानवीय रूप में ही प्रकट होने की प्रार्थना की। इन दृश्यों का प्रयोजन सिद्ध हो गया था; उसने यह अनुभव कर लिया था कि जिस रूप को वह पुत्र रूप में जानती और स्नेह करती थी वह किसी अन्य रूप के समान, जो उसका पुत्र धारण करता, मिथ्या था।

सन् १९२० में माता का स्वास्थ्य गिरने लगा। वह आश्रमवासियों की पहले की तरह सेवा नहीं कर सकती और उसे विवश होकर अधिक श्रम करना पड़ा। उसकी बीमारी में श्रीभगवान् निरन्तर उसके समीप रहे और प्रायः रात को उसके पास बैठा करते थे। मौन और चिन्तन में उसकी प्रज्ञा ने परिपक्व रूप धारण किया।

१९ मई, १९२२ को बहुला नवमी के दिन माता ने महाप्रयाण किया। श्रीभगवान् और अन्य कुछ व्यक्ति सारा दिन बिना खाये माता के चरणों में

बैठे रहे। सूर्यास्त के समय भोजन तैयार किया गया और श्रीभगवान् ने दूसरों से जाने और भोजन करने के लिए कहा परन्तु उन्होंने स्वयं नहीं खाया। सायंकाल कुछ भक्तजन माता के समीप बैठे हुए वेदमन्त्रों का पाठ करने लगे और दूसरे राम-नाम जपने लगे। दो घण्टे से अधिक समय तक वह वहाँ लेटी रही, उसकी छाती फूल रही थी और साँस जोर-जोर से चल रही थी। यह सारा समय श्रीभगवान् उसके पास बैठे रहे, उनका दायाँ हाथ उसके हृदय पर और बायाँ हाथ उसके मस्तक पर था। इस बार जीवन को लम्बा खींचने का प्रश्न नहीं था अपितु केवल मन को शान्त करने का प्रश्न था ताकि मृत्यु महासमाधि का रूप धारण कर सके।

सायंकाल आठ बजे माता ने प्राण त्याग दिये। श्रीभगवान् तत्काल उठ खड़े हुए। वह अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे। उन्होंने कहा, "अब हम खा सकते हैं; सब मेरे साथ चलो; अब कोई दोष नहीं है।"

इसमें गम्भीर अर्थ निहित था। हिन्दुओं के सिद्धान्तानुसार मृत व्यक्ति अपवित्र होता है, उसकी शुद्धि के लिए संस्कार करना पड़ता है परन्तु यह मृत्यु नहीं, महासमाधि थी। इसलिए शुद्धिकारक संस्कारों की आवश्यकता नहीं थी। कुछ दिन बाद श्रीभगवान् ने इसकी पुष्टि की : जब कोई माता के देहावसान की चर्चा करता तब वह संक्षेप में उसकी गलती सुधारते हुए कहते, "उनका देहावसान नहीं हुआ, उन्होंने महासमाधि ली है।"

पीछे इस प्रक्रिया का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा, "आन्तरिक प्रवृत्तियाँ तथा भावी सम्भावनाओं की ओर ले जाने वाली गत अनुभवों की स्मृति अत्यन्त सक्रिय हो गयीं। उसकी सूक्ष्म चेतना के सम्मुख दृश्य के बाद दृश्य आने लगे, बाह्य इन्द्रियों की चेतनता पहले ही लुप्त हो चुकी थी। आत्मा अनुभवों की श्रृंखला में से गुजर रही थी, इस प्रकार पुनर्जन्म की आवश्यकता का निराकरण कर रही थी और आत्मा के साथ एकरूपता को सम्भव बना रही थी। अन्त में अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने से पूर्व, आत्मा सूक्ष्म कोशों से मुक्त हो गयी, मुक्ति के परम शान्ति धाम में पहुँच गयी जहाँ से पुनः व्यक्ति अज्ञान की ओर नहीं लौटता।

श्रीभगवान् ने भी माँ को बड़ा आध्यात्मिक सहारा दिया, परन्तु यह अलगम्माल का सन्त स्वभाव, उसका पूर्व-जन्म का अभिमान और आसक्ति का परित्याग ही था, जिसके कारण वह इससे लाभ उठा सकीं। उन्होंने बाद में कहा, "माँ के सम्बन्ध में मुझे सफलता मिली; एक पूर्व अवसर पर जब पलानीस्वामी का अन्त निकट था, मैंने उसके लिए भी यही किया, परन्तु मुझे सफलता नहीं मिली। उसने अपनी आँखें खोल लीं और उसकी इह-

लीला समाप्त हो गयी ।" उन्होंने आगे कहा, पलानीस्वामी के सम्बन्ध में भी पूर्ण असफलता नहीं हुई, यद्यपि अहं का आत्मा में लय नहीं हुआ तथापि इसके प्रयाण का ढंग इस प्रकार का था कि उससे अच्छे पुनर्जन्म का संकेत मिलता था ।

प्राय: जब भक्तों को किसी प्रियजन के वियोग का कष्ट उठाना पड़ता था, श्रीभगवान् उन्हें स्मरण कराया करते कि यह केवल शरीर ही है जो मरणधर्मा है और 'मैं, शरीर हूँ' इस प्रकार के चेतन्य से ही हमें मृत्यु दु:ख-दायिनी प्रतीत होती है । अब अपनी माता के वियोग के समय उन्होंने किसी प्रकार के दु:ख का प्रदर्शन नहीं किया । रात-भर श्रीभगवान् और भक्तजन भक्तगीतों का गान करते हुए बैठे रहे । अपनी माता की भौतिक मृत्यु के प्रति श्रीभगवान् की यह उदासीनता, माँ के पूर्व रोग के अवसर पर श्रीभगवान् द्वारा की गयी प्रार्थना की वास्तविक व्याख्या है ।

माँ के शरीर को ठिकाने लगाने का प्रश्न उठा । स्वयं भगवान् इस बात के साक्षी थे कि माँ का आत्मा में लय हो गया था और अहं के मिथ्या बन्धन में उनका पुनर्जन्म नहीं होना था, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ सन्देह था कि महिला-सन्त का शरीर जलाया न जाकर दफनाया जाय । तब लोगों ने स्मरण किया कि सन् १९१७ में भी गणपति शास्त्री और उनके दल ने श्रीभगवान् के सम्मुख इसी प्रकार के प्रश्न रखे थे और श्रीभगवान् ने इनका हाँ में उत्तर दिया था । "चूँकि लिंग-भेद के कारण ज्ञान और मुक्ति में कोई अन्तर उपस्थित नहीं होता इसलिए महिला सन्त का शरीर जलाया नहीं जाना चाहिए । उसका शरीर भी भगवान् का पवित्र मन्दिर है ।"

भक्तों को यह बात नहीं सूझी कि सन् १९१४ में अपनी माता के स्वास्थ्य-लाभ के लिए रचित इस प्रार्थना में भगवान् ने पहले ही इस प्रश्न का उत्तर दे दिया था ! "मेरी माँ को तूँ अपने प्रकाश से आवृत्त कर ले और उसे अपने साथ एकरूप कर ले । फिर जलाने की क्या आवश्यकता है ?" भगवान् सदा की भाँति सभी प्रकार की हलचल और संस्कार के विरोधी थे । उन्होंने कुछ भक्तों से कहा कि वह चुपचाप रात को माता के शरीर को ले जायँ और इसे कहीं पहाड़ी पर किसी गुम स्थान पर दफना दें । वह ऐसा करने के लिए राजी नहीं हुए और अगले दिन इसे नीचे पहाड़ी पर ले जाया गया और इसे बड़े समारोह के साथ दक्षिणी किनारे पर पालितीर्थम सरोवर और दक्षिणामूर्त्ति मण्डपम् के मध्य दफना दिया गया । भगवान् मौन भाव से यह सब कुछ देखते रहे । समारोह में भाग लेने के लिए मित्र और सम्बन्धी तथा नगर से बड़ी संख्या में लोग आये । जिस गड्ढे में शरीर को दफनाया

गया उसमें शरीर को दफनाने से पूर्व उसके चारों ओर पवित्र भस्म, कपूर और सुगन्धित पदार्थ डाले गये। इस पर एक प्रकार का स्मारक बनाया गया और बनारस से लाया गया एक पवित्र लिंग इस पर स्थापित किया गया। बाद में इस स्थान पर एक मन्दिर का निर्माण किया गया। यह मन्दिर सन् १९४९ में बनकर तैयार हुआ और मातृभटेश्वर मन्दिर अर्थात् माता के रूप में अभिव्यक्त भगवान् के मन्दिर के नाम से विख्यात है।

जिस प्रकार माता के आगमन से आश्रम के जीवन में एक सुन्दर युगारम्भ हुआ था, उसी प्रकार उनके प्रयाण से भी एक युगारम्भ हुआ। विकास रुकने के स्थान पर गतिशील ही हुआ। ऐसे भक्त थे जो यह अनुभव करते थे कि सृजनात्मक शक्ति के रूप में माता की उपस्थिति पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावशालिनी थी। एक अवसर पर श्रीभगवान् ने कहा था; वह कहाँ गयी है? "वह तो यहीं है।"

निरंजनानन्द स्वामी पहाड़ी के नीचे स्मारक के पास एक फूस की कुटिया बनाकर वहीं रहने लगे। श्रीभगवान् स्कन्द आश्रम में रहते थे परन्तु वह प्रायः प्रतिदिन नीचे पहाड़ी की ओर स्मारक पर आया करते थे। आश्रम से स्मारक तक पहुँचने में आधा घण्टा लगता था। लगभग ६ महीने बाद, एक दिन जब वह सैर के लिए बाहर गये, तब सैर करते समय उनके मन में नीचे स्मारक पर जाने और वहाँ रहने की प्रबल प्रेरणा हुई। जब वह वापस लौट कर नहीं आये भक्तजन वहाँ उनके पीछे-पीछे चले गये और इस प्रकार श्री रमणाश्रम की स्थापना हुई। उन्होंने बाद में कहा, "मैं अपनी इच्छा से स्कन्दाश्रम से नहीं आया। कोई शक्ति मुझे जबर्दस्ती यहाँ खींच लायी और मैंने उसका पालन किया। यह मेरा निर्णय नहीं था बल्कि दैवी-इच्छा थी।"

नवाँ अध्याय

अद्वैत

श्रीभगवान् कोई दर्शनिक नहीं थे और उनकी शिक्षा में कोई विकास बिलकुल नहीं था। उनकी प्रारम्भिक व्याख्याएँ, 'आत्म-अन्वेषण' और 'मैं कौन हूँ ?' सिद्धान्त रूप में उन व्याख्याओं से भिन्न नहीं हैं जो वह अपने अन्तिम वर्षों में मौखिक रूप में दिया करते थे। जब उनकी आयु अभी १६ वर्ष की ही थी उन्होंने उस निरक्षेप सत्ता के साथ एकरूपता अनुभव कर ली थी, जो शुद्ध है, सब में विराजमान है, निराकार है और जिसका स्फुरणात्मक ज्ञान होता है। उसके सैद्धान्तिक आशय केवल बाद में स्वीकार किये गये। ''अभी तक मैं नहीं जानता था कि प्रत्येक वस्तु में एक आध्यात्मिक सत्ता या अवैयक्तिक वास्तविकता है और भगवान् तथा मैं दोनों इसके साथ एकरूप थे। बाद में, तिरुवन्नामलाई में जब मैंने ऋभु गीता तथा अन्य पवित्र ग्रन्थों का श्रवण किया मैंने यह सब जाना और इस परिणाम पर पहुँचा कि वह उस वस्तु का विश्लेषण और नामकरण कर रहे थे, जिसका मैंने बिना विश्लेषण या नाम के स्फुरणात्मक ज्ञान प्राप्त किया था।'' यह सम्मतियों का नहीं बल्कि स्वीकृत सत्य का प्रश्न था; अर्थात् उन्होंने जो कुछ पढ़ा था, वह उससे आश्वस्त नहीं हुआ था बल्कि उन्होंने पहले जो कुछ स्फुरणात्मक ज्ञान से जाना था, उसकी पुष्टि को स्वीकार किया था।

सिद्धान्त की सभी प्रणालियाँ हिन्दू धर्म में समाविष्ट हैं परन्तु वह परस्पर विरोधिनी हैं जैसे कि कई धर्मों में उनके व्याख्याता कल्पना करते हैं। वह तो केवल विभिन्न स्वभाव और विकास वाले व्यक्तियों द्वारा अपेक्षित विभिन्न मार्गों के लिए सैद्धान्तिक आधार हैं, परन्तु यह सब उसी सत्य की ओर ले जाती हैं जो मानव बुद्धि से परे है, जो मनुष्य की पकड़ से परे है और उसके मन में नहीं समा सकता। परन्तु जो सत्य उसे पकड़ लेता है और अपने में समाहित कर लेता है, मनुष्य उसमें निमग्न और एकरूप हो जाता है।

सैमिटिक धर्मों की तरह, हमारे यहाँ भी प्रेम और भक्ति पूजा द्वारा वैयक्तिक भगवान् की प्राप्ति का मार्ग है, भगवान् के मानव अवतार राम या कृष्ण की भक्ति का मार्ग भी है। अन्य किसी धर्म में भगवान् या उसके अवतार

के प्रति प्रेम और समर्पण की इतनी भावभीनी आल्हाददायिनी कविताओं का प्राचुर्य नहीं है।

इसी प्रकार सेवा के मार्ग द्वारा, भगवान् के समस्त प्राणियों में उसके दर्शन किये जा सकते हैं और उनकी सेवा द्वारा भगवान् की पूजा की जा सकती है। इसमें प्रेम और सदाचरण का तत्त्व है, व्यक्ति सब कार्य बिना किसी लाभ के विचार के भगवान् की सेवा रूप में करता है, वह उन्हें कर्तव्य समझकर शुद्ध समर्पण की भावना से करता है।

शुद्ध सत्ता को आत्म-रूप समझना सर्वोच्च और अन्तिम सत्य है। यह सिद्धान्त के अन्य सभी स्तरों से उत्कृष्ट है और उनके अपने सत्य से इन्कार नहीं करता। यह अद्वैत का सिद्धान्त है, प्राचीन ऋषियों ने इसका उपदेश दिया था, उपनिषदों में इसकी घोषणा की गयी है और उपेक्षा के एक युग के बाद श्री शंकर ने इसका अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया। यह सबसे सरल और सबसे गम्भीर सिद्धान्त है, संस्कृति-विज्ञान की दुरूहताओं से परे अन्तिम सत्य है। इसी का भगवान् ने उपदेश दिया था। यह कोई नवीन या मौलिक सिद्धान्त नहीं था। कोई आध्यात्मिक उपदेश नया नहीं होता, अगर यह नया हो तो यह सत्य नहीं होगा, क्योंकि सत्य परिवर्तित नहीं होता। भगवान् सिद्धान्तवादी नहीं अपितु गुरु थे, यह कई सिद्धान्तों को स्वीकार करने या मतों में विश्वास करने का नहीं बल्कि आन्तरिक कीमियागरी की प्रक्रिया द्वारा सत्य के साक्षात्कार करने का प्रश्न था। सिद्धान्त तो आध्यात्मिक प्रयास के लिए केवल आधार हैं और अगर भगवान् ने शुद्धतम तथा अपरिहार्य सिद्धान्त की शिक्षा दी, तो इसका कारण यह है कि आत्म-अन्वेषण के प्रत्यक्ष मार्ग का यह स्वाभाविक समर्थक है।

अगर किसी को यह मार्ग दुर्गम प्रतीत हो और वह कम प्रत्यक्ष सिद्धान्त पर आधारित मन्द मार्ग का अनुसरण करना चाहे तो वह इसकी भी स्वीकृति प्रदान करते थे। ऐसे लोग भी हैं जो एक आत्मा के सिद्धान्त से दूर भागते हैं, क्योंकि उन्हें यह भ्रम होता है कि यह सिद्धान्त उन्हें एक वैयक्तिक भगवान् से वंचित कर देता है, जिससे वह प्रार्थना कर सकते हैं और जिसकी वह शरण ले सकते हैं। इसमें कोई हानि नहीं है। जब तक उनका ऐसा अनुभव है वह वैयक्तिक भगवान् की पूजा जारी रख सकते हैं, जैसे बहुत-से भक्त भगवान् के अवतार रूप राम या कृष्ण की उसके अनेक रूपों में से किसी एक रूप की भक्ति करते हैं। उनकी भक्ति में जितनी अधिक तन्मयता और हार्दिकता होगी, उतनी शीघ्र यह उन्हें उस रहस्यमयी एकता की ओर ले जायगी, जिसमें भक्त और भगवान् साकार हो जाते हैं।

जब तक व्यक्ति अपने अहं की वास्तविकता में विश्वास करता है, उसे अपने से बाहर एक विश्व तथा अपने ऊपर एक भगवान् की वास्तविकता में विश्वास करना होगा और तब तक द्वित्व और भक्ति का मार्ग उसके लिए समीचीन है। अगर इसका सच्चे हृदय से अनुसरण किया जाय तो यह उसे इस जीवन में या आगामी जीवन में अद्वैत की ओर ले जायगा। चूँकि यही अन्तिम लक्ष्य है, मार्ग का यह अन्तिम सोपान भी होगा। भगवान् के कथन का यही तात्पर्य है "अन्त में सभी मनुष्य अरुणाचल की ओर आयेंगे।" प्रतीयमान त्रिगुण सत्ता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा, "सभी धर्म तीन आधारभूत तत्त्वों की स्थापना करते हैं: व्यक्ति, भगवान् और विश्व। केवल तभी तक जब तक व्यक्ति का अस्तित्व रहता है, या तो ऐसा कहा जाता है, "एक अपने को तीन रूपों में प्रकट कर रहा है" या "तीन वस्तुतः तीन हैं।" सर्वोच्च अवस्था आत्मलीनता और अहं के लोप की है। **(फार्टी वर्सिज ऑव रिएलिटी,** दूसरा खण्ड)

पश्चिमी विचारक मुख्यतः विश्व की मायावी प्रकृति का विरोध करते हैं और वस्तुतः अपने दृष्टिकोण से वह ठीक कहते हैं, क्योंकि विश्व की भी उतनी ही वास्तविकता है, जितनी कि मनुष्य के अहं की। जब तक व्यक्ति अपने अहं को अवास्तविक नहीं समझता वह विश्व को अवास्तविक नहीं समझ सकता। पश्चिमी दर्शन का यह सिद्धान्त कि मेरा अहं वास्तविक है और अन्य सब वस्तुएँ अवास्तविक हैं, स्पष्टतः असंगत है, परन्तु अद्वैत ऐसी घोषणा नहीं करता। एक स्वप्न द्वारा दोनों सिद्धान्तों का अन्तर समझाया जा सकता है। यह मानना कि विश्व माया है जबकि मेरा अहं वास्तविक है, इस प्रकार का कथन होगा कि स्वप्न में 'मैं' वास्तविक है परन्तु अन्य लोग स्थान और परिस्थितियाँ अवास्तविक हैं, जो कि सर्वथा असंगत है। वास्तविक स्थिति यह है कि 'मैं' सहित सारा स्वप्न पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के बिना है। इसलिए जैसे ही व्यक्ति अपने अहं की अवास्तविकता को हृदयंगम कर लेता है, वह विश्व की अवास्तविकता को भी हृदयंम कर लेता है परन्तु इससे पूर्व नहीं। इसकी इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है: जैसे स्वप्न, स्वप्न रूप में सत्य होता है परन्तु पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के रूप में अवास्तविक होता है, उसी प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में विश्व वास्तविक है परन्तु आत्मा से बाहर पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के रूप में अवास्तविक है। भगवान् ने एक बार एक भक्त को इस प्रकार समझाया था:

"लोगों ने शंकराचार्य के माया के दर्शन के अर्थ को समझे बिना उसकी आलोचना की है। उसने तीन स्थापनाएँ कीं: ब्रह्म वास्तविक है,

विश्व अवास्तविक है, और ब्रह्म विश्व है। वह दूसरी स्थापना के साथ ही नहीं रुक गये। तीसरी स्थापना पहली दो की व्याख्या करती है; यह घोषित करती है कि जब विश्व को ब्रह्म से पृथक करके देखा जाता है तब यह दर्शन असत्य और मायावी होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब घटनाओं को आत्म रूप में अनुभव किया जाता है वह वास्तविक होता है और जब आत्मा से पृथक करके उन्हें देखा जाता है तब वह मायावी होती है।"

हमें यह याद रखना चाहिए कि भगवान् की शिक्षाएँ सर्वथा व्यावहारिक थीं। वह सिद्धान्त की व्याख्या सिद्धान्त के लिए नहीं करते थे बल्कि भक्तों की विशिष्ट आवश्यकताओं और प्रश्नों के उत्तर में तथा उनकी साधना को सरल बनाने के लिए करते थे।

जब उन्हें एक बार (**महर्षीज गॉस्पल में**) यह स्मरण कराया गया कि बुद्ध ने भगवान् के सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार कर दिया था, तब उन्होंने स्वीकृतिसूचक उत्तर देते हुए कहा था, "तथ्य तो यह है कि बुद्ध भगवान् के सम्बन्ध में शास्त्रीय वादविवाद की अपेक्षा अन्वेषक को यहीं और अभी परमानन्द की प्राप्ति का मार्ग बताना चाहते थे।" वह स्वयं भी प्राय: प्रश्नकर्ता की उत्सुकता को सन्तुष्ट करने से इन्कार कर देते थे और उनके लिए साधना की आवश्यकता पर बल देते थे। मनुष्य की मरणोत्तर अवस्था के सम्बन्ध में पूछे जाने पर वह कहा करते थे : "आप यह जाने बिना कि अब आप क्या हैं, यह क्यों जानना चाहते हैं कि मृत्य के बाद आपका क्या होगा। पहले यह पता लगाओ कि अब आप क्या हैं।" इस और प्रत्येक जन्म के बाद मनुष्य अब और शाश्वत रूप से अमर आत्मा है। परन्तु इस प्रकार का उपदेश सुनना या इस पर विश्वास करना ही पर्याप्त नहीं है, इसके साक्षात्कार के लिए प्रयास करना आवश्यक है। इसी प्रकार भगवान् के सम्बन्ध में पूछे जाने पर वह कहा करते थे, "अपने सम्बन्ध में जानने से पूर्व आप भगवान् के सम्बन्ध में क्यों जानना चाहते हैं ? पहले यह पता लगाओ कि आप क्या हैं।"

जिस प्रक्रिया से यह कार्य सम्पन्न होता है उसका वर्णन एक बाद के अध्याय में किया गया है, परन्तु चूँकि अगले अध्याय में पहले ही भक्तों के प्रति श्रीभगवान् के उपदेशों का विवरण दिया गया है, इस ओर तथा उनकी शिक्षा की ओर यहीं निर्देश कर दिया गया है।

उनकी शिक्षा दर्शनशास्त्र के सामान्य अर्थों में 'दर्शन' नहीं थी, यह इस तथ्य से देखा जा सकता है (जैसा अगले अध्याय में श्री शिवप्रकाशम् पिल्लई

को दिये गये उनके उत्तरों से प्रकट होगा) कि वह अपने भक्तों को समस्याओं के सम्बन्ध में विचार करने के लिए नहीं कहते थे बल्कि शुद्ध ज्ञान या आत्मबोध प्राप्त करते समय वह विचारों के उपरोध के लिए कहते थे। इससे ऐसा प्रतीत हो सकता है जैसे यह प्रक्रिया व्यक्ति को जड़ बना देती हो पर दूसरे अध्याय में उद्धृत वार्तालाप में उन्होंने पाल ब्रण्टन को बताया था कि इसका उलटा सत्य है। मनुष्य सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा के साथ एक-रूप है परन्तु मन एक पृथक व्यक्तित्व का भ्रम पैदा करता है। गाढ़ निद्रा में मन शान्त होता है और मनुष्य आत्मा के साथ एकरूप होता है, परन्तु अचेतन रूप में। समाधि में वह पूर्ण चेतन रूप से आत्मा के साथ एकरूप होता है, अन्धकार में नहीं अपितु प्रकाश में। अगर मन का संघर्ष समाप्त हो जाय तो गुरु की कृपा से आत्म-चैतन्य हृदय में जाग्रत हो सकता है और इस प्रकार व्यक्ति को आनन्दमयी एकरूपता के लिए, ऐसी अवस्था के लिए जो जड़ता या अज्ञान की नहीं है बल्कि विशुद्ध ज्ञान की, शुद्ध आत्मबोध की है, तैयार कर सकता है।

बहुत-से व्यक्ति मन के विनाश के विचार से या (जो उसके ही तुल्य है) पृथक व्यक्तित्व के विचार से सहम सकते हैं और उन्हें यह भयप्रद प्रतीत हो सकता है, परन्तु नींद में हमारे साथ हमेशा यही होता है और निद्रा से भयभीत होना तो दूर रहा, हम इसे वांछनीय और सुखद पाते हैं, हालाँकि निद्रा में मन केवल अज्ञानमय तरीके से ज्ञात होता है। दूसरी ओर आनन्दा-तिरेक या समाधि की अवस्था में, मन थोड़ी देर के लिए परमानन्द की अनुभूति करने लगता है और यही इसकी वास्तविक प्रकृति है। ये दोनों शब्द ही व्यक्तित्व से ऊपर उठने की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति की दृष्टि से आनन्दातिरेक का अर्थ है आनन्द की अवस्था में पहुँच जाना और समाधि का अर्थ है अपने में समाहित होना। श्रीभगवान् ने प्राणायाम के विषय में बोलते हुए कहा था कि विचार और श्वास का स्रोत एक ही है इसलिए श्वास-ग्राही का अभिप्राय वस्तुतः यह है कि यह विचार-ग्राही है। सत्य तो यह है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व खो नहीं जाता बल्कि उसका अनन्त विस्तार हो जाता है।

विचारों का निराकरण उस गहन अनुभूति पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए किया जाता है जो कि विचार के पीछे है और उससे परे है। मन को दुर्बल करना तो दूर रहा, यह उसे शक्ति-सम्पन्न बनाता है क्योंकि यह एकाग्रता की शिक्षा देता है। श्रीभगवान् बार-बार इस बात की पुष्टि किया करते थे। दुर्बल और अनियन्त्रित मन ही असम्बद्ध विचारों से निरन्तर विचलित होता है और व्यर्थ की चिन्ताओं से व्यग्र होता है; जो मन इतना सशक्त होता है

कि किसी भी विषय पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान केन्द्रित कर सकता है, आत्म-तत्त्व की खोज में, विचारों के निराकरण पर ध्यान केन्द्रित कर सकता है और इसके विपरीत निर्दिष्ट विधि से विचारों के निराकरण के प्रयास से शक्ति और एकाग्रता का उदय होता है। जब यह तलाश पूर्ण हो जाती है, मन की शक्तियों का क्षय नहीं होता : श्रीभगवान् इसे ज्ञानी के मन की मध्याह्न में आकाश स्थित चन्द्रमा से तुलना करके समझाते थे—यह प्रकाशित होता है परन्तु सूर्य के महान् प्रकाश में, जो इसे प्रकाशित करता है, इसके प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती।

दसवाँ अध्याय

कुछ प्रारम्भिक भक्त

यद्यपि श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त कभी भिन्न नहीं हुआ करता था तथापि प्रश्नकर्ता की बुद्धि और चरित्र के अनुसार उनका शिक्षण का तरीका भिन्न हुआ करता था। श्रीभगवान् के पहाड़ी पर निवास के वर्षों में कुछ भक्तों के अनुभवों तथा उन्हें प्रस्तुत की गयी व्याख्याओं के अभिलेख रखे जाते थे। नीचे कुछ भक्तों का विवरण दिया जा रहा है। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि श्रीभगवान् के भक्तों के अनुभव ही श्रीभगवान् का जीवन-चरित्र है, चूँकि वह स्वयं घटनाओं और अनुभवों के प्रभाव से परे निर्विकार स्थिति में पहुँच चुके थे।

शिवप्रकाशम् पिल्लई

शिवप्रकाशम् पिल्लई श्रीभगवान् के बौद्धिक भक्तों में से थे। उन्होंने विश्वविद्यालय में दर्शन विषय लिया था और सत्ता के रहस्य पर वह पहले ही विचार कर चुके थे। सन् १९०० में उनकी नियुक्ति दक्षिणी अर्काट जिले में राजस्व विभाग में हुई। दो वर्ष बाद उन्हें अपने काम के सिलसिले में तिरुवन्नामलाई जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने पहाड़ी पर रहने वाले तरुण स्वामी के सम्बन्ध में सुना। प्रथम दर्शन में ही वह स्वामी पर मुग्ध हो गये और उनके भक्त बन गये। उन्होंने स्वामी से चौदह प्रश्न किये। स्वामी मौन धारण किये हुए थे इसलिए प्रश्न और उत्तर दोनों लिखकर दिये गये। अन्तिम प्रश्न का उत्तर स्वामी ने स्लेट पर लिखा था और शिवप्रकाशम् पिल्लई ने तत्काल ही उसकी नकल उतार ली। अन्य तेरह प्रश्न, बाद में याददाश्त से लिखे गये, परन्तु प्रकाशित होने से पूर्व श्रीभगवान् ने उन्हें जाँच लिया था।

शिवप्रकाशम् : स्वामी, मैं कौन हूँ ? मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ?

भगवान् : 'मैं कौन हूँ' इस प्रकार के निरन्तर आन्तरिक अन्वेषण से आप अपने स्वरूप को जान लेंगे और मुक्ति प्राप्त कर लेंगे।

शिवप्रकाशम् : मैं कौन हूँ ?

भगवान् : वास्तविक मैं या आत्मा शरीर नहीं है, न ही पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से है, न ही इन्द्रिय-पदार्थों, न ही कर्मेन्द्रियों में से है, न प्राण है, न मन है और न ही यह प्रगाढ़ निद्रा की स्थिति है, जहाँ इन सबका कोई ज्ञान नहीं रहता।

शिवप्रकाशम् : अगर इनमें से मैं कोई नहीं हूँ तो फिर मैं क्या हूँ ?

भगवान् : इनमें से सबका निषेध करने और यह कहने के उपरान्त कि 'मैं यह नहीं हूँ' जो अन्त में शेष रह जाता है, वह 'मैं' है और वही चैतन्य है।

शिवप्रकाशम् : उस चैतन्य का स्वरूप क्या है ?

भगवान् : वह सच्चिदानन्द है, जिसमें 'मैं' के विचार का लेशमात्र भी नहीं है। इसे मौन या आत्मा भी कहते हैं। केवल इसी का अस्तित्व है। अगर ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को पृथक माना जाय तो ये शुक्ति में रजत के भ्रम की तरह केवल भ्रम-मात्र हैं। ईश्वर, जीव और प्रकृति वस्तुतः शिवस्वरूप या आत्मस्वरूप हैं।

शिवप्रकाशम् : हम उस वास्तविक सत्ता का किस प्रकार साक्षात्कार कर सकते हैं ?

भगवान् : जब दृश्य वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं तब द्रष्टा या कर्त्ता का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है।

शिवप्रकाशम् : क्या बाह्य वस्तुओं को देखते हुए उस परम तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं है ?

भगवान् : नहीं, द्रष्टा और दृश्य रज्जु और उसमें सर्प की भ्रान्ति के समान हैं। जब तक आप सर्प की भ्रान्ति से छुटकारा नहीं पा लेते, आप यह नहीं देख सकते कि जो कुछ है, वह केवल रज्जु ही है।

शिवप्रकाशम् : बाह्य वस्तुएँ कब लुप्त हो जायेंगी ?

भगवान् : अगर सभी विचारों और गतिविधियों का कारण मन लुप्त हो जाय तो सभी बाह्य पदार्थ लुप्त हो जायेंगे।

शिवप्रकाशम् : मन का स्वरूप क्या है ?

भगवान् : मन केवल विचार है, यह एक प्रकार की शक्ति है। यह स्वयं को संसार के रूप में प्रकट करता है। जब मन आत्मा में निमग्न हो जाता है तब आत्म-साक्षात्कार होता है; जब मन बाहर विचरने लगता है, संसार प्रकट होता है और आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं होती।

शिवप्रकाशम् : मन का किस प्रकार लोप होगा ?

भगवान् : केवल इस जिज्ञासा द्वारा कि 'मैं कौन हूँ ?' यह जिज्ञासा भी मानसिक प्रक्रिया है, जो अपने सहित सब मानसिक क्रियाओं को वैसे ही नष्ट कर देती है, जैसे जिस डण्डे से चिता को हिलाया जाता है, वह चिता और शव

के भस्म होने के बाद स्वयं भी भस्म हो जाता है। केवल तभी व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार होता है। 'मैं' का विचार नष्ट हो जाता है, श्वास और जीवन के अन्य चिह्न विलीन हो जाते हैं। अहं और प्राण का एक ही सामान्य स्रोत है। आप जो भी कार्य करें, अहं की भावना से रहित होकर करें अर्थात 'मैं यह कार्य कर रहा हूँ' इस भावना से रहित होकर करें। जब व्यक्ति इस अवस्था में पहुँच जाता है तब वह अपनी पत्नी को भी विश्व माता के रूप में समझने लगता है। सच्ची भक्ति आत्मा के सम्मुख अहं का समर्पण है ?

शिवप्रकाशम् : क्या मन पर विजय पाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है ?

भगवान् : आत्म-जिज्ञासा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। अगर अन्य साधनों से मन को शान्त किया जाय तो यह थोड़ी देर के लिए शान्त रहता है और फिर यह प्रकट हो जाता है तथा अपने पहले क्रियाकलाप में निमग्न हो जाता है।

शिवप्रकाशम् : समस्त सहज वृत्तियों और वासनाओं, जैसे कि आत्म-संरक्षण की वृत्ति का कब नाश होगा ?

भगवान् : जितना अधिक आप आत्म-निमग्न होंगे उतना अधिक ये वासनाएँ जीर्ण होती जायेंगी और अन्त में इनका सर्वथा लोप हो जायगा।

शिवप्रकाशम् : क्या वस्तुतः उन सभी वासनाओं का उन्मूलन सम्भव है जो अनेक जन्मों में हमारे मनों में प्रविष्ट हो चुकी हैं।

भगवान् : इस प्रकार के सन्देहों को कभी भी अपने मन में स्थान न दें बल्कि दृढ़ निश्चय के साथ आत्मा में निमग्न हो जायँ। अगर मन को निरन्तर आत्मा की ओर निर्देशित किया जाय तो इसका लय हो जाता है और यह आत्मा में परिवर्तित हो जाता है। जब आप किसी प्रकार का सन्देह अनुभव करें, इसकी व्याख्या करने का प्रयास न करें बल्कि यह जानने की चेष्टा करें कि वह कौन है जिसको यह सन्देह होता है।

शिवप्रकाशम् : व्यक्ति को यह आत्म-अन्वेषण कब तक करना चाहिए ?

भगवान् : जब तक आपके मन में विचारोत्पादक प्रवृत्ति का लेशमात्र भी है तब तक आत्म-अन्वेषण जारी रखें। जब तक शत्रु दुर्ग पर अधिकार किये है वह उस पर आक्रमण जारी रखेंगे। अगर आप प्रत्येक को उनके बाहर निकलते ही मार देंगे तो तन्ततः दुर्ग का पतन हो जायगा। इसी प्रकार हर बार जब कोई विचार अपना सिर उठाये, आप इसे इस जिज्ञासा के साथ कुचल डालें। सारे विचारों को उत्पन्न होते ही कुचल देना वैराग्य कहलाता है। इसलिए जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं हो जाता विचार आवश्यक हैं। निरन्तर और निर्बाध आत्म-चिन्तन अनिवार्य है।

शिवप्रकाशम् : क्या यह संसार और इसमें जो कुछ घटित होता है,

भगवान् की इच्छा का परिणाम नहीं है ? अगर ऐसी बात हो तो भगवान् की ऐसी इच्छा क्यों है ?

भगवान् : भगवान् का कोई प्रयोजन नहीं है। वह कर्म-बन्धन में नहीं है। संसार के क्रिया-कलाप उसे प्रभावित नहीं कर सकते। सूर्य का उदाहरण लें। सूर्य बिना किसी इच्छा, प्रयोजन या प्रयास के उदय होता है, परन्तु जैसे ही यह उदय होता है वैसे ही पृथ्वी पर अनेक क्रिया-कलाप होने लगते हैं ? सूर्य की किरणों के प्रकाश में रखा हुआ ताल अपने केन्द्र में अग्नि का प्रादुर्भाव करने लगता है; कमल-कलिका खिल उठती है, पानी वाष्प बनकर उड़ने लगता है और प्रत्येक जीवित प्राणी क्रिया-कलाप प्रारम्भ कर देता है, इसे जारी रखता है और अन्ततः इसे बन्द कर देता है। परन्तु सूर्य पर किसी गतिविधि का प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि यह केवल अपनी प्रकृति के अनुसार, निश्चित नियमों के अनुरूप और बिना किसी प्रयोजन के कार्य करता है और केवल साक्षी होता है। भगवान् की भी यही दशा है। या आकाश का उदाहरण लें। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु सब का अस्तित्व आकाश में है और इनके परिवर्तित रूप भी इसमें विराजमान हैं परन्तु इनमें से कोई भी आकाश को प्रभावित नहीं करता। भगवान् की भी ऐसी ही बात है। सृष्टि की उत्पत्ति, धारण, विनाश, निवर्त्तन और मुक्ति के कार्यों में, जिनके अधीन संसार के प्राणी हैं, भगवान् की कोई इच्छा या प्रयोजन नहीं है। प्राणियों को उनके कर्मों का फल भगवान् के नियमों के अनुसार मिलता है, इसलिए दायित्व उनका है, भगवान् का नहीं। भगवान् किन्हीं क्रियाओं से बँधा हुआ नहीं है।

श्रीभगवान् की इस उक्ति को कि द्रष्टा का वास्तविक स्वरूप तभी प्रकट होता है जब दृश्य वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं, हमें शब्दशः इस अर्थ में नहीं लेना चाहिए कि उसे भौतिक संसार का ज्ञान ही नहीं रहता। यह तो निर्विकल्प समाधि की अवस्था है; इसका तात्पर्य तो यह है कि वह वस्तुएँ वास्तविक प्रतीत न होकर केवल आत्मा के विविध रूप प्रतीत होती हैं। यह सर्प और रज्जु के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। यह एक परम्परागत उदाहरण है, जिसका प्रयोग श्रीशंकर ने भी किया था। एक व्यक्ति को सन्ध्या समय कुण्डलीकृत रज्जु दिखायी देती है, वह इसे गलती से साँप समझ बैठता है और इसीलिए भयभीत हो जाता है। जब सवेरा होता है, वह देखता है कि यह तो केवल रज्जु है और उसका भय निराधार था। सत्ता की वास्तविकता रज्जु है, उसे भयभीत करने वाला सर्प का भ्रम बाह्य संसार है।

विचारों को पैदा होते ही कुचल देना वैराग्य है, इस वक्तव्य की भी व्याख्या अपेक्षित है। वैराग्य का अर्थ है निःसंगता, अनासक्ति, समता। शिवप्रकाशम् पिल्लई का यह प्रश्न कि कब मानव अपनी सहज वृत्तियों और

गुप्त वासनाओं पर विजय पा सकता है, यह प्रदर्शित करता है कि यह वैराग्य है जिसके लिए वह प्रयत्न करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। श्रीभगवान् उनसे यह कह रहे थे कि विचार या आत्म-अन्वेषण वैराग्य का सबसे छोटा मार्ग है। आवेश और आसक्ति मन में होते हैं; इसलिए जब मन पर नियन्त्रण कर लिया जाता है, तब वह परास्त हो जाते हैं। यही वैराग्य है। मन का लोप हो जाना चाहिए और मानसिक क्रियाएँ नष्ट हो जानी चाहिए, इस वक्तव्य का कई आलोचकों ने गलत अर्थ लगाया है, जिससे प्रगाढ़ निद्रा के समान शून्य अवस्था का बोध होता है। स्वभावतः इस प्रकार के आलोचकों को यह व्याख्या करने में कठिनाई होती है कि इस प्रकार की अवस्था को परमानन्द की संज्ञा क्यों दी जाय। जब बौद्ध लोग निर्वाण की चर्चा करते हैं, जिसका अर्थ भी बिलकुल वही है तब उनके सामने वही कठिनाई प्रस्तुत होती। वस्तुतः विचार एक अप्रत्यक्ष ज्ञान है जो प्रत्यक्ष ज्ञान या आत्म-ज्ञान के मार्ग में बाधक है। आत्म-साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति विचार की शक्ति या अन्य शक्ति खो नहीं देता। उसका मन जैसा कि पहले बताया गया है, मध्याह्न के पूर्ण चन्द्रमा की तरह है, जो प्रकाशमान है पर यह आवश्यक नहीं कि उसे देखा जा सके।

बाद में इन उत्तरों को विस्तृत रूप दिया गया और **'हू एम आई'** के नाम से पुस्तक रूप में क्रमबद्ध किया गया; सम्भवतः यह श्रीभगवान् की सर्वाधिक प्रशंसित गद्य रचना है।

सन् १६१० तक शिवप्रकाशम् पिल्लई को सरकारी नौकरी कष्टसाध्य तथा साधना के मार्ग में बाधक प्रतीत होने लगी थी। वह इतने साधन-सम्पन्न थे कि बिना आजीविका अर्जित किये गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर सकते थे इसलिए उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। तीन वर्ष बाद उन्हें वास्तविक निर्णय करना था। क्या उनके त्यागपत्र का अभिप्राय यह था कि वह सांसारिक जीवन का परित्याग कर रहे हैं या कि वह केवल कठिन मार्ग का परित्याग कर रहे हैं और सुखद मार्ग को अपना रहे हैं। उनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी। उन्हें अब यह निर्णय करना था कि वह पुनर्विवाह करें या साधु बन जायँ। वह पूरे अधेड़ नहीं कहे जा सकते थे और एक लड़की के प्रति उनकी अत्यधिक आसक्ति थी। अगर उन्हें पुनर्विवाह करना और नये सिरे से गृहस्थी बसानी थी, तब यह प्रश्न भी पैदा होता था कि पैसा कहाँ से आये ?

पहले इस प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में श्रीभगवान् से प्रश्न करने में उन्हें संकोच हुआ। शायद उन्हें यह आभास हो गया कि वह क्या उत्तर देंगे ? इसलिए उन्होंने दूसरे तरीके से उत्तर प्राप्त करने का प्रयास किया। उन्होंने कागज के एक टुकड़े पर चार प्रश्न लिखे :

(१) संसार के सब कष्टों और चिन्ताओं से मुक्ति पाने के लिए मुझे क्या करना चाहिए ?

(२) क्या मेरा उस लड़की से, जिसके बारे में मैं सोच रहा हूँ, विवाह होगा ?

(३) अगर नहीं, तो क्यों ?

(४) अगर मेरा विवाह होना है तो आवश्यक धन कहाँ से आयेगा ?

इस कागज के टुकड़े को लेकर, वह विघ्नेश्वर के मन्दिर की ओर चल पड़े। वह बचपन से ही विघ्नेश्वर की पूजा किया करते थे। उन्होंने मूर्ति के सम्मुख कागज रख दिया और सारी रात जागकर यह प्रार्थना करते रहे कि कागज पर लिखित उत्तर आ जाय या उन्हें कोई संकेत मिल जाय या आभास हो जाय।

कुछ भी नहीं हुआ और अब उनके पास स्वामी के समीप जाने के अलावा और कोई चारा नहीं था। वह विरूपाक्ष कन्दरा की ओर गये परन्तु स्वामी के सम्मुख प्रश्न रखते हुए उन्हें अब भी संकोच हो रहा था। दिन-प्रतिदिन वह इसे स्थगित करते गये। यद्यपि श्रीभगवान् कभी भी किसी को गृह-परित्याग के लिए प्रोत्साहित नहीं करते थे, तथापि इसका यह अभिप्राय नहीं कि जिस व्यक्ति को विधि ने गृह-बन्धनों से मुक्त कर दिया हो उसे वह पुनः गृह-बन्धनों में पड़ने के लिए प्रोत्साहित करते। शिवप्रकाशम् पिल्लई को धीरे-धीरे यह अनुभव होने लगा कि स्वामी की शान्ति और पवित्रता, स्त्रियों के प्रति पूर्ण उदासीनता और धन के प्रति निरपेक्षता से उन्हें उनके प्रश्नों का उत्तर मिल गया है। उनके जाने का दिन आ गया और अभी तक वह प्रश्न नहीं पूछ सके। उस दिन स्वामी के निकट अनेक लोग थे, इसलिए अगर वह प्रश्न पूछना भी चाहते तो उन्हें सबके सामने पूछने पड़ते। वह स्वामी की ओर एकटक दृष्टि लगाकर बैठ गये। उन्हें स्वामी के सिर के निकट एकाएक चौंधियाने वाला प्रकाश दिखायी दिया और उन्होंने उनके सिर से एक स्वर्ण आभामय बालक को निकलते हुए तथा उसमें पुनः प्रवेश करते हुए देखा। क्या यह जीवित जाग्रत उत्तर था कि संतति हाड़-मांस की नहीं अपितु आत्मा की है। वह आनन्द-विभोर हो उठे। सन्देह और अनिर्णय की उनकी लम्बी अवधि समाप्त हो गयी, वह सिसकियाँ भरने लगे; उन्हें इससे पूर्ण सांत्वना मिली।

यह श्रीभगवान् के जीवन की महान् असाधारणता का एक उदाहरण है। जब शिवप्रकाशम् पिल्लई ने अन्य भक्तों को इस घटना के सम्बन्ध में बताया तब कुछ हँसने लगे, कुछ को विश्वास नहीं हुआ और कुछ को यह सन्देह होने लगा कि वह नशे में हैं यद्यपि दर्शन और असाधारण घटनाओं के बहुत-से

उदाहरण चुने जा सकते हैं, तथापि श्रीभगवान् के पचास और उससे अधिक वर्षों की जीवन-अवधि, जो उन्होंने हमारे मध्य व्यतीत की, में बहुत थोड़े हैं।

आनन्द-विभोर शिवप्रकाशम् पिल्लई ने उस दिन जाने का विचार छोड़ दिया। अगले सायंकाल जैसे ही वह श्रीभगवान् के सम्मुख बैठे, उन्हें फिर दर्शन हुए। इस बार भगवान् का शरीर प्रातःकालीन सूर्य के समान चमक रहा था और उनके चारों ओर पूर्ण चन्द्र की द्युति विराजमान थी। इसके बाद उन्होंने सम्पूर्ण शरीर को पवित्र राख से ढके हुए और उनके नेत्रों को करुणा से चमकते हुए देखा। फिर दो दिन बाद उन्हें दर्शन हुए। इस बार उन्हें श्रीभगवान् का शरीर शुद्ध स्फटिक का दिखायी दिया। वह अभिभूत हो उठे। उन्हें उस स्थान का परित्याग करते हुए भय अनुभव होने लगा कि कहीं उनके हृदय-सरोवर में उठने वाली अवर्णनीय आनन्द की लहरें शान्त न हो जायँ। वह अपने गाँव वापस आ गये, उनके न पूछे गये प्रश्नों का उत्तर मिल चुका था। उन्होंने अपना शेष जीवन ब्रह्मचर्य और तपस्या में बिताया। इन सब अनुभवों का उन्होंने एक तमिल कविता में वर्णन किया है। उन्होंने भगवान् की प्रशंसा में अन्य कविताएँ भी लिखीं, जिनमें से कुछ कविताओं का गान आज भी भक्त-जन करते हैं।

नटेश मुदालियर

श्रीभगवान् के पास आने वाले सभी व्यक्ति उनके मौन उपदेश को नहीं समझते थे। अन्ततः नटेश मुदालियर ने इस मौन उपदेश को समझा, परन्तु इसमें काफी समय लगा। जब उन्होंने विवेकानन्द के ग्रन्थ पढ़े और वह संसार का परित्याग तथा गुण की खोज करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठे, उस समय वह एक प्रारम्भिक स्कूल में पढ़ाते थे। मित्रों ने उन्हें अरुणाचल पहाड़ी के स्वामी के सम्बन्ध में बताया, परन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि उनसे आदेश ग्रहण करना अत्यन्त कठिन है। मुदालियर ने प्रयास करने का निर्णय किया। सन् १९१८ की बात है, श्रीभगवान् पहले ही स्कन्दाश्रम में विराजमान थे। मुदालियर वहाँ गये और श्रीभगवान् के सम्मुख बैठ गये परन्तु वह मौन रहे और मुदालियर, जिन्होंने पहले न बोलने का निर्णय कर लिया था, निराश होकर लौट आये।

अपने इस प्रयत्न में असफल होकर उन्होंने अन्य स्वामियों के दर्शन के लिए यात्रा की, परन्तु उन्हें कोई ऐसा स्वामी नहीं मिला जिसमें उन्हें दिव्य ज्योति की झलक दिखायी दी हो और जिसके आगे वह आत्म-समर्पण कर सकें। दो वर्ष की निष्क्रिय खोज के बाद उन्होंने श्रीभगवान् को एक लम्बा पत्र लिखा और उनसे प्रार्थना की कि वह ज्ञानोत्सुक आत्माओं के प्रति स्वार्थमय उदासी-नता का व्यवहार न करें और चूँकि उनकी पहली यात्रा निष्फल सिद्ध हुई थी,

इसलिए उन्हें फिर आने की अनुमति प्रदान करें। एक महीना बीत गया, पर कोई उत्तर नहीं आया। तब उन्होंने एक स्वीकृतिसूचक रजिस्टर्ड लैटर भेजा और इस बार उन्होंने लिखा: "मुझे कितने ही जन्म धारण करने हैं, मैंने केवल आपसे ही उपदेश लेने का निर्णय किया है। मैं शपथ लेकर कहता हूँ, अगर आप मुझे अपने उपदेश का अपात्र समझकर इस जीवन में छोड़ देंगे, तो आपको इस प्रयोजन के लिए फिर जन्म ग्रहण करना पड़ेगा।"

कुछ दिन बाद श्रीभगवान् नटेश के सम्मुख स्वप्न में प्रकट हुए और उन्होंने कहा, "मेरे सम्बन्ध में निरन्तर मत सोचो। तुम्हें पहले भगवान् महेश्वर की अनुकम्पा प्राप्त करनी होगी। पहले उनका चिन्तन करो और उनकी अनुकम्पा प्राप्त करो। मेरी सहायता तुम्हें स्वयं मिल जायगी।" नटेश के घर में नन्दी पर आरूढ़ भगवान् महेश्वर का एक चित्र था। वह इसे अपने सम्मुख रखकर भगवान् का चिन्तन करने लगे। कुछ दिन बाद उनके पत्र का उत्तर आया, "महर्षि पत्रों का उत्तर नहीं देते; आप यहाँ आकर उनके दर्शन कर सकते हैं।"

उन्होंने यह जानने के लिए कि यह पत्र श्रीभगवान् के आदेश पर लिखा गया था, एक और पत्र भेजा और फिर तिरुवन्नामलाई के लिए प्रस्थान कर दिया। अपने स्वप्न में बताये गये मार्ग का अनुसरण करते हुए वह पहले नगर के बड़े मन्दिर में गये। यहाँ उन्होंने अरुणाचलेश्वर के दर्शन किये और वहीं रात गुजारी। वहाँ उन्हें एक ब्राह्मण मिला जिसने उन्हें स्वामी के दर्शनों से रोका और कहा, "मेरी बात ध्यान देकर सुनें, मैंने रमण महर्षि के निकट सोलह वर्ष बिताये हैं और उनका अनुग्रह मुझे प्राप्त नहीं हुआ। वह प्रत्येक वस्तु के प्रति उदासीन हैं। अगर आप उनके आगे अपना सिर भी पटक दें, तो भी उन्हें आप में कोई दिलचस्पी नहीं होगी। उनका अनुग्रह प्राप्त करना असम्भव है। इसलिए उनके दर्शनों का कोई लाभ नहीं।"

यह इस बात का अद्भुत उदाहरण है कि श्रीभगवान् अपने भक्तों से क्या अपेक्षा करते थे। जिन भक्तों के हृदय ग्रहणशील होते थे, वह उन्हें माँ से भी अधिक कृपालु पाते थे। कई भय और सम्मान की मिश्रित भावना से काँप उठते थे। जो व्यक्ति बाह्य चिह्नों के आधार पर उनके सम्बन्ध में जानना चाहता था, उसे कुछ भी हाथ नहीं लगता था। चूँकि नटेश ने स्वामी के पास जाने का आग्रह किया, इसलिए एक दूसरे व्यक्ति ने उनसे कहा, "आपको स्वामी का अनुग्रह प्राप्त होगा या नहीं, यह जानने का उपाय में आपको बताता हूँ। पहाड़ी पर शेषाद्रि नाम के एक स्वामी रहते हैं। वह किसी से नहीं मिलते-जुलते और जो लोग उनसे मिलने की कोशिश करते हैं, वह प्रायः उन्हें दूर भगा देते हैं। अगर आप उनकी दया प्राप्त कर लें, तो आपको सफलता मिल सकती है।"

अगले प्रातःकाल अपने साथी अध्यापक जे० वी० सुब्रह्मण्यम् के साथ मुदालियर शेषाद्रिस्वामी की खोज में निकल पड़े। बहुत छानबीन करने के बाद उन्होंने उन्हें देख लिया और मुदालियर को यह देखकर बहुत सन्तोष तथा आश्चर्य हुआ कि शेषाद्रिस्वामी स्वयं उनकी तरफ आ रहे हैं। उन्हें यात्रा का प्रयोजन बताने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी, उन्होंने मुदालियर से कहा, "मेरे बच्चे, तुम क्यों दुःखी और चिन्तित होते हो ? ज्ञान क्या है ? जब मन एक के बाद दूसरी वस्तु को क्षणिक और अवास्तविक समझकर उसका निषेध करता चला जाता है, तब इस निषेध के बाद जो वस्तु अन्त में बच रहती है, उसे ज्ञान कहते हैं। वही भगवान् है। प्रत्येक वस्तु वही है और केवल वही है। ज्ञान की प्राप्ति केवल पहाड़ी या कन्दरा में जाने से हो सकती है, इस विश्वास के साथ इधर-उधर भटकते रहना मूर्खता है। निर्भय होकर जाओ।" इस प्रकार उन्होंने भगवान् के शब्दों में उनका उपदेश दिया।

इस शुभ शकुन से हर्षोद्वेलित होकर वह स्कन्दाश्रम आने वाली पहाड़ी पर चल पड़े। दोपहर को वह वहाँ पहुँचे। पाँच-छः घण्टे तक मुदालियर श्रीभगवान् के सम्मुख बैठे रहे, परन्तु उनमें कोई वार्तालाप नहीं हुआ। इसके बाद सायंकालीन भोजन का समय हो गया और श्रीभगवान् उठ खड़े हुए। जे० वी० एस० ऐय्यर ने उनसे कहा, "यही वह व्यक्ति है जिसने उन्हें वह पत्र लिखे थे।" इस पर श्रीभगवान् ने नटेश की ओर स्थिर दृष्टि से देखा और वह बिना कुछ बोले बाहर चले गये।

हर महीने मुदालियर एक दिन के लिए वहाँ आते और श्रीभगवान् के सम्मुख मौनभाव से प्रार्थना करते हुए बैठते, परन्तु वह उनसे कभी नहीं बोले और न ही नटेश ने पहले बोलने का प्रयास किया। इस प्रकार पूरा वर्ष व्यतीत हो गया। अब नटेश और सहन नहीं कर सके और अन्त में उन्होंने कहा, "मैं यह जानना और अनुभव करना चाहता हूँ कि आपकी अनुकम्पा क्या है, क्योंकि लोग इसका भिन्न-भिन्न रूप में वर्णन करते हैं।"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया : "मैं सदा अपनी अनुकम्पा का दान कर रहा हूँ। अगर यह तुम्हारी समझ में नहीं आती, तो मैं क्या करूँ ?"

अब भी मुदालियर की समझ में मौन उपदेश नहीं आया; उन्हें अब भी ज्ञान नहीं हो रहा था कि वह किस मार्ग का अनुसरण करें। थोड़ी देर बाद श्रीभगवान् स्वप्न में उनके सम्मुख प्रकट हुए और उनसे बोले, "अपनी दृष्टि सम रखें और इसे बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ओर से हटा लें। इस प्रकार, जैसे-जैसे भेद दूर होते जायेंगे, आप प्रगति करते जायेंगे।" मुदालियर ने यह समझकर कि श्रीभगवान् का तात्पर्य भौतिक दृष्टि से है, उनसे कहा, "मुझे यह समुचित मार्ग प्रतीत नहीं होता। अगर आप जैसा महापुरुष इस प्रकार

का परामर्श मुझे देगा, तो सच्चा परामर्श कौन देगा ?" श्रीभगवान् ने उन्हें विश्वास दिलाया कि यही सच्चा मार्ग है।

विकास के अगले चरण का स्वयं मुदालियर ने इस प्रकार वर्णन किया है : "मैंने कुछ समय तक इस स्वप्न-उपदेश का अनुसरण किया, फिर मुझे दूसरा स्वप्न आया। इस बार जब श्रीभगवान् प्रकट हुए, मेरे पिता मेरे निकट खड़े हुए थे। उन्होंने मेरे पिता की ओर संकेत करते हुए कहा, "यह कौन हैं ?" उत्तर की दार्शनिक शुद्धता के प्रति कुछ संकोच के साथ मैंने उत्तर दिया, "मेरे पिता।" महर्षि साभिप्राय मुस्करा उठे और मैंने कहा, "मेरा उत्तर सामान्य बोलचाल की भाषा के अनुसार है, न कि दर्शन की", क्योंकि मुझे यहाँ स्मरण था कि मैं शरीर नहीं हूँ। महर्षि ने मुझे अपने निकट खींच लिया और अपनी हथेली पहले मेरे सिर पर रखी, फिर मेरी दाहिनी छाती पर और अपनी अँगुली से मेरे चूचुक को दबाया। इससे मुझे कुछ पीड़ा अनुभव हुई। परन्तु यह उनकी अनुकम्पा थी, मैंने इसे शान्तिपूर्वक सहन कर लिया। तब मुझे इस बात का पता नहीं था कि उन्होंने मेरी बायीं छाती के बजाय दायीं छाती को क्यों दबाया।"[1]

इस प्रकार मौन दीक्षा ग्रहण करने में असफल होकर, मुदालियर को स्वप्न में स्पर्श द्वारा दीक्षा दी गयी।

नटेश उन व्यक्तियों में से थे, जो ज्ञान-प्राप्ति की खोज में गृहस्थ जीवन का परित्याग कर अकिंचन भिक्षुक की तरह जीवनयापन करने के लिए उत्सुक थे। परन्तु श्रीभगवान् ने इसे प्रोत्साहन नहीं दिया। "जिस प्रकार आप यहाँ रहते हुए गृहस्थ जीवन की चिन्ताओं को पास नहीं आने देते, उसी प्रकार आप घर जाकर भी सांसारिक चिन्ताओं से सर्वथा उदासीन और अनासक्त रहें।" मुदालियर में अब भी अपने गुरु के प्रति पूर्ण निर्भरता और दृढ़ विश्वास का अभाव था। उन्होंने श्रीभगवान् के स्पष्ट आदेश के बावजूद गृह परित्याग कर संन्यास ले लिया। उन्हें अनुभव हुआ कि श्रीभगवान् की भविष्य-वाणी के अनुसार उनके मार्ग की कठिनाइयाँ बढ़ गयी हैं, कम नहीं हुईं। कुछ वर्ष बाद वह परिवार में वापस लौट आये और फिर काम में जुट गये। इसके बाद उनका भक्तिभाव बढ़ता गया। उन्होंने श्रीभगवान् की प्रशस्ति में तमिल में कविताओं की रचना की। और अन्त में उन्हें गुरु की वह मौखिक शिक्षाएँ प्राप्त हुईं, जिनके लिए वह इतने अधिक उत्सुक थे। **'ए कैटेक्रिज्म ऑफ इंस्ट्रक्शन'** नामक पुस्तक में गुरु और उसकी अनुकम्पा के सिद्धान्त का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है और इसमें अधिकांशतः श्रीनटेश के प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

---

[1] **इसका कारण १२वें अध्याय में दिया गया है।**

गणपति शास्त्री

श्रीभगवान के भक्तों में गणपति शास्त्री अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वह गणपति मुनि के नाम से विख्यात थे और संस्कृत में आशु कविता करने के कारण उन्हें काव्यकान्त की उपाधि से विभूषित किया गया था। वह अत्यन्त योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। अगर उनमें महत्त्वाकांक्षा होती, तो वह आधुनिक लेखकों और विद्वानों की अग्रिम पंक्ति में स्थान पाते और अगर उनमें महत्त्वाकांक्षा का सर्वथा अभाव होता, तो वह महान् आध्यात्मिक शिक्षक की पदवी पाते, परन्तु वह इन दोनों के मध्य में रह गये। भगवान् की ओर उनका इतना अधिक झुकाव था कि उन्हें सफलता या यश की तनिक भी इच्छा नहीं थी, तो भी वह मानव-जाति की सहायता और उत्थान के लिए इतने अधिक चिन्तित थे कि वह 'मैं कर्त्ता हूँ', इस भ्रम से मुक्ति नहीं पा सके।

सन् १८७८ में (श्रीभगवान् के जन्म से एक वर्ष पूर्व) गणपति शास्त्री के जन्म के समय उनके पिता बनारस में भगवान् गणपति की मूर्ति के सम्मुख बैठे हुए थे, उन्हें ऐसा दिखायी दिया कि भगवान् की मूर्ति से निकलकर एक बालक उनकी ओर आ रहा है, इसलिए उन्होंने अपने बालक का नाम गणपति रखा। प्रथम पाँच वर्ष तक गणपति गूँगे रहे, उन्हें मिरगी के दौरे आते रहे और उनमें प्रतिभाशाली बालक के चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते थे। इसके बाद रक्त-तप्त लोहे के स्पर्श द्वारा उनका उपचार किया गया और उन्होंने तत्काल ही अद्‌भुत योग्यता का परिचय देना प्रारम्भ किया। दस वर्ष की आयु तक वह संस्कृत में काव्य-रचना करने लगे और उन्होंने कई काव्यों तथा व्याकरण-शास्त्र में पाण्डित्य प्राप्त करने के अतिरिक्त ज्योतिष का पंचांग तैयार किया। चौदह वर्ष की आयु में वह पंचकाव्य, संस्कृत छन्द शास्त्र और अलंकारशास्त्र के मुख्य ग्रन्थों में पारंगत हो गये और उन्होंने रामायण, महाभारत तथा कुछ पुराणों का अध्ययन समाप्त कर लिया। वह संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण कर सकते और लिख सकते थे। श्रीभगवान् की तरह उनकी स्मरण-शक्ति अलौकिक थी। जो कुछ भी वह पढ़ते या सुनते, वह स्मरण कर लेते। श्रीभगवान् की तरह उनमें अष्टावधान की योग्यता थी, अर्थात् वह एक समय विभिन्न विषयों की ओर ध्यान केन्द्रित कर सकते थे।

प्राचीन ऋषियों की कथाओं का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनके आदर्श-चिह्नों पर चलने की भावना उनमें पैदा हुई। विवाह के तत्काल बाद अठारह वर्ष की आयु से, उन्होंने भारतवर्ष का भ्रमण प्रारम्भ किया, पवित्र स्थानों के दर्शन किये, मन्त्र-साधना की और तपश्चर्या की। सन् १९०० में वह बनिदया (बंगाल) में पण्डितों की एक सभा में सम्मिलित हुए। यहाँ आशु कविता तथा दार्शनिक तर्क-वितर्क में अद्‌भुत प्रतिभा-प्रदर्शन के कारण उन्हें 'काव्य-

कान्त' की उपाधि से, जिसका पहले निर्देश किया जा चुका है, सम्मानित किया गया। १९०३ ई० में वह तिरुवन्नामलाई आये और उन्होंने पहाड़ी पर दो बार ब्राह्मण स्वामी के दर्शन किये। कुछ समय के लिए उन्होंने वैल्लोर में, जहाँ तिरुवन्नामलाई से कुछ घण्टे की रेल-यात्रा के बाद पहुँचते थे, स्कूल-अध्यापक का कार्य किया। यहाँ उनके बहुत-से शिष्य बन गये। इन शिष्यों ने मन्त्रों के प्रयोग से शक्ति का इतना विकास किया था कि इसका सूक्ष्म प्रभाव अगर समस्त मानव-जाति में नहीं तो सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त हो जाता और उसे उन्नति की ओर ले जाता।

शिक्षक के पद पर वह देर तक नहीं रह सके। १९०६ ई०तक वह फिर तिरुवन्नामलाई वापस चले आये। परन्तु अब उनके मन में सन्देह पैदा होने लगे। अब वह अधेड़ हो चले थे। अपनी अद्‌भुत प्रतिभा प्रकाण्ड, पाण्डित्य तथा मन्त्रों और तप के कारण न उन्हें भगवत्-भक्ति के क्षेत्र में सफलता मिली और न सांसारिक क्षेत्र में। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि वह एक निष्प्राण लक्ष्य के निकट पहुँच चुके थे। कार्तिकेय-उत्सव के नौवें दिन उन्होंने एकाएक पहाड़ी पर रहने वाले स्वामी का स्मरण किया। निःसन्देह उन्हें उत्तर मिलेगा। ज्योंही उनके मन में यह भावना उठी उन्होंने इस पर आचरण किया। मध्याह्न के सूर्य की गरमी में उन्होंने विरूपाक्ष कन्दरा की ओर पहाड़ी पर चढ़ना शुरू किया। स्वामी अकेले कन्दरा के बरामदे में बैठे हुए थे। शास्त्री उनके सामने नत हो गये और उन्होंने उनके चरण पकड़ लिये। भावावेश के कारण काँपती हुई आवाज में उन्होंने कहा, "जो कुछ अध्ययन करना चाहिए, वह सब मैंने अध्ययन कर लिया है, वेदान्तशास्त्र में भी मैं पारंगत हो गया हूँ; मैंने हार्दिक भाव से जप भी किया है परन्तु अब तक मैं यह नहीं समझ पाया कि तप क्या है। इसलिए मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे तप के स्वरूप से परिचित कराइए।"

स्वामी पन्द्रह मिनट तक मौनभाव से शास्त्री की ओर देखते रहे और फिर उन्होंने उत्तर दिया, "अगर कोई यह निरीक्षण करे कि 'मैं' का विचार कहाँ-से उत्पन्न होता है, तो मन उसमें निमग्न हो जाता है; वही तप है। मन्त्रोच्चारण के समय अगर कोई उस स्रोत को देखता है, जहाँ से मन्त्र-ध्वनि उत्पन्न होती है, तो मन उसमें निमग्न हो जाता है, वही तप है।"

स्वामी के शब्दों से शास्त्री इतने आनन्दित नहीं हुए जितने उनकी अनुकम्पा से। उन्होंने स्वामी के उपदेश के सम्बन्ध में अपने मित्रों को ओजस्विनी भाषा में लिखा और संस्कृत श्लोकों में उनकी प्रशस्ति की। उन्हें पलानी स्वामी से पता चला कि स्वामी का नाम वेंकटरमण है। उन्होंने यह घोषणा की कि अब से उन्हें भगवान् श्रीरमण और महर्षि के नाम से पुकारा जायगा। रमण

नाम तत्काल ही प्रयोग में आने लगा और इसी प्रकार महर्षि की उपाधि भी। भाषण और लेखन में बहुत अरसे तक उन्हें 'महर्षि' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा। धीरे-धीरे उनके भक्तजन उन्हें 'भगवान्' के नाम से सम्बोधित करने लगे जिसका अर्थ है 'दिव्य' या 'प्रभु'। वह स्वयं प्रायः अवैयक्तिक रूप से बात करते थे और 'मैं' के प्रयोग से बचते थे। उदाहरण के लिए, वह वस्तुतः यह नहीं कहा करते थे, "मैं नहीं जानता कि कब सूर्य उदय हुआ या कब अस्त हुआ" जैसा कि पाँचवें अध्याय में उद्धृत किया गया है, बल्कि वह यह कहा करते थे, "कौन जानता है कब सूर्य उदय हुआ या कब अस्त हुआ ?" कभी-कभी वह अपने शरीर की ओर भी 'यह' कहकर निर्देश किया करते थे। केवल वह वक्तव्य देते समय जिसमें 'भगवान्' शब्द होता, वह 'भगवान्' कहा करते और प्रथम पुरुष में बात करते। उदाहरण के लिए, जब मेरी पुत्री वापस स्कूल जा रही थी और उनसे यह कहा गया कि जब वह दूर रहे, तो उसे याद रखें, तब उनका उत्तर था, "अगर किट्टी भगवान् को याद रखेगी तो भगवान् भी किट्टी को याद रखेंगे।"

गणपति शास्त्री श्रीभगवान् को भगवान् सुब्रह्मण्यम् का अवतार समझते थे, परन्तु भगवान के भक्तों ने यह मानने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उनका ऐसा अनुभव था कि श्रीभगवान् को किसी विशेष दिव्य रूप का अवतार समझना असीम को सीमा में बाँधना है। श्रीभगवान् ने इस ऐकात्म्य का समर्थन नहीं किया। एक बार एक भक्त ने उनसे कहा, "अगर भगवान् सुब्रह्मण्यम् का अवतार हैं, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, तो वह हमारे अटकलबाजी लगाने के बजाय स्पष्ट रूप से इसकी घोषणा क्यों नहीं करते।"

उन्होंने उत्तर दिया, "अवतार क्या है ? अवतार भगवान् के एक पक्ष की अभिव्यक्ति है, जबकि ज्ञानी स्वयं भगवान् है।"

श्रीभगवान् से मिलने के एक वर्ष बाद गणपति शास्त्री ने भगवान् की अपार अनुकम्पा का अनुभव किया। जब वह तिरुवोथियुर में गणपति के मन्दिर में ध्यानावस्था में बैठे थे, वह व्यग्र हो उठे। उनके मन में श्रीभगवान् का सान्निध्य और मार्गदर्शन प्राप्त करने की उत्कट इच्छा पैदा हुई। उसी क्षण श्रीभगवान् ने मन्दिर में प्रवेश किया। गणपति शास्त्री उनके सम्मुख दण्डवत् लेट गये और जैसे ही वह उठने लगे उन्होंने अपने सिर पर श्रीभगवान् के हाथ के स्पर्श का अनुभव किया। इस स्पर्श से उनके समस्त शरीर में अजस्र शक्ति की धारा प्रवाहित होने लगी। इस प्रकार उन्होंने गुरु से स्पर्श के माध्यम से अनुकम्पा का प्रसाद प्राप्त किया।

बाद के वर्षों में इस घटना की चर्चा करते हुए श्रीभगवान् ने कहा, "एक दिन, कुछ वर्ष पूर्व, मैं नीचे लेटा हुआ था और जाग रहा था। मैंने स्पष्ट रूप

से यह अनुभव किया कि मेरा शरीर ऊँचा उठ रहा है। मैं देख रहा था कि नीचे के भौतिक पदार्थ क्षुद्रतर होते जा रहे हैं, और अन्ततः लुप्त हो गये हैं और मेरे चारों ओर चौंधियाने वाले प्रकाश का निस्सीम विस्तार है। कुछ देर बाद मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरा शरीर धीरे-धीरे नीचे उतर रहा है और नीचे के भौतिक पदार्थ प्रकट हो रहे हैं। मुझे यह घटना इतनी अच्छी तरह स्मरण है कि मैं अन्ततः इस परिणाम पर पहुँचा कि इन्हीं साधनों द्वारा सिद्ध लोग थोड़े समय में दूर-दूर की यात्राएँ किया करते होंगे और रहस्यमय ढंग से कभी प्रकट और कभी तिरोहित हो जाते होंगे। जब मेरा शरीर इस प्रकार भूमि पर उतरा, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं तिरुवोथियुर में था, हालाँकि इस स्थान को मैंने पहले कभी नहीं देखा था। मैंने अपने को सड़क पर पाया और उस पर चलने लगा। सड़क से कुछ दूर गणपति का मन्दिर था और मैंने इसमें प्रवेश कर लिया।''

यह घटना श्रीभगवान् के जीवन की बड़ी विलक्षण घटना है। यह बड़ी विलक्षण बात है कि अपने भक्त की भक्ति या कष्ट से द्रवित होकर वह तुरन्त रहस्यमय ढंग से सहायता के लिए दौड़ते आयें और समस्त सिद्धियों के होते हुए भी भौतिक जगत की अपेक्षा सूक्ष्म जगत की शक्तियों के प्रयोग में दिलचस्पी न रखें और भक्त की प्रार्थना पर अगर कोई अद्भुत घटना घट जाय, तो बाल-सुलभ सरलता से कहें, ''मेरा विचार है, यही सिद्ध लोग करते हैं।''

यही वह उदासीनता का भाव था, जिसका विकास गणपति शास्त्री नहीं कर सके। उन्होंने एक बार भगवान् से पूछा था, ''क्या मेरे सब ध्येयों की प्राप्ति के लिए 'मैं' के स्रोत की खोज करना पर्याप्त है या इसके लिए मन्त्राध्ययन की आवश्यकता है।'' श्रीभगवान् सदा 'मैं' का निषेध करते हुए कहते : उसके ध्येय, उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ, देश का पुनरुत्थान और धर्म का पुनरभ्युदय।

श्री भगवान् ने संक्षेप में उत्तर दिया, ''पहला साधन पर्याप्त होगा।'' और जब शास्त्री ने अपने ध्येयों तथा आदर्शों के सम्बन्ध में वक्तव्य जारी रखा तब उन्होंने कहा, ''अच्छा यह होगा कि आप अपना समस्त भार भगवान् पर डाल दें। वह आपके समस्त दायित्व उठा लेगा और आप उनसे मुक्त हो जायेंगे। वह अपना कार्य करेगा।''

सन् १९१७ में गणपति शास्त्री तथा अन्य भक्तों ने श्रीभगवान् के सम्मुख कई प्रश्न रखे और ये प्रश्न तथा उत्तर श्री रमण गीता में संगृहीत किये गये हैं। उस पुस्तक में उनकी अधिकांश पुस्तकों की अपेक्षा अधिक विद्वत्ता और सैद्धान्तिक ज्ञान झलकता है। गणपति शास्त्री का एक विशेष प्रश्न यह था कि अगर किसी व्यक्ति को विशेष सिद्धियों की खोज में ज्ञान-लाभ हो जाय तो

क्या उसकी इच्छाएँ पूर्ण हो जायेंगी। श्रीभगवान् का तुरन्त तथा सूक्ष्म परिहास उनके इस उत्तर में परिलक्षित होता है: "अगर योगी को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए योग-साधन करते हुए, ज्ञान-लाभ हो जाय, तो वह अनुचित रूप से हर्षित नहीं होगा, भले ही उसकी इच्छाओं की पूर्ति हो जाय।"

सन् १९३६ के लगभग गणपति शास्त्री अपने अनुयायियों के साथ खड़गपुर के निकट नीमपुरा के गाँव में बस गये। इसके दो वर्ष बाद से लेकर मृत्युपर्यन्त वे पूर्णतः तपश्चर्या में लीन रहे। शास्त्रीजी की मृत्यु के बाद, जब एक बार श्रीभगवान् से यह प्रश्न किया गया कि क्या शास्त्रीजी को अपने जीवन में आत्म-साक्षात्कार हो गया था, तब उन्होंने उत्तर दिया, "उन्हें आत्म-साक्षात्कार कैसे हो सकता था ? उनके संकल्प अत्यन्त प्रबल थे।"

एफ० एच० हम्फ्रीज

श्रीभगवान् के प्रथम पाश्चात्य भक्त सन् १९११ में भारत आने से पूर्व रहस्यमयी सिद्धियों से परिचित थे। उनकी आयु उस समय केवल २१ वर्ष की थी। वे वैल्लोर में पुलिस सेवा में एक उच्च पद पर थे। उन्होंने तेलुगु सीखने के लिए नरसिंहैय्या नामक एक शिक्षक रखा। प्रथम पाठ के समय ही उन्होंने अपने शिक्षक से यह प्रश्न किया कि क्या वे उनके लिए हिन्दू ज्योतिष पर अंग्रेजी में लिखी कोई पुस्तक ला सकेंगे। यह एक अंग्रेज की बड़ी विचित्र प्रार्थना थी, परन्तु नरसिंहैय्या ने इसे स्वीकार कर लिया और उन्हें पुस्तकालय से एक पुस्तक लाकर दे दी। अगले दिन हम्फ्रीज ने एक और आश्चर्यजनक प्रश्न पूछा, "क्या आप यहाँ किसी महात्मा को जानते हैं ?"

नरसिंहैय्या ने संक्षेप में निषेधात्मक उत्तर दिया। परन्तु इस निषेध के कारण नरसिंहैय्या देर तक परेशानी से नहीं बचे रह सके क्योंकि हम्फ्रीज ने अगले दिन कहा, "क्या आपने कल मुझसे कहा था कि आप किसी महात्मा को नहीं जानते ? परन्तु आज सवेरे जैसे ही मेरी आँख खुली मैंने आपके गुरु को देखा। वह मेरे निकट बैठ गये। उन्होंने मुझसे कुछ कहा जो मैं नहीं समझ सका।"

चूँकि नरसिंहैय्या को अब भी विश्वास नहीं हो रहा था, हम्फ्रीज ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "वैल्लोर के लिए प्रथम व्यक्ति को मैं बम्बई में मिला, वह तुम ही थे।" नरसिंहैय्या ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा कि वह कभी बम्बई गया ही नहीं। परन्तु हम्फ्रीज ने उसे समझाते हुए कहा, "जैसे ही मैं बम्बई पहुँचा, मुझे उच्च ज्वर की अवस्था में अस्पताल ले जाया गया। पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए मैंने वैल्लोर का ध्यान किया। अगर मैं बीमार न पड़ता तो मुझे बम्बई में उतरते ही तुरन्त वैल्लोर के

लिए प्रस्थान करना था। मैंने अपने सूक्ष्म शरीर में वैल्लोर की यात्रा की और वहाँ तुम्हें देखा।"

नरसिंहैय्या ने सीधा-साधा उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता कि सूक्ष्म शरीर क्या होता है, मुझे इस भौतिक शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी शरीर का ज्ञान नहीं।" फिर भी, स्वप्न के सत्य की परीक्षा करने के लिए उसने दूसरे पुलिस अफसर को पढ़ाने के लिए जाने से पूर्व हम्फ्रीज की मेज पर कुछ फोटो रख दिये। हम्फ्रीज ने उन्हें देखा और तत्काल ही उनमें से गणपति शास्त्री का फोटो छाँट लिया। हम्फ्रीज के शिक्षक नरसिंहैय्या वापस आये तब उन्होंने कहा "ये रहे तुम्हारे गुरु।"

नरसिंहैय्या ने इसे स्वीकार कर लिया। इसके बाद हम्फ्रीज बीमार पड़ गये और उन्हें स्वास्थ्य-लाभ के लिए ऊटकमण्ड जाना पड़ा। कई महीने बाद वह वैल्लोर वापस लौटे। जब वे वापस आये तब उन्होंने नरसिंहैय्या को फिर आश्चर्य में डाल दिया। इस बार उन्होंने स्वप्न में देखी एक पर्वतीय कन्दरा का चित्र खींचा। इसके सामने एक नदी बह रही थी और इसके प्रवेश-द्वार पर एक ऋषि खड़े हुए थे। यह विरूपाक्ष कन्दरा ही हो सकती थी। नरसिंहैय्या ने अब हम्फ्रीज को श्रीभगवान् के सम्बन्ध में बताया। हम्फ्रीज का गणपति शास्त्री से परिचय कराया गया और उनके हृदय में शास्त्रीजी के प्रति सम्मान की भावना पैदा हो गयी। इसी मास अर्थात नवम्बर १९११ को उन तीनों ने तिरुवन्नामलाई की यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया।

श्रीभगवान् के महामौन के सम्बन्ध में हम्फ्रीज की प्रथम धारणा पहले ही एक प्रारम्भिक अध्याय में उद्धृत की गयी है। उसी पत्र में जहाँ से यह लिया गया है, उन्होंने यह भी लिखा, "सबसे अधिक प्रभावोत्पादक दृश्य वह है जब सात वर्ष की आयु तक के छोटे-छोटे बच्चे स्वयं पहाड़ी पर चढ़ते और महर्षि के निकट आकर बैठते हैं, भले ही वे कई दिनों तक मौन धारण किये रहें और उनकी ओर दृष्टिपात न करें। ये बच्चे वहाँ खेलते नहीं बल्कि शान्त भाव से बैठे रहते हैं।"

गणपति शास्त्री की तरह हम्फ्रीज भी संसार की सहायता करने के इच्छुक थे।

हम्फ्रीज : स्वामिन्, मैं संसार की किस प्रकार सहायता कर सकता हूँ ?

भगवान् : अपनी सहायता करो और इस प्रकार आप संसार की सहायता करेंगे।

हम्फ्रीज : मैं संसार की सहायता करना चाहता हूँ ? क्या मैं इसमें सहायक न होऊँगा ?

भगवान् : हाँ, अपनी सहायता द्वारा आप संसार की सहायता करेंगे। आप संसार में हैं, आप संसार हैं। आप संसार से भिन्न नहीं हैं और न ही संसार आप से भिन्न है।

हम्फ्रीज : (थोड़ी देर रुक कर) स्वामिन्; क्या मैं श्रीकृष्ण और ईसा मसीह की तरह चमत्कार कर सकता हूँ ?

भगवान् : क्या उनमें से किसी ने चमत्कार किये ? जब किसी ने चमत्कार किये तो ऐसा अनुभव करो कि यह वही था जो यह चमत्कार कर रहा था।

हम्फ्रीज : नहीं, स्वामिन् !

थोड़े अरसे बाद हम्फ्रीज ने फिर भगवान् के दर्शन किये।

"मैं मोटर-साइकिल से गया और कन्दरा तक चढ़ गया। सन्त ने जब मुझे देखा तो वे मुस्कराये परन्तु उन्हें तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। हम अन्दर गये और बैठने से पूर्व उन्होंने मुझसे एक व्यक्तिगत प्रश्न पूछा, जिसके सम्बन्ध में वे जानते थे। प्रत्यक्षतः, ज्योंही उन्होंने मुझे देखा त्योंही वे मुझे पहचान गये थे। जो कोई उनके पास आता है, वह खुली पुस्तक के सदृश होता है और उनकी प्रथम दृष्टि से ही इसकी विषय-वस्तु उनके सम्मुख आ जाती है।

"उन्होंने कहा, 'आपने अभी तक भोजन नहीं किया, आपको भूख लगी होगी।'

"मैंने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया और उन्होंने तत्काल ही अपने एक शिष्य से मेरे लिये भोजन—चावल, घी, फल आदि लाने के लिए कहा। मैंने उँगलियों से यह भोजन खाया क्योंकि भारतीय चम्मचों का प्रयोग नहीं करते। यद्यपि मैंने इस प्रकार खाने का अभ्यास कर लिया था तथापि मैं अच्छी तरह नहीं खा पा रहा था। इसलिए उन्होंने मुझे खाने के लिए नारियल का चम्मच दिया। वे मुस्कराते जाते थे और बीच-बीच में बातें करते जाते थे। उनकी मुस्कराहट से बढ़कर अधिक सुन्दर वस्तु की आप कल्पना नहीं कर सकते। उन्होंने मुझे गाय के दूध की तरह शुभ्र और स्वादिष्ट नारियल का पानी पीने के लिए दिया; इसमें उन्होंने थोड़ी-सी चीनी डाल दी थी।

"खाना खाने के बाद भी मेरी भूख नहीं मिटी थी और वे इसे जानते थे। उन्होंने और खाना लाने का आदेश दिया। वे सब कुछ जानते हैं। पूरा भोजन कर चुकने के बाद जब दूसरों ने मुझसे फल खाने का अनुरोध किया तब उन्होंने उन्हें तत्काल रोक दिया।

"मुझे अपने पीने के तरीके के लिए क्षमा माँगनी पड़ी। उन्होंने

केवल इतना कहा, 'परवाह मत करो।' हिन्दू इसके सम्बन्ध में बहुत सचेत होते हैं। वे अपने ओठों से बर्तन को कभी मुँह नहीं लगाते बल्कि सीधे ही पेय द्रव को मुँह में डालते हैं। इसलिए बिना छूत के भय के बहुत-से लोग एक ही पात्र से पी सकते हैं। जब मैं भोजन कर रहा था तब वे दूसरों को मेरा परिचय ठीक-ठीक बता रहे थे। परन्तु पहले उन्होंने मुझे केवल एक बार देखा था और इस बीच उन्होंने सहस्रों व्यक्तियों को देखा था। उन्होंने परोक्ष-ज्ञान का आश्रय लिया, जैसे हम विश्व-कोष की ओर निर्देश करते हैं। मैं लगभग तीन घण्टे तक उनका उपदेश सुनता रहा।

"बाद में मुझे प्यास लगी। क्योंकि चढ़ाई बड़ी कठिन थी, परन्तु मैंने मुँह से कुछ नहीं कहा। फिर भी उन्हें पता चल गया और उन्होंने एक शिष्य से लैमनेड लाने के लिए कहा।

"अन्त में मैंने उनके सम्मुख नत-मस्तक होकर विदाई ली और अपने बूट पहनने के लिए मैं कन्दरा से बाहर गया। वे भी बाहर आये और उन्होंने मुझसे फिर आने के लिए कहा।

"यह बड़ी विचित्र बात है कि उनकी उपस्थिति में व्यक्ति में कितना महान् परिवर्तन हो जाता है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो भी व्यक्ति श्रीभगवान् के सम्मुख बैठता था, उनके लिए खुली पुस्तक के समान था, फिर भी हम्फ्रीज की परोक्षज्ञान सम्बन्धी धारणा गलत थी। यद्यपि लोगों की सहायता और उनका मार्गदर्शन करने के लिए श्रीभगवान् उन्हें बड़ी गहराई से देखते थे तथापि वह मानवीय धरातल पर इस प्रकार की शक्तियों का प्रयोग नहीं करते थे। चेहरों की उनकी स्मृति इतनी चमत्कारिक थी जितनी कि पुस्तकों की। उनके दर्शनों के लिए सहस्रों लोग आते थे, परन्तु जो भक्त एक बार उनके दर्शन कर गया वह उसे कभी भी नहीं भूलते थे। अगर कोई व्यक्ति वर्षों बाद वापस आता, वह फिर भी उसे पहचान लेते। न ही वह किसी भक्त की जीवन-गाथा को कभी भूलते थे। नरसिंहैय्या ने उनसे हम्फ्रीज के सम्बन्ध में अवश्य चर्चा की होगी। जब किसी विषय के सम्बन्ध में सर्वोत्तम रीति से बात न होती वह अत्यन्त विवेक का परिचय देते परन्तु उनमें सामान्यत: बाल-सुलभ सरलता थी और वह बालक की तरह किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में उसके सामने ही बात करते, न तो स्वयं ही व्यग्रता का परिचय देते और न दूसरे को व्यग्र करते। खाने-पीने के सम्बन्ध में वह न केवल सावधान रहते थे बल्कि इस बात की पूरी देखभाल करते थे कि अतिथि की तृप्ति हुई है या नहीं।

हम्फ्रीज महोदय में चमत्कारिक सिद्धियों का आविर्भाव होने लगा, परन्तु श्रीभगवान् ने उन्हें चेतावनी दी कि वह उनमें आसक्त न हों। हम्फ्रीज ने अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति के बल पर इस प्रलोभन पर विजय भी पायी। वस्तुत: श्रीभगवान् के प्रभाव के कारण तांत्रिक शक्तियों में उसकी दिलचस्पी बिलकुल समाप्त हो गयी।

इसके अतिरिक्त हम्फ्रीज महोदय को, पश्चिम में प्राय: सर्वत्र और आधुनिक पूर्व में अनेक स्थानों पर व्याप्त इस भ्रान्ति से कि केवल बाह्य गतिविधि द्वारा मानव-जाति की सहायता सम्भव है, छुटकारा मिल गया। उन्हें यह आदेश दिया गया था कि अपनी सहायता आप करने से व्यक्ति संसार की सहायता करता है। यह सिद्धान्त जिसे यथेच्छकारिता के मानने वाले गलत रूप में अर्थशास्त्र में सत्य समझते हैं, वस्तुत: आध्यात्मिक दृष्टि से सत्य है, चूँकि आध्यात्मिक दृष्टि से एक व्यक्ति का धन दूसरे व्यक्ति के धन को कम नहीं करता बल्कि इसमें वृद्धि करता है। जैसे कि हम्फ्रीज ने अपनी प्रथम भेंट में श्रीभगवान् को निश्चेष्ट शव के रूप में देखा था जिसमें से दैवी प्रकाश निस्सृप्त हो रहा है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुरूप अदृश्य प्रभावों का प्रसारण केन्द्र है। जहाँ तक कोई व्यक्ति समस्वरता की स्थिति में है और अहंभाव से स्वतन्त्र है, वह अनिवार्य और अनैच्छिक रूप से समस्वरता का प्रसार कर रहा है, भले ही वह बाह्य रूप से सक्रिय हो या न हो; और जहाँ तक उसकी अपनी प्रकृति विक्षुब्ध है, वह अशान्ति का प्रसार कर रहा है, भले ही वह बाह्य रूप से सेवा कर रहा हो।

यद्यपि हम्फ्रीज महोदय श्रीभगवान् के साथ कभी नहीं रहे और उन्होंने केवल कुछ बार ही उनके दर्शन किये, तथापि उन्होंने उनकी शिक्षाओं को आत्मसात् कर लिया और वे उनकी अनुकम्पा के भाजन बने। उन्होंने अपने एक मित्र को अंग्रेजी में एक संक्षिप्त विवरण भेजा था, जो बाद में **इण्टरनेशनल साइकिक गजट** में प्रकाशित हुआ। इसमें श्रीभगवान् की शिक्षा का सार निहित है।

> "शिक्षक वही है, जिसने एकमात्र भगवान् का चिन्तन किया है, अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भगवान् के समुद्र में फेंक दिया है और डुबो दिया है, और इसे वहीं भुला दिया है, वह मात्र भगवान् का साधन बन कर रह गया है और जब उसका मुख खुलता है, उसमें से बिना प्रयास और पूर्व-विचार के भगवान् की वाणी निकलती है, और जब वह अपना हाथ उठाता है, चमत्कार करने के लिए उसमें से भगवान् की शक्ति प्रवाहित होती है।

"मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध में बहुत अधिक मत सोचो। उनकी संख्या अनन्त है और जब एक बार अन्वेषक के हृदय में मानसिक शक्तियों के विषय में आस्था दृढ़ हो जाती है इस प्रकार की चमत्कारी घटनाएँ अवश्य घटित होती हैं। परोक्ष दर्शन और अतिश्रवण तथा इस प्रकार की अन्य शक्तियों की सिद्धि व्यर्थ है क्योंकि इनके बिना भी महान् प्रकाश और शान्ति की प्राप्ति सम्भव है। शिक्षक इन शक्तियों को आत्म-बलिदान का एक रूप समझता है।

"यह विचार कि वह शिक्षक नहीं है जिसने विभिन्न रहस्यमयी शक्तियों को निरन्तर अभ्यास और प्रार्थना द्वारा सिद्ध कर लिया है, बिलकुल गलत है। किसी भी शिक्षक ने रहस्यमयी शक्तियों की तनिक भी चिन्ता नहीं की, क्योंकि अपने दैनिक जीवन में उसे इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

"जो चमत्कारिक घटनाएँ हम देखते हैं वे अद्भुत और आश्चर्यमयी होती हैं परन्तु सबसे अधिक आश्चर्यमयी, जिसे कि हम अनुभव नहीं करते एकमात्र वह असीम शक्ति है जो (क) उन सब घटनाओं के लिए उत्तरदायी है जिन्हें हम देखते हैं; और (ख) उन घटनाओं को देखने के कार्य के लिए उत्तरदायी है।

"जीवन, मृत्यु और चमत्कारों की इन सब परिवर्तित होती हुई वस्तुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित मत करो। उन्हें देखने या निरीक्षण करने के वास्तविक कार्य के सम्बन्ध में भी मत सोचो, परन्तु केवल उसी का विचार करो जो इन सब वस्तुओं को देखता है, जो इन सब के लिए उत्तरदायी है। पहले यह लगभग असम्भव प्रतीत होगा परन्तु धीरे-धीरे आप इसका परिणाम अनुभव करने लगेंगे। इसके लिए वर्षों तक निरन्तर दैनिक साधना की आवश्यकता है और इस प्रकार ही एक शिक्षक का निर्माण होता है। प्रतिदिन इस अभ्यास के लिए पन्द्रह मिनट दें। अपने मन को दृष्टा पर स्थिर रखें। यह आपके अन्दर है। उसकी खोज के लिए हम्फ्रीज की अपेक्षा न करें।" श्रीभगवान् ने उन्हें अपनी नौकरी की ओर ध्यान देने और साथ ही चिन्ता करने का परामर्श दिया। कुछ वर्ष तक उन्होंने ऐसा किया, फिर वह सेवा-निवृत्त हो गये। हम्फ्रीज महोदय पहले ही कैथोलिक थे और सभी धर्मों की एकता में विश्वास रखते थे, इसलिए उन्होंने धर्म-परिवर्तन की कोई आवश्यकता न समझी, बल्कि इंगलैण्ड वापस लौट गये। यहाँ आकर उन्होंने एक मठ में प्रवेश ले लिया।

थियोसाफिस्ट

श्रीभगवान् की सहिष्णुता और दयालुता से सभी प्रभावित होते थे। वह केवल सभी धर्मों के सत्य को स्वीकार नहीं करते थे, क्योंकि प्रत्येक आध्यात्मिक पुरुष से ऐसी अपेक्षा की जाती है, परन्तु अगर कोई स्कूल या समूह या आश्रम आध्यात्मिकता के प्रसार करने का प्रयत्न कर रहा होता तो वह उसके शुभ कार्य की प्रशंसा करते, भले ही उसके तरीके उनके तरीकों से भिन्न न हों या उसकी शिक्षाएँ पुरातन विचारधारा के अनुरूप न हों।

तिरुवन्नामलाई के सरकारी अधिकारी श्री राघवाचारियर कभी-कभी श्रीभगवान् के दर्शन करने जाया करते थे। वह थियोसाफिकल सोसाइटी के सम्बन्ध में श्रीभगवान् की सम्मति जानना चाहते थे। परन्तु जब कभी वह वहाँ जाते उन्हें वहाँ भक्तों की भीड़ दिखायी देती। उन्हें सबके सामने श्रीभगवान् से प्रश्न करने में संकोच होता। एक दिन वह तीन प्रश्न पूछने का दृढ़ निश्चय कर उनके सामने गये। उन्होंने घटना का इस प्रकार वर्णन किया है :

"प्रश्न इस प्रकार थे :

"१. क्या आप मुझे व्यक्तिगत वार्तालाप के लिए एकान्त में कुछ मिनट दे सकते हैं ?

"२. मैं थियोसाफिकल सोसाइटी का सदस्य हूँ। इस सोसाइटी के सम्बन्ध में मैं आपकी सम्मति जानना चाहता हूँ।

"३. अगर आप मुझे अपने वास्तविक स्वरूप दर्शन का पात्र समझें तो क्या उसे प्रकट करने का अनुग्रह करेंगे ?

"जब मैं महर्षि के पास गया, मैंने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और उनके सम्मुख बैठ गया। उस समय ३० व्यक्तियों से कम नहीं थे, परन्तु शीघ्र ही सब लोग चले गये। इस प्रकार केवल मैं ही वहाँ अकेला रह गया और मेरे बिना बताये मेरे प्रथम प्रश्न का उत्तर मिल गया। इससे मैं आश्चर्य में पड़ गया।

"तब उन्होंने मुझसे स्वयं पूछा कि क्या मेरे हाथ में गीता है और क्या मैं थियोसाफिकल सोसाइटी का सदस्य हूँ और मेरे प्रश्नों का उत्तर देने से पहले उन्होंने कहा, 'यह सोसाइटी अच्छा कार्य कर रही है।' मैंने उनके प्रश्नों का उत्तर हाँ में दिया।

"मेरे दूसरे प्रश्न का पूर्वाभास होने के बाद, मैंने बड़ी उत्सुकता से तीसरे प्रश्न की प्रतीक्षा की। आधा घण्टे बाद मैंने अपना मुँह खोला और कहा, 'जिस प्रकार अर्जुन श्रीकृष्ण का रूप देखना चाहता था और उसने उनके दर्शन के लिए प्रार्थना की थी, मैं आपके वास्तविक रूप का दर्शन करना चाहता हूँ,

क्या मैं इसका पात्र हूँ ?' वह उस समय चबूतरे पर बैठे हुए थे। उनके सामने की दीवार पर दक्षिणामूर्ति का चित्र अंकित था। हमेशा की तरह, वह मौन भाव से देख रहे थे और मैं उनकी आँखों की ओर देख रहा था। उनका शरीर और दक्षिणामूर्ति का चित्र मेरी आँखों से ओझल हो गये। वहाँ केवल खाली स्थान था, मेरी आँखों के सम्मुख दीवार भी नहीं थी। फिर मेरी आँखों के आगे धवल जलद के रूप में महर्षि और दक्षिणामूर्ति का आकार प्रकट हुआ। धीरे-धीरे इन आकृतियों की रूपरेखा प्रकट हुई। फिर विद्युत् की सी रेखाओं में आँखें, नाक तथा अन्य अंगों का निर्माण हुआ। धीरे-धीरे इनका विस्तार होता गया और सन्त तथा दक्षिणामूर्ति की समस्त आकृति प्रचण्ड और असह्य प्रकाश से चमकने लगी। परिणामतः मैंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। मैंने कुछ क्षण प्रतीक्षा की और फिर उन्हें तथा दक्षिणामूर्ति को अपने स्वाभाविक रूप में देखा। मैंने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और वापस आ गया। इस अनुभव का मुझ पर इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि इसके बाद एक महीने तक मेरा श्रीभगवान् के निकट जाने का साहस नहीं हुआ। एक महीने बाद मैं गया और मैंने उन्हें स्कन्दाश्रम के सम्मुख खड़े हुए देखा। मैंने उनसे कहा, 'मैंने एक महीना पहले आपके सम्मुख एक प्रश्न रखा था और मुझे उपर्युक्त अनुभव हुआ।' मैंने उनसे इस अनुभव की चर्चा की। मैंने उनसे इसकी व्याख्या करने के लिए कहा। तब कुछ देर रुकने के बाद उन्होंने कहा, 'आप मेरे रूप के दर्शन करना चाहते थे, आपने मेरा लुप्त होना देखा; मैं निराकार हूँ। इसलिए वह अनुभव वास्तविक सत्य है। आगामी दर्शन भगवत् गीता के अध्ययन के आधार पर निर्मित आपके अपने विचारों के अनुरूप है। परन्तु गणपति शास्त्री को भी ऐसा ही अनुभव हुआ था, आप उनसे परामर्श कर सकते हैं।' मैंने वस्तुतः शास्त्रीजी से परामर्श नहीं किया। इसके बाद महर्षि ने कहा, 'इस बात का पता लगा कि यह द्रष्टा या विचारक "मैं" कौन है और उसका निवास कहाँ है'।"

एक अज्ञात भक्त

विरूपाक्ष में एक दर्शनार्थी आये थे। यद्यपि वह केवल पाँच दिन वहाँ रहे तथापि श्रीभगवान् की अपार अनुकम्पा का प्रसाद उन्हें प्राप्त हुआ। श्रीभगवान् की जीवनी **'सैल्फ रियलाईजेशन'** (वर्तमान पुस्तक का अधिकांश भाग उसी पर आधारित है) के लिए सामग्री एकत्रित करने वाले नरसिंह स्वामी ने उस दर्शनार्थी भक्त का नाम और पता जानने का निश्चय किया। अपूर्व उल्लास और शान्ति उसके चेहरे पर झलकती थी और श्रीभगवान् की करुण दृष्टि का प्रसाद उसे प्राप्त हुआ। प्रतिदिन वह दर्शनार्थी श्रीभगवान् की प्रशस्ति में एक

तमिल गीत की रचना करता था। इन गीतों में अपूर्व उल्लास, स्फूर्ति और भक्ति-भावना भरी थी। भगवान् की प्रशस्ति में रचित गीतों में से कुछ गीत ऐसे भी हैं जो आज तक गाये जाते हैं। बाद में नरसिंह स्वामी दर्शनार्थी के सम्बन्ध में और अधिक विवरण ज्ञात करने के लिए, उसके बताये सत्यमंगलम नगर में गये, परन्तु वहाँ इस प्रकार का कोई व्यक्ति नहीं मिला। सत्यमंगलम का अर्थ है 'आनन्द धाम' और ऐसा कहा जाता है कि दर्शनार्थी शायद किसी गुप्त 'आनन्द धाम' का दूत हो और युग के सद्गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा के पुष्प समर्पित करने आया हो।

उपर्युक्त दर्शनार्थी के एक गीत में श्रीभगवान् को 'रमण सद्गुरु' कहा गया है। जब एक बार इस गीत का गान हो रहा था, श्रीभगवान् स्वयं इसमें सम्मिलित हुए। इस गीत के गायक भक्त को हँसी आ गयी और उसने कहा, "मैंने पहली बार किसी को अपनी प्रशस्ति गाते हुए सुना है।"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "आप रमण को छः फुट तक ही क्यों सीमित रखते हैं ? रमण तो विश्वव्यापी है।"

पाँच गीतों में से एक गीत में उषा और जागरण का इतना अलौकिक और सुन्दर वर्णन है कि यह विश्वास करना सहज है कि इस गीत के गीतकार के जीवन में वस्तुतः उषा का उदय हुआ है :

पहाड़ी पर अरुणोदय हो रहा है,
मधुर रमण, आओ !
भगवान् अरुणाचल, आओ !

झाड़ी में कोयल गीत गाती है,
प्रिय स्वामिन्, रमण आओ !
ज्ञान के आगार, आओ !

शंख बज रहा है, तारों का प्रकाश मद्धिम पड़ गया है,
मधुर रमण, आओ !
देवाधिदेव, आओ !

मुर्गे बाँग देते हैं, पक्षी चहचहा रहे हैं,
समय हो गया है, आओ
रात्रि विदा ले चुकी है, आओ !

सूर्यनाद हो रहा है, ढोल बज रहे हैं,
देदीप्यमान रमण, आओ !
ज्ञान के भण्डार, आओ !

कौए काँ-काँ करते हैं, सवेरा हो गया है
सर्प-माल स्वामिन्, आओ !
नील-कण्ठ स्वामिन्, आओ !

अज्ञान दूर हो गया है, हृदय-कमल खिल रहे हैं,
प्रज्ञावान् रमण, आओ !
वेदों के किरीट, आओ !

मुक्ति के दाता, निर्लेप रमण आओ,
करुणा-पुंज रमण, आओ !
शान्ति-पुंज, आओ !
ऋषि तथा प्रजापति,
सच्चिदानन्द
हर्षोल्लास के आगार, आओ !

ज्ञान और प्रेम-पुंज,
शोक हर्षातीत देव, आओ !
आनन्दमय मौन, आओ !

ग्यारहवाँ अध्याय

पशु

हिन्दुओं का ऐसा विश्वास है (जैसा कि शंकराचार्य ने भगवद्गीता सम्बन्धी अपनी टीका के पाँचवें अध्याय में पृष्ठ ४०-४४ पर विस्तार से व्याख्या की है) कि मृत्यु के बाद जिस जीव ने आत्मा के साथ एकरूपता अनुभव करते हुए पृथक व्यक्तित्व की भ्रान्ति से छुटकारा नहीं पाया, उसे सांसारिक जीवन में संचित अपने शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक की प्राप्ति होती है और इस कर्मफल-अवधि के पूरा होने के बाद, वह अपने कर्मों के अनुरूप, प्रारब्ध का फल भोगने के लिए पृथ्वी पर उच्च या नीच कुल में जन्म लेता है। पुनः पृथ्वी पर जन्म लेने के बाद वह फिर नये कर्मों का संग्रह करता है और यह उसके संचित कर्मों का अंश बन जाता है।

प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि मानव प्रगति सम्भव है और कर्मों को केवल मानव जीवन में ही निःशेष किया जा सकता है। श्रीभगवान् ने संकेत किया है कि पशुओं के लिए भी अपने कर्मों को निःशेष करना सम्भव है। इसी अध्याय में उद्धृत एक वार्तालाप में उन्होंने कहा, "हम नहीं जानते कि इन शरीरों में कौन-सी आत्माएँ निवास कर रही हैं और अपने असमाप्त कर्म का कौन-सा भाग पूरा करने के लिए उन्होंने इनका आश्रय लिया है।" शंकराचार्य का भी मत था कि पशु मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक पुराण में भी कथा आती है कि ऋषि जादभरत को मरते समय अपने पालतू हरिण का खयाल आ गया और इस अन्तिम अवशिष्ट आसक्ति से मुक्ति पाने के लिए उन्हें पुनः हरिण का जन्म धारण करना पड़ा।

श्रीभगवान् अपने सान्निध्य में आने वाले पशुओं के साथ भी मनुष्यों जैसा व्यवहार करते थे और पशु भी मनुष्यों की अपेक्षा उनके प्रति कम आकर्षित नहीं थे। गुरूमूर्तम में पक्षी और गिलहरियाँ उनके इर्द-गिर्द अपने घोंसले बनाया करते थे। उन दिनों भक्तों का ऐसा विचार था कि वह संसार के प्रति अनासक्ति के कारण इसकी ओर से बिलकुल पराङ्मुख थे, परन्तु तथ्य तो यह है कि उनकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म थी और वह एक गिलहरी परिवार की चर्चा किया करते थे, जिसने कुछ पक्षियों द्वारा परित्यक्त घोंसले पर अधिकार कर लिया था।

वह सामान्य तमिल शैली में पशुओं को नपुंसक लिंग में सम्बोधित न कर, पुल्लिग या स्त्रीलिंग में सम्बोधित किया करते थे। "क्या बच्चों को खाना दे दिया गया है"—जब वह यह कहते तो उनका अभिप्राय आश्रम के कुत्तों से होता। "लक्ष्मी को तुरन्त उसके चावल दे दें"—और यहाँ उनका अभिप्राय गौ लक्ष्मी से था। आश्रम का यह नियम था कि भोजन के समय सबसे पहले कुत्तों को खाना खिलाया जाता, फिर उसके बाद अगर कोई भिखारी आश्रम में आते तो उन्हें खाना दिया जाता और अन्त में भक्तों को। मैं यह जानता था कि श्रीभगवान् वह वस्तु स्वीकार नहीं करते जो सब में समान रूप से वितरित न की जाय। एक दिन उन्हें मध्याह्न के समय आम खाते हुए देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मुझे इसका कारण भी पता चल गया। आम की ऋतु निकट आ रही थी। वह यह जानना चाहते थे कि यह उस सफेद मोर के लिए, जिसे बड़ौदा की महारानी ने उन्हें उपहार में दिया था और जो उनके संरक्षण में था, पूरी तरह से पका है या नहीं। आश्रम में और मोर भी थे। वह उनकी ध्वनि का अनुकरण कर उन्हें अपने पास बुलाते और उन्हें मटर के दाने, चावल तथा आम खाने के लिए देते। मृत्यु से एक दिन पूर्व, जब डॉक्टरों ने यह घोषणा कर दी कि उनकी पीड़ा भयंकर रूप धारण कर लेगी, उन्होंने एक मोर को निकट के वृक्ष पर शोर मचाते हुए सुना और यह पूछा कि क्या मोरों को उनका भोजन दे दिया गया है।

गिलहरियाँ खिड़की से कूदकर उनके बिस्तर पर आ जातीं और वह उनके लिए मटर के दानों से भरा हुआ एक डिब्बा हमेशा अपने पास रखते थे। कभी-कभी वे गिलहरी के आगे डिब्बा रख देते और वह स्वयं इसमें से दाने निकाल-निकालकर खाती रहती और कभी-कभी वह अपने हाथ में मटर का दाना ले लेते और गिलहरी उनके हाथ से ले-लेकर खाती। एक दिन जब वह वृद्धावस्था और गठिए के कारण डण्डे का सहारा लेकर, पहाड़ी से आश्रम की ओर जा रहे थे, उन्होंने एक कुत्ते को एक गिलहरी का पीछा करते हुए देखा। उन्होंने कुत्ते को नाम लेकर पुकारा और अपना डण्डा कुत्ते और गिलहरी के बीच में फेंक दिया। इस प्रकार वह फिसल पड़े और उनकी गर्दन की हड्डी टूट गयी। परन्तु कुत्ता परे हट गया और गिलहरी की जान बच गयी।

पशु भी श्रीभगवान् की अनुकम्पा को अनुभव करते थे। अगर लोग किसी जंगली पशु की देखभाल करते हैं, तो जब यह वापस अपने साथियों के पास लौटता है तो वह उसका बहिष्कार कर देते हैं। परन्तु अगर वह श्रीभगवान् के पास से आता था तो वह उसका बहिष्कार नहीं करते थे; बल्कि उसका सम्मान करते थे। वह यह जानते थे कि श्रीभगवान् में भय और क्रोध का

नितान्त अभाव है। एक बार वह पहाड़ी पर बैठे हुए थे कि एक साँप उनकी टाँगों पर से रेंगता हुआ गुजर गया। वे न ही हिले-डुले और न उन्होंने किसी प्रकार का भय प्रदर्शित किया। एक बार एक भक्त ने उनसे पूछा कि जब सायं उनकी टाँगों पर रेंगता हुआ साँप गया तो उन्हें कैसा अनुभव हुआ। उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया, "ठण्डा और कोमल।"

जहाँ श्रीभगवान् रहते वहाँ वह साँपों को नहीं मारने देते थे। "हम उनके घर में आये हैं और हमें कोई अधिकार नहीं कि हम उन्हें सतायें या विक्षुब्ध करें। वह हमें तंग नहीं करते।" और वह तंग भी नहीं करते थे। एक बार जब एक काला साँप उनकी माँ के निकट आया तो वह डर गयीं। श्रीभगवान् उस साँप की ओर गये, उसने अपनी दिशा बदल ली और दूर चला गया। यह दो शिलाओं के बीच में से गुजरा और उन्होंने उसका पीछा किया; एक पत्थर की दीवार के पास जाकर रास्ता खत्म हो गया, और आगे जाने का रास्ता न देख वह वापस मुड़ा, कुण्डली मारकर बैठ गया और श्रीभगवान् की ओर देखने लगा। श्रीभगवान् ने भी उसकी ओर देखा। कुछ क्षण तक यह सब जारी रहा और फिर काले साँप ने कुण्डली छोड़ दी और निर्भय होकर, शान्त भाव से रेंगता हुआ, उनके पैर के पास से निकल गया।

एक बार जब श्रीभगवान् कुछ भक्तों के साथ स्कन्दाश्रम में बैठे हुए थे, एक नेवला दौड़ता हुआ आया और थोड़ी देर उनकी गोद में बैठा रहा। उन्होंने कहा, "कौन जानता है, यह क्यों आया ? यह कोई साधारण नेवला नहीं है।" एक अन्य असाधारण नेवले का वर्णन प्रो० वेंकटरमैया ने अपनी डायरी में दिया है। श्री ग्राण्ट डफ के एक प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् ने कहा था :

> "रुद्र दर्शन के समारोह की बात है। उस समय मैं पहाड़ी पर स्थित स्कन्दाश्रम में रह रहा था। नगर से भक्तों का ताँता पहाड़ी की ओर बँधा हुआ था। एक नेवला जो असाधारण रूप से बड़ा था, जिसका सामान्य धूसर रंग न होकर सुनहरा रंग था और जिसकी पूँछ पर सामान्य काला धब्बा भी नहीं था, भीड़ में से निर्भय होकर जा रहा था। लोगों ने सोचा कि यह पालतू नेवला है और इसका मालिक कहीं भीड़ में होगा। यह नेवला सीधा पलानी-स्वामी के पास चला गया जो विरूपाक्ष कन्दरा के निकट चश्मे में स्नान कर रहे थे। उन्होंने इसे प्यार से थपथपाया। यह उनके पीछे-पीछे कन्दरा में चला गया। इसने कन्दरा के हर कोने का निरीक्षण किया और फिर स्कन्दाश्रम जाने वाली भीड़ में सम्मिलित हो गया। प्रत्येक व्यक्ति इसके आकर्षक रूप और निर्भय चाल

से प्रभावित हुआ। यह मेरे निकट आया, मेरी गोद में चढ़ गया और वहाँ कुछ देर बैठा रहा। तब यह उठा, इसने चारों ओर एक नजर दौड़ाई और नीचे चला गया। यह सर्वत्र घूमता रहा और मैं इसका अनुसरण करता रहा ताकि लापरवाह दर्शक या मोर इसे कोई नुकसान न पहुँचायें। दो मोरों ने इसकी ओर बड़े कुतूहल से देखा, परन्तु यह शान्त भाव से एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिचरता रहा और अन्त में आश्रम के दक्षिण-पूर्व में चट्टानों में छिप गया।''

एक दिन श्रीभगवान् सूर्योदय से पूर्व दो भक्तों के साथ आश्रम-पाकशाला के लिए सब्जी काट रहे थे। इनमें से एक भक्त लक्ष्मण शर्मा अपने साथ अपना कुत्ता लाये थे। यह कुत्ता अत्यन्त सुन्दर और श्वेत रंग का था और हर्षोन्मत्त हो उछल-कूद मचा रहा था। इसने भोजन लेने से इन्कार कर दिया। श्रीभगवान् ने कहा, "देखो, यह कुत्ता कितना आनन्दमग्न है। यह कोई ऊँची आत्मा है जिसने कुत्ते का रूप धारण किया है।''

प्रो० वेंकटरमैया ने अपनी डायरी में आश्रम के कुत्तों की अद्‌भुत भक्ति का वर्णन किया है :

> ''सन् १९२४ में आश्रम में चार कुत्ते थे। श्रीभगवान् कहते थे कि जब तक वह स्वयं भोजन नहीं कर लेते थे कुत्ते भी भोजन नहीं करते थे। पण्डित ने परीक्षा लेने के लिए कुत्तों के सामने भोजन रखा, परन्तु उन्होंने इसका स्पर्श तक नहीं किया। कुछ देर बाद श्रीभगवान् ने एक ग्राम खाया और तत्काल ही कुत्ते भोजन पर टूट पड़े और इसे चट कर गये।''

आश्रम के अधिकांश कुत्तों को कमला कुतिया ने जन्म दिया था। जब वह स्कन्दाश्रम में आयी थी वह बहुत छोटी थी। भक्तों ने इस कुतिया को दूर भगाने का यत्न किया क्योंकि उन्हें यह भय था कि प्रतिवर्ष पिल्लों को जन्म देने के कारण आश्रम उनसे भर जायगा। परन्तु वह वहाँ से गयी नहीं। इस प्रकार कुत्तों का एक बड़ा परिवार बन गया। इन सब के साथ अत्यन्त स्नेहमय बर्ताव किया जाता था। जब कमला ने पहले पहल पिल्लों को जन्म दिया, उसे नहलाया गया, हल्दी मली गयी, उसके माथे पर सिन्दूर लगाया गया और आश्रम में उसे स्वच्छ स्थान दिया गया, जहाँ वह अपने पिल्लों के साथ दस दिन तक रही। दसवें दिन नियमित सहभोज के साथ उसका शुद्धि-संस्कार किया गया। वह बड़ी समझदार और उपयोगी कुतिया थी। श्रीभगवान् प्रायः उसे नवागन्तुकों को पहाड़ी के चारों ओर घुमाने का कार्य सौंपते और कहा करते, "कमला, इस आगन्तुक को घुमा लाओ" और वह उसे पहाड़ी के चारों ओर प्रत्येक प्रतिमा, तालाब और मन्दिर के पास ले जाती।

आश्रम में एक अत्यन्त अद्‌भुत कुत्ता, हालाँकि यह कमला की सन्तान नहीं था, चिन्ना करुप्पन (लिटल ब्लैकी) था। श्रीभगवान् ने स्वयं उसके सम्बन्ध में लिखा है, "चिन्ना करुप्पन का रंग बिलकुल काला था, इसलिए उसे इस नाम से पुकारते थे। यह एक आदर्श कुत्ता था। जब हम विरूपाक्ष कन्दरा में थे, कुछ दूरी पर कोई काली-काली चीज जाती हुई नजर आती थी। कई बार हमें झाड़ियों के ऊपर उसका सिर दिखायी देता था। उसे प्रबल वैराग्य था। वह किसी के साथ मेल-जोल नहीं करता था और तथ्य तो यह है कि वह उससे कतराता था। हम उसकी स्वतन्त्रता और वैराग्य का सम्मान करते थे। उसके स्थान के निकट भोज्य-पदार्थ रखकर दूर चले जाते। एक दिन जब हम ऊपर जा रहे थे, करुप्पन एकाएक कूदकर मेरे पास धमाचौकड़ी मचाने लगा और खुशी में पूँछ हिलाने लगा। मुझे इस बात का अ श्चर्य हो रहा था कि कैसे उसने समूह में से मुझे पहचान लिया और मेरे प्रति प्रेम प्रदर्शित करने लगा। इसके बाद वह हमारे साथ आश्रम में रहा। करुप्पन अत्यन्त समझदार, सेवापरायण और उदार था। उसने अपनी पूर्व उदासीनता का सर्वथा परित्याग कर दिया और हमारा प्रेम-भाजन बन गया। यह सर्वभूत मैत्री का एक अनुपम उदाहरण था। वह प्रत्येक आगन्तुक और आवासी के साथ मित्रता करता, उसकी गोद में चढ़ जाता और उसके साथ लाड़ करता। उसका सामान्यत: अच्छा स्वागत होता। कुछ व्यक्तियों ने उसे दूर रखने का प्रयत्न किया परन्तु वह कहाँ हार मानने वाला था। पर अगर उसे दूर रहने का आदेश दिया जाता तो वह संन्यासी की तरह आदेश का पालन करता। एक बार वह एक कट्टर ब्राह्मण के पास पहुँच गया जो हमारी कन्दरा के पास बेल वृक्ष के नीचे मन्त्र जाप कर रहा था। ब्राह्मण कुत्तों को अपवित्र समझता था और उन्हें अपने निकट नहीं फटकने देता था। परन्तु करुप्पन तो समता का प्राकृतिक नियम समझता था और इसका पालन करता था, इसलिए वह ब्राह्मण के निकट जाने से नहीं चूका। ब्राह्मण के भावों के प्रति आदर-भावना के कारण आश्रम के एक आवासी ने डण्डा उठा लिया और करुप्पन को मारना शुरू कर दिया। करुप्पन क्रन्दन करने लगा और दूर चला गया। फिर कभी वह आश्रम में वापस नहीं आया और न उसे वहाँ देखा गया। वह इतना संवेदनशील था कि उस स्थान पर, जहाँ उसके साथ दुर्व्यवहार किया गया हो फिर कभी नहीं जाता था।

"जिस व्यक्ति ने यह गलती की उसने कुत्ते के सिद्धान्तों और संवेदनशीलता को कम करके आँका। परन्तु पहले ही चेतावनी मिल गयी थी। घटना इस प्रकार है। एक बार पलानीस्वामी ने चिन्ना करुप्पन को झिड़का और उसके साथ बड़ा अभद्र व्यवहार किया। उस रात पानी बरस रहा था और जोर

की ठण्ड पड़ रही थी। चिन्ना करुप्पन ने भवन छोड़ दिया और सारी रात कोयलों की एक बोरी पर बिता दी। सवेरा होने पर ही उसे वापस आश्रम में लाया गया। एक अन्य कुत्ते के व्यवहार से भी इस सम्बन्ध में चेतावनी मिली थी। कुछ वर्ष पूर्व पलानीस्वामी ने विरूपाक्ष कन्दरा में हमारे साथ रहने वाले एक छोटे कुत्ते को झिड़क दिया था। वह कुत्ता दौड़ कर सीधे संखतीर्थम् सरोवर की ओर चला गया और शीघ्र ही तालाब में उसका मृत शरीर तैरता दिखायी दिया। पलानीस्वामी तथा आश्रम के अन्य सब आवासियों से कहा गया कि आश्रम के कुत्ते तथा अन्य पशु समझदार हैं और उनके अपने सिद्धान्त हैं, उनके साथ रुक्षतापूर्वक व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। हम नहीं जानते कि इन शरीरों में कौन-सी आत्माएँ निवास कर रही हैं और अपने अपूर्ण कर्म का कौन-सा अंश पूरा करने के लिए उन्हें हमारी संगति की अपेक्षा है।"

आश्रम में अन्य कुत्ते भी थे जिन्होंने समझदारी और उच्च सिद्धान्तों का परिचय दिया। स्कन्दाश्रम में जब किसी कुत्ते की मृत्यु होती, तो श्रीभगवान् उसके निकट विद्यमान रहते, उसके मृत शरीर को समारोह के साथ दफनाया जाता और उस पर प्रस्तर का स्मारक खड़ा किया जाता। बाद के वर्षों में जब आश्रम के भवन बनकर तैयार हो गये और विशेषरूप से श्रीभगवान् की शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगा तो मानव-भक्त अपनी मनमानी करने लगे और आश्रम में पशु-भक्तों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया।

अन्तिम कुछ वर्षों तक बन्दर श्रीभगवान् की शय्या के पास खिड़की में आते रहे और सलाखों के बीच से झाँकते रहे। कई बार बन्दरियाँ अपने बच्चों को छाती से चिपकाये हुए श्रीभगवान् के निकट आती थीं मानो वे उन्हें अन्य मानवीय माताओं की तरह अपने बच्चे दिखाना चाहती हों। एक प्रकार के समझौते के रूप में, सेवकों को बन्दरों को दूर भगाने की आज्ञा तो दे दी गयी, परन्तु उनसे यह कहा गया कि वे उन्हें हटाने से पहले उनके सामने केला फेंकें।

जब तक श्रीभगवान् अत्यन्त दुर्बल नहीं हो गये, वह प्रतिदिन प्रातःकाल सात बजे के बाद और सायंकाल पाँच बजे के लगभग पहाड़ी पर सैर करने जाते थे। एक सायंकाल वह घूमने न जाकर स्कन्दाश्रम चले गये। जब वह निर्धारित समय पर वापस नहीं आये, कुछ भक्त उनके पीछे पहाड़ी की ओर गये, दूसरे झुण्ड बनाकर खड़े हो गये और आपस में एक-दूसरे से कहने लगे, आखिर श्रीभगवान् कहाँ चले गये, इसका अभिप्राय क्या है, और अब क्या करना चाहिए। कई भक्त सभा-कक्ष में उनकी प्रतीक्षा करने लगे। बन्दरों का

एक जोड़ा सभा-कक्ष के द्वार पर आया और निर्भय होकर अन्दर चला गया और श्रीभगवान् की खाली शय्या को चिंतित होकर देखने लगा।

श्रीभगवान् के इस संसार से प्रयाण करने से कुछ वर्ष पूर्व, बन्दरों का आश्रम में प्रवेश निषिद्ध हो गया था। सभा-कक्ष के बाहर ताड़ के पत्तों की छतों को बढ़ा दिया गया था। इससे बन्दरों का आश्रम में प्रवेश कठिन हो गया था। बहुत-से बन्दरों को पकड़कर जंगल में छोड़ दिया गया था या उन्हें नगरपालिका द्वारा पकड़कर, उन पर प्रयोग करने के लिए अमरीका भेज दिया गया था।

सन् १९०० से लेकर, जब श्रीभगवान् सर्वप्रथम पहाड़ी पर रहने के लिए गये, सन् १९२२ तक, जब वह उसकी तलहटी में स्थित आश्रम में रहने के लिए आये, वह बन्दरों से बहुत घुल-मिल गये थे। वह बन्दरों को, ज्ञानी की-सी स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण तथा अपनी स्वभावतः तीक्ष्ण दृष्टि से देखा करते थे। उन्होंने उनके क्रन्दन का अर्थ समझ लिया था और वह उनकी व्यवहार-संहिता तथा सरकार की पद्धति से परिचित हो गये थे। उन्होंने यह पता लगाया था कि बन्दरों की प्रत्येक टोली का अपना राजा और स्वीकृत क्षेत्र होता है। अगर कोई दूसरी टोली इस क्षेत्र का अतिक्रमण करती है तो दोनों टोलियों में युद्ध छिड़ जाता है। परन्तु युद्ध या शान्ति चर्चा करने से पूर्व एक टोली अपना राजदूत दूसरी टोली के पास भेजती है। वह आगन्तुकों से कहा करते थे कि बन्दर उन्हें अपनी जाति का समझते हैं और अपने झगड़ों में मध्यस्थ बनाते हैं।

"साधारणतः बन्दर पालतू बन्दर का बहिष्कार कर देते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में मैं अपवाद था। जब कभी बन्दरों में कोई गलतफहमी पैदा हो जाती है या लड़ाई-झगड़ा उठ खड़ा होता है, वह मेरे पास आते हैं और मैं उन्हें पृथक करके उन्हें शान्त कर देता हूँ। इस प्रकार उनका झगड़ा बन्द करा देता हूँ। एक बार एक छोटे बन्दर को उसकी टोली के एक बड़े बन्दर ने काट लिया और उसे आश्रम के पास निस्सहाय अवस्था में छोड़ दिया। वह छोटा बन्दर लँगड़ाता हुआ विरूपाक्ष कन्दरा स्थित आश्रम में आया, इसलिए हमने उसका नाम नोंदी (लँगड़दीन) रख दिया। जब पाँच दिन बाद उसकी टोली के बन्दर आये, तो उन्होंने देखा कि उसकी देखभाल भलीभाँति की जा रही है; फिर भी वह उसे अपने साथ ले गये। इसके बाद से, आश्रमवासियों की बची-खुची खाने की चीजों के लिए बन्दर आश्रम के बाहर आया करते परन्तु नोंदी सीधा ही मेरी गोद में आ जाता। वह बड़ी सफाई से खाता था। जब चावलों की पत्तल उसके सामने रखी जाती, वह एक भी चावल पत्तल के बाहर नहीं फेंकता था। अगर पत्तल के बाहर चावल चले भी जाते

तो वह इन्हें इकट्ठे कर लेता और जाने से पहले पत्तल बिलकुल साफ कर जाता।

"वह बड़ा संवेदनशील भी था। एक बार, किसी कारणवश, उसने कुछ भोजन बाहर फेंक दिया और मैंने उसे झिड़क दिया—'क्या बात है! खाना क्यों खराब कर रहे हो?' उसने एकाएक मेरी आँख पर प्रहार किया और मुझे हलकी-सी चोट आयी। दण्डस्वरूप, उसे कुछ दिन तक मेरे पास आने और मेरी गोद में चढ़ने की आज्ञा नहीं दी गयी, परन्तु उसने नम्रता और क्षमायाचना का भाव प्रदर्शित किया और फिर अपने प्रिय स्थान पर आ बैठा। यह उसका दूसरा अपराध था। प्रथम अवसर पर, मैंने उसका गरम दूध का प्याला अपने होठों के पास रखा था और उसे ठण्डा करने के लिए उसमें फूँक मार रहा था। वह इस बात से चिढ़ गया। उसने मेरी आँख पर प्रहार किया, परन्तु मुझे कोई गम्भीर चोट नहीं आयी। वह तत्काल ही मेरी गोद में आ गया और दीनता भरे शब्दों में चिल्लाने लगा, भूल जाओ और क्षमा कर दो। इसलिए उसे क्षमा कर दिया गया।"

बाद में नोंदी अपनी टोली का राजा बन गया। श्रीभगवान् एक अन्य बन्दर राजा की भी चर्चा किया करते थे। उसने अपनी टोली के दो उद्दण्ड बन्दरों को टोली से बाहर निकालने का बहादुराना कदम उठाया था। इस पर टोली ने विद्रोह कर दिया। राजा ने उसे छोड़ दिया और वह अकेला जंगल में चला गया। वहाँ वह दो सप्ताह तक रहा। जब वह वापस लौटा उसने अपने आलोचक और विद्रोही बन्दरों को चुनौती दी। दो सप्ताह की तपस्या के कारण वह इतना बलवान् हो गया था कि किसी ने भी उसकी चुनौती का जवाब देने का साहस नहीं किया।

एक दिन प्रातःकाल यह समाचार मिला कि आश्रम के निकट एक बन्दर दम तोड़ रहा है। श्रीभगवान् उसे देखने गये। यह राजा बन्दर था। इसे आश्रम में लाया गया और यह श्रीभगवान् का सहारा लेकर बैठ गया। दोनों निष्कासित बन्दर निकट ही एक वृक्ष पर बैठे हुए यह सब देख रहे थे, श्रीभगवान् आसन-परिवर्तन के लिए हिले और मरणोन्मुख बन्दर ने सहज वृत्ति से उनकी टाँग को काट लिया। उन्होंने अपनी टाँग की ओर इशारा करते हुए एक बार कहा था, "बन्दर राजाओं की कृपालुता के ऐसे चार चिह्न मेरी टाँग पर हैं।" तब बन्दर राजा ने इस संसार से विदा होते हुए आखिरी कराह भरी। दोनों बन्दर जो वृक्ष पर चढ़े हुए यह देख रहे थे, ऊपर-नीचे कूदने लगे और शोक से आर्त्तनाद करने लगे। मृत बन्दर के शरीर को संन्यासी के-से सम्मान के साथ दफना दिया गया: इसे पहले दूध और फिर पानी से नहलाया गया, इस पर पवित्र राख मली गयी; इसे एक नया वस्त्र

ओढ़ाया गया, इसका मुँह खुला रखा गया और इसके सामने कपूर जलाया गया। इसे आश्रम के निकट दफनाया गया और इसकी कबर पर एक प्रस्तर का स्मारक खड़ा किया गया।

बन्दरों की कृतज्ञता की एक विचित्र कहानी श्रीभगवान् सुनाया करते थे। एक बार श्रीभगवान् पहाड़ी की तलहटी में अपने भक्तों के साथ सैर कर रहे थे। जब वह पचैयाम्मान कोयल के निकट पहुँचे उन्हें भूख और प्यास सताने लगी। तत्काल ही बन्दरों की एक टोली सड़क के किनारे के जंगली अंजीरों के वृक्षों पर चढ़ गयी और उनकी शाखाओं को जोर-जोर से हिलाने लगी। सड़क पके हुए अंजीर के फलों से भर गयी और बन्दर भाग गये; उन्होंने स्वयं एक भी अंजीर नहीं खायी। उसी समय महिलाओं का एक दल पानी से भरे हुए घड़े लेकर वहाँ उपस्थित हो गया।

श्रीभगवान् का सबसे प्रिय पशु-भक्त गाय लक्ष्मी थी। गुड़ियाथम के निकट कुमारमंगलम के निवासी अरुणाचल पिल्लई सन् १९२६ में इस बछिया को उसकी माँ के साथ आश्रम में लाये थे और उन्होंने इन्हें श्रीभगवान् को भेंट रूप में दिया था। वह इस भेंट को स्वीकार करने के लिए अनिच्छुक थे क्योंकि उस समय आश्रम में गायों के लिए स्थान नहीं था। परन्तु अरुणाचल पिल्लई ने उन्हें वापस ले जाने से बिलकुल इन्कार कर दिया। एक भक्त रामनाथ दीक्षितार ने इनकी देखभाल करने का वचन दिया इसलिए इन्हें आश्रम में रख लिया गया। दीक्षितार ने लगभग तीन महीने तक इनकी देखभाल की और फिर इन्हें नगर में किसी गोपालक के पास छोड़ दिया गया। उसने इन्हें लगभग एक वर्ष तक अपने पास रखा और जब वह एक दिन श्रीभगवान् का दर्शन करने आया तो इन्हें अपने साथ लेता आया। ऐसा लगता है कि श्रीभगवान् के प्रति बछिया को सहज आकर्षण हो गया था। उसने आश्रम जाने वाले मार्ग को पहचान लिया था। अगले दिन वह अकेली लगभग दो मील की दूरी तय करके वापस आ गयी। इसके बाद वह प्रतिदिन प्रातःकाल आश्रम आती और सायंकाल नगर को वापस लौट जाती। बाद में, जब वह आश्रम में रहने लगी, वह सीधे ही, बिना किसी और की तरफ ध्यान दिये श्रीभगवान् के पास जाती। वह हमेशा उसे केला या अन्य कोई पदार्थ खाने के लिए देते। बहुत अर्से तक वह प्रतिदिन मध्याह्न भोजन के समय सभा-कक्ष में आती और श्रीभगवान् के साथ खाने के कक्ष तक जाती। वह समय की इतनी पाबन्द थी कि अगर श्रीभगवान् किसी काम में व्यस्त होने के कारण निर्धारित समय से अधिक बैठते, तो उसके आने पर जब वह घड़ी देखते तो उन्हें पता चलता कि खाने का समय हो गया है।

लक्ष्मी ने कई बछड़ों को जन्म दिया, कम से कम तीन बछड़े तो भगवान् की जयन्ती (जन्मदिन) के दिन पैदा हुए थे। जब आश्रम में एक पक्की गोशाला बनायी गयी तब यह निर्णय किया गया कि उद्घाटन के दिन लक्ष्मी ही सबसे पहले इसमें प्रवेश करे। परन्तु जब उद्घाटन का समय आया, उसका कहीं पता नहीं चला। वह श्रीभगवान् के पास चली गयी थी, और जब तक वह नहीं आये, वह भी वहाँ से नहीं हिली। इसलिए पहले श्रीभगवान् ने गोशाला में प्रवेश किया और बाद में उनके पीछे लक्ष्मी ने। न केवल उसका श्रीभगवान् के प्रति असाधारण अनुराग था बल्कि उसके प्रति उनकी अनुकम्पा और दयालुता बिलकुल अपवादस्वरूप थीं। बाद के वर्षों में आश्रम में कई गाय और बैल आये परन्तु किसी का भी भगवान् के प्रति इतना अनुराग नहीं था और न किसी ने श्रीभगवान की इतनी अनुकम्पा प्राप्त की। लक्ष्मी के वंशज अब भी वहाँ हैं।

१७ जून, १९४८ को लक्ष्मी बीमार हो गयी और १८ जून की प्रातःकाल ऐसा प्रतीत हुआ कि उसका अन्त निकट है। १० बजे श्रीभगवान् उसके निकट गये। उन्होंने कहा, "माता लो मैं आ गया।" वह उसके पास बैठ गये और उन्होंने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया। उन्होंने उसकी आँखों में झाँका और अपना हाथ उसके सिर तथा हृदय पर रखा मानो उसे दीक्षा दे रहे हों। उसकी गालों को अपनी गालों से लगाते हुए उन्होंने उसे पुचकारा। जब उन्हें यह सन्तोष हो गया कि उसका हृदय पवित्र है और सब वासनाओं से मुक्त है तथा भगवान् पर केन्द्रित है, उन्होंने उससे विदा ली। वह भोजन के लिए खाने के कमरे की ओर चले गये। लक्ष्मी अन्त तक सचेत थी; उसकी आँखें शान्त थीं। साढ़े ग्यारह बजे शान्त भाव से उसकी इहलीला समाप्त हुई। आश्रम के अहाते में एक हरिण, एक कौए, और एक कुत्ते की कब्रों के पास, जो कि श्रीभगवान् के आदेश से वहाँ दबाये गये थे, उसे अन्त्येष्टि-संस्कार के साथ दफनाया गया। एक चौकोर पत्थर उसकी कब्र पर लगाया गया। पत्थर पर श्रीभगवान् का यह मृत्युलेख उत्कीर्ण किया गया कि उसने मुक्ति प्राप्त कर ली है। देवराज मुदालियर ने श्रीभगवान् से पूछा था कि क्या यह रस्मी तौर पर उत्कीर्ण किया गया है, जैसे कि किसी व्यक्ति के देहावसान पर हम कहते हैं कि उसने समाधि प्राप्त कर ली है, या इसका यह अर्थ है कि उसने वस्तुतः मुक्ति प्राप्त कर ली है। इस पर श्रीभगवान् ने उत्तर दिया कि उसने वस्तुतः मुक्ति प्राप्त कर ली है।

बारहवाँ अध्याय

श्रीरमणाश्रम

जब भक्तगण दिसम्बर १९२२ में पहाड़ी की तलहटी में माता के स्मारक की ओर श्रीभगवान् के साथ गये, उस समय आश्रम के नाम पर फूस की एक झोंपड़ी थी। आगामी वर्षों में भक्तों की संख्या बढ़ती गयी, दान आने लगा और आश्रम के भवनों का निर्माण हुआ—सभा-कक्ष जहाँ श्रीभगवान् बैठा करते थे, कार्यालय और पुस्तकों की दूकान, खाने का कमरा और रसोई, गोशाला, डाकघर, डिस्पेंसरी, पुरुष-आगन्तुकों के लिए अतिथि-गृह (वस्तुतः यह एक कमरा नहीं बल्कि उन लोगों के लिए जो आश्रम में कुछ दिन ठहरना चाहते थे, एक विशाल कक्ष था), लम्बी अवधि तक ठहरने वाले अतिथियों के लिए दो छोटे बंगले—ये सब एक-मंजिले भवन थे और इन पर बाहर सफेदी की गयी थी।

आश्रम के पश्चिम में, उसके निकट ही एक विशाल चौकोर तालाब है, जिसमें चारों दिशाओं से पत्थर की सीढ़ियाँ पानी तक पहुँचती हैं। आश्रम के दक्षिण में बस की सड़क तिरुवन्नामलाई से बंगलौर तक पूर्व और पश्चिम में जाती है। यह सड़क आगे पश्चिम में दो शाखाओं में बँट जाती है और पहाड़ी के चारों ओर जाती है। सड़क पर उत्तर की ओर मुँह करके खड़ा होने पर, पुलिया के पार, एक काले लकड़ी के पट्ट पर स्वर्णाक्षरों में 'श्रीरमणाश्रम' लिखा है। आश्रम का कोई द्वार नहीं है, यह बिलकुल खुला है। नारियल के पत्ते आश्रम के भवनों को छिपाये हुए हैं और उनसे परे भव्य पहाड़ी है।

केवल आश्रम के भवनों का ही निर्माण नहीं किया गया था। सड़क के पार मोरवी के राजा ने आगन्तुक राजाओं के लिए एक अतिथि-गृह का निर्माण कराया था। गृहस्थी भक्तों द्वारा कुटियों और बंगलों के निर्माण से एक बस्ती वहाँ बस गयी। आश्रम के ठीक पश्चिम में, पेलाकोट्टु में कन्दराओं या कुटियों में रहने वाले साधुओं की एक बस्ती थी। इन कुटियों का निर्माण स्वयं साधुओं ने किया था। इन साधुओं में से अनेक युवक थे, कई तो बड़े धनी परिवारों के थे। उन्होंने सम्पत्ति तथा परिवार का त्याग कर बड़ी तलाश में अपना जीवन अर्पित करने के लिए साधु जीवन का वरण किया था।

आश्रम में आने वाले या वहाँ बस जाने वाले सभी व्यक्ति हिन्दू नहीं थे। यूरोपीय, अमरीकी, पारसी; यहूदी और मुस्लिम भी उनमें थे। हिन्दू भी विभिन्न जातियों के थे; केवल ब्राह्मण नहीं थे और विभिन्न राज्यों के थे।

आश्रम का विशाल भोजन-कक्ष और इसके साथ संलग्न पाकशाला एक पृथक भवन में थे। इसमें किसी प्रकार का फर्नीचर नहीं था। पत्तलें और बाद के वर्षों में केले के पत्ते दो पंक्तियों में भोजन-कक्ष में बिछा दिये जाते थे और उनके आगे लाल टाइलों वाले फर्श पर भक्तगण पालथी मारकर बैठ जाते थे। भवन के बीच में चौड़ाई की ओर तीन-चौथाई हिस्से में विभाजन कर दिया गया था। इसके एक ओर वह कट्टरपंथी ब्राह्मण बैठते थे जो दूसरी जाति के लोगों के साथ मिलकर नहीं खाते थे। दूसरी ओर अ-ब्राह्मण, विदेशी तथा वह ब्राह्मण बैठते थे जो अन्य सब के साथ मिलकर खाना पसन्द करते थे। भगवान् न तो कट्टरपंथी नियमों के पालन के लिए कहते थे और न इनका निषेध करते थे। वह स्वयं बीच में दीवार का सहारा लेकर बैठते थे, जहाँ वह दोनों दलों को दिखायी देते थे।

भोजन-कक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र जाति-भेद की सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी थी। सभा-कक्ष में भगवान् के आगे सभी—ब्राह्मण, विदेशी तथा निम्न जाति के लोग एक-दूसरे के साथ बैठते थे। भगवान् की उपस्थिति का प्रभाव इतना व्यापक, इतना शक्तिशाली और इतना तीव्र था कि सभी भेदभाव लुप्त हो जाते थे। प्रातःकाल और सायंकाल वेद-मंत्रों के पाठ के समय सभी इकट्ठे बैठते थे हालाँकि कट्टरपंथी लोगों के अनुसार, केवल ब्राह्मणों को ही वेद-मंत्रों के सुनने का अधिकार है। एक बार उत्तर भारत के एक आगन्तुक ने इस पर आक्षेप किया। भगवान् ने उसे टका-सा जवाब दे दिया कि वह अपनी साधना में लीन रहें और उन बातों की चिन्ता न करें जिनका उनसे सम्बन्ध नहीं है।

आश्रम में विदेशी आगन्तुकों पर धर्म-परिवर्तन के लिए कोई दबाव नहीं डाला जाता था। इसकी आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि अद्वैत सामान्यतः धर्म का सार है और अन्तिम सत्य है। ताओवाद, बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म में स्पष्टतः इसे इस रूप में स्वीकृति प्रदान की जाती है। पश्चिमी धर्मों में यह अधिक प्रच्छन्न है। इस्लाम के सूफी सन्तों ने **शाहद** का वास्तविक अर्थ यही स्वीकार किया है : भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई देवता नहीं है, आत्मा के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। भगवान् अक्सर ओल्ड टेस्टामेण्ट से, मूसा को दिये गये भगवान का नाम उद्धृत किया करते थे : 'मैं वह हूँ,' वह इसे सर्वाधिक उपयुक्त नाम समझते थे; केवल

'मैं हूँ' आत्मा, सत्ता। वह यह पद भी उद्धृत किया करते थे : "शान्त हो जाओ और यह सोचो कि मैं भगवान् हूँ।" इसकी व्याख्या करते हुए वह कहा करते थे कि हमें केवल यही करना है : मन को शान्त रखो और जानो कि 'मैं हूँ' भगवान् है; यही सार है। ईसाइयत में कुछ उच्चकोटि के रहस्यवादी ही हैं जिन्होंने अद्वैत के दर्शन और उसकी घोषणा की है, जैसे कि मीस्टर एकहार्ट कहता है, "भगवान् की सत्ता मेरी सत्ता है।"

सभा-भवन में प्रतिदिन वेद-मन्त्रों का पाठ होता था परन्तु भगवान् ने स्पष्टतः कह दिया था कि वेद-मन्त्रों का अर्थ जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। मन्त्रोच्चारण मन की शान्ति और चिन्तन में सहायक है। यही पर्याप्त था। वेद-मन्त्रों के अर्थ के सम्बन्ध में किसी विचार की अपेक्षा यह अधिक महत्त्वपूर्ण था। आध्यात्मिक शिक्षा सिद्धान्त नहीं है बल्कि एक तकनीक है, एक मार्ग है, आन्तरिक रस-सिद्धि है।

आश्रम में भी जो भक्तजन चिन्तन की अपेक्षा क्रियाशील जीवन को अधिक पसन्द करते थे, वह कार्यालय, उद्यान, पुस्तकों की दूकान, पाकशाला, या किसी अन्य विभाग में सेवा-कार्य करते, अपने को भगवान् के निकट समझते और उसके लिए कार्य करते थे। अत्यन्त सौभाग्यशाली भक्तों में ब्राह्मण विधवाएँ थीं जो पाकशाला में कार्य करती थीं। जीवन के अन्तिम वर्षों में भी, जब तक वृद्धावस्था के कारण श्रीभगवान् का स्वास्थ्य बिलकुल क्षीण नहीं हो गया, वह उनके साथ कार्य किया करते थे। वह प्रातःकाल ३-४ बजे जाते और एक-दो घण्टे सब्जी काटने तथा पत्तलें बनाने में लगाते (केलों के पत्तों के प्रयोग से पूर्व)। वह प्रतिदिन रसोई का निरीक्षण करते और भोजन तैयार करने में हाथ बँटाते। कोई भी चीज व्यर्थ नहीं फेंकी जाती थी। एक बार जब एक भक्त पहाड़ से पैशन-फ्रूट की एक टोकरी भरकर लाया तो उन्होंने खोलों को उबालने का भी आग्रह किया ताकि शोरवे के जल में वृद्धि हो सके। जो लोग श्रीभगवान् के साथ पाकशाला में काम करते थे वह क्रियाशीलता के मार्ग का अनुसरण करते थे। श्रीभगवान् कर्म-मार्ग के अनुरूप उन्हें कार्य के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश देते थे और उनसे बिना ननुनच के आदेश के पालन की अपेक्षा करते थे। वह निरन्तर उनका निरीक्षण किया करते थे। वह परमानन्द की स्थिति में रहते थे, परन्तु उस गलत कदम के प्रति सदैव सचेत रहते थे, जिससे उन्हें श्रीभगवान् का कोपभाजन न बनना पड़े।

खाना बनाना आश्रमवासियों के लिए एक कला थी और भगवान् इस कला में पारंगत थे। यह साधना का भी साधन थी और भगवान उन्हें उनके विभिन्न कार्यों के प्रतीकवाद की ओर निर्देश करते थे। प्रत्येक कार्य सुचारु

रूपेण सम्पन्न किया जाता था। वह परोसने से पूर्व प्रत्येक खाने की चीज का निरीक्षण करते थे और इसे स्वयं चखते थे। कोई यह सोच सकता है कि वह खाने-पीने की चीजों में बहुत रस लेते होंगे, परन्तु इस सब देखभाल के बावजूद वह भोजन के प्रति बिलकुल उदासीन थे। कभी-कभी जब वह देखते कि उनके अपने भोजन की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा है तो वह मीठे-खट्टे और नमकीन सभी खाद्य-पदार्थों को मिला देते और यह कहते हुए खाते : "आपको विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है परन्तु ज्ञानी के लिए केवल एकता है।" अगर उन्हें दूसरों की अपेक्षा अधिक मात्रा में या कोई अच्छी चीज दी जाती तो वह इसके लिए उत्तरदायी व्यक्ति के प्रति क्रुद्ध होते।

भोज्य-पदार्थों को व्यर्थ न करने के लिए वह पहले दिन के बचे हुए भोजन को गरम करते, इसमें कोई सुगन्ध मिलाते या इसे कोई अन्य रूप देने का यत्न करते। यह ब्राह्मणों के कट्टर नियमों के विरुद्ध है और इसलिए रसोई के सहायक इसका पता लगाने के लिए प्रातःकाल भगवान् से भी पहले आने लगे। भगवान् उनसे भी पहले उठ जाते और रसोई में उनसे पहले पहुँच जाते। फिर ये मूर्ख लोग, यह न जानते हुए कि भगवान् का स्पर्श सर्वोच्च शुद्धि है, इस प्रकार के भोजन की शुद्धि के लिए शुद्धि-संस्कार करते थे। यह भी एक कारण था, जिसने भगवान् को रसोई में जाने से बिलकुल रोक दिया। इस बीच एक और भी घटना घटी। उन्होंने आदेश दिया था कि सब्जियों के छिलके फेंके न जायें बल्कि पशुओं को दिये जायें और उनके आदेश के बावजूद ये फेंक दिये गये। जो भी कारण हो, उन्होंने रसोई के काम से अपना हाथ खींच लिया था क्योंकि वे वृद्ध और दुर्बल होते जा रहे थे। इसके अतिरिक्त इतने अधिक आगन्तुक और भक्त उनके निकट आते थे कि रसोई में समय देने का अभिप्राय उनकी उपेक्षा होता।

निर्माण तथा आयोजन और अर्थ-व्यवस्था के कार्य के लिए आश्रम को एक प्रबन्धक की आवश्यकता थी क्योंकि श्रीभगवान् इनमें से कोई भी कार्य स्वयं नहीं करते थे। आश्रम के संगठन की दिशा में कई प्रयास किये गये परन्तु यह सब असफल रहे। अन्त में श्रीभगवान् से अपने भाई निरंजनानन्द स्वामी को आश्रम का सर्वाधिकारी बनाने के लिए कहा गया। उन्होंने इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी। भगवान् के जीवनपर्यन्त यह प्रबन्ध जारी रहा। आश्रम के प्रबन्ध में बहुत-सी त्रुटियाँ थीं, और इसके सम्बन्ध में अनेक शिकायतें भी की गयीं। परन्तु इसके बावजूद आश्रम समृद्धि के पथ पर था और यह नितान्त स्वच्छ, नियमित तथा सुसंचालित था। आश्रम-जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए नियम बनाये गये। कुछ नियम भक्तों के लिए कष्टसाध्य थे। अगर कोई भक्त इन नियमों का विरोध या इनके विरुद्ध विद्रोह करना चाहता तो

श्रीभगवान का आदर्श उदाहरण उन्हें ऐसा करने से रोकता। वह स्वयं प्रत्येक नियम का पालन करते और सत्ता का आदर करते थे। उनका यह दृढ़ मत था कि हर अवस्था में नियमों का पालन किया ही जाना चाहिए। उनके प्रत्येक कार्य की तरह यह कार्य भी साभिप्राय था।

वह एक ऐसे मार्ग पर चल रहे थे, जिस पर व्यक्ति को आध्यात्मिक दृष्टि से तिमिराच्छन्न कलियुग की परिस्थितियों में चलना ही चाहिए। अगर वह अपने अनुयायियों से प्रतिकूल परिस्थितियों में आत्म-तत्त्व को स्मरण रखने के लिए कहते थे, तो वह आश्रम के सभी नियमों के पालन द्वारा उनके सम्मुख उदाहरण भी प्रस्तुत करते थे। इसके अतिरिक्त वह उन लोगों से सहमत नहीं थे, जो अपने उद्देश्य से विरत होकर आश्रम के प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों में उलझे रहते थे। वह कहा करते थे, "लोग मोक्ष की तलाश में आश्रम में आते हैं और फिर आश्रम की राजनीति में फँस जाते हैं। जिस उद्देश्य के लिए वह यहाँ आये थे उसे सर्वथा भूल जाते हैं।" अगर उन्हें इन्हीं कामों में दिलचस्पी लेनी थी तो फिर इसके लिए उन्हें तिरुवन्नामलाई आने की क्या आवश्यकता थी।

कभी-कभी लोग आश्रम के सम्बन्ध में विरोध और असन्तोष भी व्यक्त करते थे। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह बिलकुल निराधार थे, परन्तु श्रीभगवान् इनकी ओर ध्यान नहीं देते थे। एक बार मद्रास से भक्तों, व्यापारियों तथा व्यावसायिक कर्मचारियों का एक दल एक विशेष बस द्वारा आश्रम के वर्तमान प्रबन्धकों के पदत्याग और नये प्रबन्धकों की नियुक्ति की माँग लेकर आया। वह सभा-कक्ष में चले गये और श्रीभगवान् के सम्मुख बैठ गये। उन्हें उनके आगमन के प्रयोजन के सम्बन्ध में नहीं बताया गया था परन्तु उन्होंने उनका रुख भाँप लिया था। वह शान्त भाव से बैठ गये, उनका चेहरा कठोर, उदासीन और शिला के समान अपरिवर्तनीय था। वह उनके सामने अस्थिर हो उठे, एक-दूसरे की ओर देखने लगे, डाँवाडोल होने लगे, परन्तु किसी को भी बोलने का साहस न हुआ। अन्त में वह सभा-भवन से उठ खड़े हुए और जैसे आये थे वैसे ही वापस मद्रास लौट गये। फिर श्रीभगवान् को उनके आने का प्रयोजन बताया गया। उन्होंने कहा, "मैं नहीं जानता कि वह यहाँ किसलिए आये थे। वह यहाँ अपना सुधार करने के लिए आते हैं या आश्रम का।"

श्रीभगवान् को अगर कोई नियम केवल कष्टसाध्य ही नहीं बल्कि अनुचित प्रतीत होता था तो वह इसका पालन किसी अवस्था में नहीं करते थे। उन्होंने विरूपाक्ष कन्दरा पर टैक्स लगाने को स्वीकार नहीं किया था। उस समय भी उनका तरीका विरोध का नहीं बल्कि अपने व्यवहार द्वारा इस अन्याय की

ओर ध्यान आकर्षित करने का था। एक समय ऐसा था जब आश्रम के भोजन-कक्ष में पहले ही सब के लिए भोजन परोस दिया जाता था, परन्तु सबके लिए समुचित कॉफी की व्यवस्था करना सम्भव नहीं था। इसलिए साधारण व्यक्तियों को जो कक्ष के अन्त में दूर खाने के लिए बैठते थे, कॉफी के स्थान पर पानी दिया जाता था। श्रीभगवान् ने इसे देख लिया—उनकी पैनी दृष्टि से कोई भी चीज नहीं बचती थी—और उन्होंने कहा, "मुझे भी पानी दीजिए।" इसके बाद से वह पानी पीने लगे और उन्होंने कॉफी कभी भी स्वीकार नहीं की। पहले भी कई बार ऐसा हुआ था जब श्रीभगवान् ने कॉफी छोड़ दी थी, परन्तु रसोइए और सेवक यह सोचकर कि शायद ऐसा वह उनकी भर्त्सना के लिए कर रहे हैं, उन्हें कॉफी पीने के लिए राजी कर लेते थे।

श्रीभगवान् को दोपहर के भोजन के बाद पान खाने की भी आदत थी। एक दिन उनका सेवक उनके लिए पान लगाना भूल गया। इस बात का पता चल गया और जल्दी ही पान तैयार किया गया और उनके सामने रखा गया, परन्तु उन्होंने इसे लेने से सर्वथा इन्कार कर दिया, शायद यह इस बात का संकेत था, "यह अनावश्यक आदत है। मैं पान क्यों लूँ ?"

उनसे प्रार्थना की गयी कि वह कम से कम यही प्रदर्शित करने के लिए कि उन्होंने सेवक को क्षमा कर दिया है, पान स्वीकार कर लें परन्तु उन्होंने कहा, "अगर पान खाना बुरी आदत है, तो मैं इसे एक बार भी क्यों खाऊँ ?" और उन्होंने फिर कभी पान नहीं खाया।

एक बार, जब वह काफी वृद्ध हो गये थे और गठिये के कारण उनके घुटने कठोर और विकृत हो गये थे; यूरोपियनों का एक दल आश्रम में आया। इस दल में एक महिला भी थी जिसे पालथी मारकर बैठने का अभ्यास नहीं था। वह दीवार का सहारा लेकर बैठ गयी और उसने अपनी टाँगें फैला लीं। एक सेवक ने, जो शायद यह अनुभव नहीं कर सकता था कि उस व्यक्ति के लिए जो पालथी मारकर बैठने का अभ्यस्त नहीं है, यह कार्य कितना कठिन है, उससे टाँगें न फैलाकर बैठने के लिए कहा। घबराहट के कारण उस महिला का चेहरा लाल हो उठा और उसने अपनी टाँगें सिकोड़ लीं। तत्काल ही श्रीभगवान् भी सीधे और पालथी मारकर बैठ गये। घुटनों में दर्द होने के बावजूद वह पालथी मारकर बैठे रहे। जब भक्तों ने उनसे वैसा न करने के लिए कहा तो उन्होंने उत्तर दिया, "अगर आश्रम का यही नियम है तो अन्य व्यक्तियों के समान मुझे भी इसका पालन करना होगा। अगर पैर फैलाकर बैठना दूसरों का अनादर करना है तो मैं सभा-भवन में बैठे प्रत्येक व्यक्ति का अनादर कर रहा हूँ।" सेवक सभा-कक्ष से जा चुका था, परन्तु उसे वापस

बुलाया गया और उसने भद्र महिला से कहा कि वह जैसे भी चाहे सुविधा-पूर्वक बैठे। तब भी श्रीभगवान् को टाँगें फैलाकर बैठने के लिए मनाना बहुत कठिन था।

प्रारम्भिक वर्षों में कभी-कभी श्रीभगवान् को आलोचना का भी सामना करना पड़ता था। विशेष रूप से पाश्चात्य भक्तों की ईसाई मिशनरियों की आलोचना का सामना करना पड़ता था। एक बार का जिक्र है, एक मिशनरी सभा-भवन में चला आया और श्रीभगवान् की जोर-शोर से आलोचना करने लगा। परन्तु सभा-भवन के पीछे से मेजर चैडविक ने वक्ता द्वारा ईसाइयत की व्याख्या को चुनौती दी और उसे इतना अप्रतिभ कर दिया कि वह भाग खड़ा हुआ। बाद के वर्षों में भी कैथोलिक पादरी आया करते थे। पहले तो वह श्रीभगवान् के प्रति दिलचस्पी और सम्मान की भावना अभिव्यक्त करते और फिर इस तरीके से अपना सन्देह प्रकट करते थे कि व्यक्ति आश्चर्य में पड़ जाता था और यह सोचने लगता था कि क्या इनका हृदय वस्तुतः उदार है या उनका प्रयोजन केवल अपने धर्म में दीक्षित करना और तथ्यों को तोड़-मरोड़कर रखना नहीं था।

अगर कोई प्रश्न ईमानदारी से न पूछा जाता तो भगवान् प्रायः मौन और स्थिर होकर बैठ जाते। एक बार एक धूर्त और वंचक साधु, आश्रम में आया और भगवान् की मिथ्या स्तुति करते हुए उनसे पूछने लगा कि क्या वह ज्ञानी हैं या जीवन्मुक्त। यह सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त है कि कोई भी व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि "मैं ज्ञानी हूँ" क्योंकि साक्षात्कार का अर्थ ही है अहं का लोप। वह धूर्त; भगवान् द्वारा हाँ कहने पर इस सिद्धान्त को उनके विरुद्ध प्रयुक्त करना चाहता था और अगर वह कहते 'नहीं' तो वह यह व्यंग्य करता : "फिर आप शिष्यों को इसकी शिक्षा क्यों देते हैं ?" भगवान् बिलकुल मौन धारण करके बैठे रहे और उन्होंने उसकी बिलकुल उपेक्षा कर दी।

एक बार एक मुसलमान श्रीभगवान् से तर्क करने आया। उसकी चुनौती को स्वीकार करते हुए श्रीभगवान् ने अत्यन्त धैर्यपूर्वक उनके प्रश्नों का उत्तर दिया।

उसका पहला प्रश्न था, "क्या भगवान् का रूप है ?"

श्रीभगवान् ने व्यंग्य में उत्तर दिया, "कौन कहता है भगवान् का रूप होता है ?"

प्रश्नकर्त्ता का कहना था, "अगर भगवान् निराकार है तो क्या उसे मूर्ति का रूप देना और इस रूप में उसकी पूजा करना गलत नहीं है ?"

उन्होंने उसका व्यंग्यार्थ समझ लिया था, "कोई भी नहीं कहता कि भगवान् का रूप है।" इसका अर्थ ठीक वही था जो कहा गया था। अब श्रीभगवान् ने

इसकी व्याख्या करते हुए उस मुसलमान से पूछा, "भगवान् को एक ओर रहने दें, पहले आप मुझे यह बतायें कि क्या आपका रूप है ?"

"निस्सन्देह, जैसा कि आप देख सकते हैं, मेरा रूप है, परन्तु मैं भगवान् नहीं हूँ।"

"तब क्या आप हाड़-माँस, रक्त के बने और सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए यह भौतिक शरीर ही हैं ?"

"हाँ, ऐसा ही है; मैं इस भौतिक रूप में अपनी सत्ता से परिचित हूँ।"

"आप अपने को शरीर कहते हैं क्योंकि अब आपको अपने शरीर का ज्ञान है, परन्तु क्या आप यह शरीर हैं ? क्या गाढ़ निद्रा में जब आपको अपने शरीर की सत्ता का ज्ञान नहीं होता, आप शरीर रूप हो सकते हैं ?"

"हाँ, गाढ़ निद्रा में भी मैं इसी शारीरिक रूप में विद्यमान रहता हूँ, क्योंकि जब तक मुझे नींद नहीं आती मुझे इस शरीर का ज्ञान रहता है परन्तु ज्योंही मेरी नींद खुलती है मैं देखता हूँ कि मैं ठीक वही हूँ जो सोने से पहले था।"

"और जब मृत्यु हो जाती है ?"

प्रश्नकर्ता थोड़ी देर रुका और उसने एक क्षण सोचकर कहा, "हाँ, तब मुझे मृत समझ लिया जाता है और शरीर को दफना दिया जाता है।"

"परन्तु आपने कहा था कि आपका शरीर आप हैं। जब इसे दफनाने के लिए ले जाया जाता है तो यह विरोध क्यों नहीं करता और कहता : 'नहीं नहीं, मुझे मत ले जाओ ! यह सम्पत्ति जो मैंने इकट्ठी की है, यह वस्त्र जो मैं पहने हुए हूँ, यह बच्चे जिन्हें मैंने जन्म दिया है, यह सब मेरे हैं, मुझे इनके साथ रहना है।' "

तब आगन्तुक ने यह स्वीकार किया कि उसने गलती से अपने को शरीर समझ लिया था और कहा, "मैं शरीर में जीवन हूँ, स्वयं शरीर नहीं हूँ।"

तब श्रीभगवान् ने उसे समझाते हुए कहा, "अब तक आप अपने को गम्भीरतापूर्वक शरीर समझते थे और यह सोचते थे कि मेरा रूप है। यही मूल अज्ञान है जो सारे कष्ट की जड़ है। जब तक उस अज्ञान से छुटकारा नहीं पा लिया जाता और जब तक आप अपनी निराकार प्रकृति को नहीं पहचान लेते तब तक भगवान् के सम्बन्ध में यह तर्क करना कि वह साकार है या निराकार या जब वह वस्तुत: निराकार है तब मूर्ति के रूप में भगवान् की पूजा करना उचित है या नहीं—यह सब बातें कोरा पाण्डित्य प्रदर्शन-मात्र है। जब तक व्यक्ति निराकार आत्मा के दर्शन नहीं कर लेता, वह सच्चे अर्थों में निराकार भगवान् की पूजा नहीं कर सकता।"

कई बार श्रीभगवान् के उत्तर संक्षिप्त और गूढ़ होते थे, कई बार पूर्ण और व्याख्यात्मक होते थे, परन्तु हमेशा वह प्रश्नकर्ता की प्रकृति के अनुसार होते थे और सदा ही आश्चर्यजनक रूप से ठीक होते थे। एक बार एक नंगा फकीर आया और लगभग एक सप्ताह तक आश्रम में रहा; बैठते समय वह अपनी दाहिनी भुजा को हमेशा ऊपर उठाये रहता था। उसने स्वयं सभा-भवन में प्रवेश नहीं किया बल्कि अन्दर यह प्रश्न भेजा, "मेरा भविष्य क्या होगा ?"

उत्तर था, "उससे कह दें कि उसका भविष्य भी वही होगा जो उसका वर्तमान है।" इस उत्तर द्वारा न केवल उस व्यक्ति की भविष्य के प्रति दिलचस्पी की भर्त्सना की गयी थी बल्कि उसे यह स्मरण कराया गया था कि उसके वर्तमान अच्छे या बुरे कार्य उसके भविष्य का निर्माण कर रहे थे।

एक आगन्तुक ने विभिन्न शिक्षकों द्वारा निर्धारित मार्गों की चर्चा करते हुए और पाश्चात्य दार्शनिकों के उद्धरण देते हुए पाण्डित्य-प्रदर्शन किया। अन्त में उसने कहा, "एक एक बात कहता है, दूसरा दूसरी। कौन-सा मार्ग ठीक है; मुझे किसका अनुसरण करना चाहिए।"

श्रीभगवान् मौन बैठे रहे परन्तु आगन्तुक ने अपना प्रश्न आग्रहपूर्वक जारी रखते हुए कहा, "कृपया मुझे बतायें कि मैं कौन-से मार्ग का अनुसरण करूँ ?"

फिर भी भगवान् ने कोई उत्तर न दिया और जब एक घण्टे बाद वह सभा-कक्ष से जाने के लिए उठ खड़े हुए, वह उसकी ओर मुड़े और उन्होंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया, "जिस मार्ग से आप आये थे, उससे चले जायें।"

आगन्तुक ने भक्तों से शिकायत की कि ऐसे उत्तर का क्या लाभ, परन्तु भक्तों ने इसके गम्भीर अर्थ की ओर संकेत करते हुए कहा, कि इसका अभि-प्राय है : एकमात्र मार्ग अपने स्रोत की ओर वापस लौटना है, जहाँ से व्यक्ति आया था। साथ ही, आगन्तुक के अभिमान-मिश्रित प्रश्न का यही उपयुक्त उत्तर था।

सुन्दरेश ऐय्यर नामक एक व्यक्ति, जिनका पहले भी जिक्र आया है, श्रीभगवान् के परम भक्त थे। जब उन्होंने यह सुना कि उनका दूसरे नगर में तबादला होने वाला है, तो उन्होंने अत्यन्त शोक भरे शब्दों में श्रीभगवान् से शिकायत करते हुए कहा, "गत ४० वर्षों से भगवान् के साथ रह रहा हूँ और अब मैं दूर चला जाऊँगा। भगवाम् के बिना मैं कैसे रहूँगा।

श्रीभगवान् ने उससे पूछा, आप कितने अरसे से भगवान् के साथ रह रहे हैं।"

उत्तर था, "चालीस वर्ष।"

तब भक्तों को सम्बोधित करते हुए श्रीभगवान् ने कहा, "यहाँ एक ऐसे

महानुभाव हैं जो पिछले ४० वर्षों से मेरा उपदेश सुन रहे हैं और अब वह कहते हैं कि वह भगवान् से दूर जा रहे हैं।" इस प्रकार श्रीभगवान् ने अपनी सार्वलौकिक उपस्थिति की ओर ध्यान खींचा। सुन्दरेश ऐय्यर का तबादला रद्द हो गया था।

आश्रम का भवन भक्तों तथा विश्व-भर में फैले हुए उन व्यक्तियों का जो वहाँ शारीरिक रूप से उपस्थित नहीं हो सकते थे, केन्द्र बना रहा। ऊपर से देखने वाले दर्शक को ऐसा लगता था कि बहुत थोड़ा कार्य हो रहा है परन्तु वस्तुतः वहाँ महान् कार्य सम्पन्न हो रहा था।

आयु के बढ़ने के साथ-साथ श्रीभगवान् के दैनिक जीवन में परिवर्तन आ गया। ज्यों-ज्यों भगवान् का शरीर दुर्बल होता जाता था त्यों-त्यों दैनिक-चर्या और प्रतिबन्ध कठोर होते जाते थे। जब श्रीभगवान् अत्यन्त दुर्बल हो गये, उनसे मिलने के लिए कोई निर्धारित समय नहीं था। दिन हो चाहे रात, हर समय उनसे मिला जा सकता था। सोते समय भी वह भवन के दरवाजे बन्द नहीं करवाते थे ताकि कोई दर्शनार्थी उनसे मिलने से वंचित न रह जाये। प्रायः वह रात को बहुत देर तक भक्तों से बातें करते रहते थे। इन भक्तों में से कई, सुन्दरेश ऐय्यर की तरह गृहस्थी थे, जिन्हें अगले दिन काम पर जाना होता था। इन भक्तों का ऐसा अनुभव था कि आश्रम में श्रीभगवान् के साथ एक रात रहने के उपरान्त, निद्रा के अभाव में उन्हें अगले दिन किसी प्रकार की कोई थकावट अनुभव नहीं होती थी।

आश्रम का दैनिक-जीवन सुव्यवस्थित और नियमित था। व्यवस्था और नियमितता श्रीभगवान् के जीवन के आदर्श थे, जिन्हें उन्होंने अपने जीवन में ढाला था और जिनके पालन के लिए वह दूसरों से कहा करते थे। इस प्रकार आश्रम की प्रत्येक वस्तु स्वच्छ और अपने उचित स्थान पर थी। आश्रम के भवनों की सफेदी की हुई बाहर की दीवारें सूर्य के प्रकाश में चमकती थीं; फर्श इतने स्वच्छ थे कि श्वेत वस्त्रधारी भक्तजन अपने कपड़ों के मैले होने की चिन्ता किये बिना निस्संकोच वहाँ बैठ सकते थे। भगवान् की शय्या पर बिछी हुई कशीदाकारी की हुई चादरें प्रतिदिन बदली जाती थीं और हमेशा साफ-सुथरी रहती थीं और उन्हें ठीक ढंग से तह किया जाता था।

सन् १९२६ में ही भगवान् ने पहाड़ी की प्रदक्षिणा करना छोड़ दिया था। आश्रम में आने वाले लोगों की संख्या प्रतिदिन बढ़ रही थी। उस पर नियन्त्रण करना सम्भव नहीं था। जब श्रीभगवान् बाहर जाते तो कोई भी व्यक्ति आश्रम में रहना पसन्द नहीं करता था। हर कोई उनके साथ जाना चाहता था। इसके अतिरिक्त, यह भी आशंका थी कि श्रीभगवान् के आश्रम में उपस्थित न होने की स्थिति में, भक्तगण दर्शनों के लिए आयें और उन्हें वहाँ

न पाकर निराश होकर वापस न चले जायँ। अनेक अवसरों पर उन्होंने इस ओर संकेत किया था कि जो भी व्यक्ति उनके दर्शनों के लिए आये उसे रोका न जाये। श्रीभगवान् कहा करते थे कि वह इसीलिए पहाड़ी की तलहटी में रहते हैं और स्कन्दाश्रम नहीं जाते क्योंकि वहाँ भक्तजन सरलता से नहीं पहुँच सकते। श्रीभगवान् ने न केवल पहाड़ी का चक्कर लगाना छोड़ दिया बल्कि चाहे जो भी कारण हो, वह सिवाय प्रातः और सायं भ्रमण के आश्रम से कभी भी अनुपस्थित नहीं रहते थे। रसोई में कार्य करना भी मुख्यतः उन्होंने इसीलिए बन्द कर दिया था ताकि सभी भक्त उनके दर्शन कर सकें। जब उनसे भारत के पवित्र तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने के लिए कहा गया तो उनके इन्कार करने का एक कारण यह भी था कि उनकी अनुपस्थिति में भक्तजन आश्रम में आयेंगे और उन्हें निराश होना पड़ेगा। अपनी अन्तिम बीमारी में वह अन्त तक इस बात पर बल देते रहे कि उनके दर्शनों के लिए आने वाले सभी भक्तों को उनसे मिलने दिया जाय।

इन वर्षों में भक्तों को जो अनुभव हुए, श्रीभगवान् ने उन्हें जो उपदेश दिये और उनकी शंकाओं का जो समाधान किया, उस सब को यदि संगृहीत किया जाय तो कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। परन्तु इस पुस्तक का उद्देश्य विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करना नहीं बल्कि श्रीभगवान् के जीवन और उनकी शिक्षाओं का सामान्य चित्र प्रस्तुत करना है।

तेरहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् का दैनिक जीवन

दिव्य पुरुषों के चमत्कार या रूपान्तरण की अपेक्षा उनकी दैनिक जीवन-चर्या में दिव्यत्व के दर्शन करना कहीं अधिक कठिन है, इसलिए भगवान् और उनके भक्तों की जीवन-पद्धति का वर्णन हमारे लिये अत्यन्त सहायक होगा। यह श्रीभगवान् के जीवन के अन्तिम वर्षों की घटनाओं पर जिनका लेखक ने निकट से निरीक्षण किया है, आधारित है। इसमें वर्णित घटनाएँ अन्य घटनाओं की अपेक्षा अधिक विशिष्ट नहीं हैं, जिस प्रकार कि इसमें वर्णित भक्त उन भक्तों से श्रेष्ठ नहीं हैं, जिनका यहाँ वर्णन नहीं किया गया।

सन् १९४७ का वर्ष है। भगवान् को तिरुवन्नामलाई में रहते ५० वर्ष हो गये हैं। वृद्धावस्था के आगमन और स्वास्थ्य क्षीण होने के साथ, प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं और अब श्रीभगवान् से निजी रूप में तथा हर समय नहीं मिला जा सकता। रात को वह तख्त पर सोते हैं, जहाँ वह दिन के समय दर्शन देते हैं परन्तु अब दरवाजे बन्द रखे जाते हैं। प्रारम्भिक वर्षों में, दिन हो चाहे रात, सभी दर्शनार्थी उनके दर्शन कर सकते थे। पाँच बजे द्वार खुल जाते हैं और प्रातःकाल दर्शनों के लिए आने वाले भक्त, शान्त भाव से अन्दर प्रवेश करते हैं, श्रीभगवान् के सम्मुख दण्डवत् प्रणाम करते हैं और काले पत्थर के फर्श पर, जो नित्य-प्रति के उपयोग से चिकना और चमकदार हो गया है, बैठ जाते हैं। बहुत-से भक्तजन अपने साथ लाये हुए आसनों पर बैठ जाते हैं। श्रीभगवान् ने, जो इतने विनम्र थे, जो तुच्छातितुच्छ व्यक्ति के साथ भी समता के व्यवहार पर बल देते थे, अपने सम्मुख दण्डवत् प्रणाम की कैसे आज्ञा दे दी ? यद्यपि मानवीय दृष्टि से वह सब प्रकार के विशेषाधिकारों के विरोधी थे तथापि वह यह स्वीकार करते थे कि साधना और आध्यात्मिक प्रगति के लिए पार्थिव देहधारी गुरु की पूजा अत्यन्त सहायक है। केवल समर्पण की बाह्य क्रिया ही पर्याप्त नहीं। एक बार उन्होंने स्पष्टतः कहा था, "मनुष्य मेरे आगे दण्डवत् प्रणाम करते हैं, परन्तु मैं जानता हूँ कि हार्दिक समर्पण वृत्ति किसमें है।"

आश्रमवासी ब्राह्मणों का एक छोटा-सा दल तख्त के समीप बैठता है और

वेद-मन्त्रों का उच्चारण करता है। एक या दो अन्य ब्राह्मण जो डेढ़ मील दूर नगर से वहाँ आये हैं, उनके साथ मन्त्र पाठ में सम्मिलित होते हैं। तख्त के पास अगरबत्तियाँ जल रही हैं, उनकी भीनी-भीनी सुगन्धि सारे वायुमण्डल में फैल रही है। सर्दियों में तख्त के पास अँगीठी जलती रहती है, जो हमें उनकी दिनों-दिन क्षीण होती हुई जीवनी-शक्ति का स्मरण कराती है। कभी-कभी वह अपने अत्यन्त सुन्दर क्षीण हाथों और पतली शुण्डाकार अँगुलियों को आग पर तापते हैं और अंगों में गर्मी पैदा करने के लिए गरम हाथों से शरीर को धीरे-धीरे रगड़ते हैं। सभी भक्तजन शान्त भाव से, प्रायः चिन्तन में आँखें बन्द किये हुए बैठे हुए हैं।

छः बजने से कुछ क्षण पहले मन्त्र-पाठ समाप्त हो जाता है। जैसे ही श्रीभगवान् कोशिश करके तख्त से उठ खड़े होते हैं, डण्डे के लिए हाथ बढ़ाते हैं। उनका सेवक उनके हाथ में डण्डा थमा देता है और वह धीमे-धीमे दरवाजे की ओर पग बढ़ाते हैं सब भक्तजन उठ खड़े होते हैं। दुर्बलता या गिर पड़ने के भय के कारण श्रीभगवान् नीचे दृष्टि करके नहीं चलते; सभी जानते हैं कि यह उनकी सहज नम्रता है। वह पहाड़ी की तरफ, भवन के उत्तरी द्वार से बाहर निकलते हैं और धीरे-धीरे झुककर डण्डे का सहारा लिये हुए, सफेद दीवारों वाले भोजन-कक्ष और कार्यालय-भवन के बीच के मार्ग से होते हुए, पुरुषों के अतिथि-गृह का चक्कर लगाते हुए, आश्रम भवनों के सुदूर-पूर्व में स्थित गोशाला के पास स्नानगृह की ओर चले जाते हैं। हृष्टपुष्ट, छोटे कद और कृष्ण वर्ण के, घुटनों तक सफेद धोतियाँ धारण किये हुए दो सेवक लम्बे, पतले, गेहुँए रंग के और केवल सफेद लंगोटी धारण किये हुए श्रीभगवान् के पीछे चलते हैं। कभी-कभी किसी भक्त के निकट आने पर या किसी बालक को देखकर हँसने के लिए, वह ऊपर दृष्टि उठाते हैं।

श्रीभगवान् की हास्य छटा अवर्णनीय है। कोई कठोर-हृदय व्यापारी भी जब तिरुवन्नामलाई से प्रस्थान करेगा, उसका हृदय इस हास्य से आन्दोलित हो चुका होगा। एक बार एक सीधी-सादी महिला ने कहा था, "मैं दर्शन का अर्थ नहीं समझती, परन्तु जब वह मुझे देखकर मुस्कराते हैं, मैं अपने को ऐसे ही सुरक्षित अनुभव करती हूँ जैसे कोई बालक अपने को माँ की गोद में।" जब मुझे अपनी पाँच साल की पुत्री ने निम्न पत्र भेजा, मैंने श्रीभगवान् के दर्शन भी नहीं किये थे, "आपके हृदय में भगवान के प्रति प्रेम की स्रोतस्विनी बढ़ेगी, जब वह हँसते होंगे प्रत्येक व्यक्ति प्रफुल्लता का अनुभव करता होगा।"

सात बजे नाश्ता होता है। नाश्ते के बाद श्रीभगवान् सैर के लिए जाते हैं और फिर भवन में वापस आ जाते हैं। इस बीच भवन की सफाई कर ली जाती है और तख्त पर साफ चादरें बिछा दी जाती हैं। कई चादरों पर तो

बहुत बढ़िया कशीदाकारी का काम किया हुआ होता है। यह चादरें भक्तों से भेंट में मिली होती हैं। सभी चादरें अत्यन्त स्वच्छ होती हैं और उन्हें बड़ी सावधानी से बिछाया जाता है, क्योंकि सेवक जानते हैं कि उनकी दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण है और वह हर चीज को बड़ी बारीकी से देखते हैं, चाहे वह इसके सम्बन्ध में कुछ कहें या न कहें।

आठ बजे तक श्रीभगवान् सभा-भवन में वापस आ जाते हैं और भक्तों का आना शुरू हो जाता है। नौ बजे तक सभा-भवन भर जाता है। अगर आप नवागन्तुक हैं, आप सम्भवत: अनुभव करते हैं कि सभा-भवन जाना-पहचाना है। आप स्वयं को श्रीभगवान् के अत्यन्त निकट अनुभव करते हैं। सभा-भवन का सम्पूर्ण क्षेत्र ४० फुट × १५ फुट है। यह पूर्व और पश्चिम में फैला हुआ है, लम्बाई की ओर हर तरफ दरवाजा है। उत्तर की ओर का दरवाजा जिस तरफ पहाड़ी है, वृक्षाच्छादित वर्गाकार स्थान की ओर खुलता है, जिसके पूर्व की ओर भोजन-कक्ष है और जिसके पश्चिम की ओर वाटिका तथा डिसपेन्सरी हैं। दक्षिण की ओर के दरवाजे से मन्दिर को जाते हैं और इससे परे सड़क है, जिस तरफ से भक्तजन आते हैं। तख्त सभा-भवन के पूर्वोत्तर में है। इसके पास एक घूमने वाली पुस्तकों की अलमारी है, जिसमें वह पुस्तकें हैं जिनकी अक्सर माँग रहती है और इस पर एक घड़ी रखी है, दूसरी घड़ी तख्त के पास दीवार पर टँगी है, दोनों घड़ियाँ बिलकुल ठीक समय देती हैं।

यदि निर्देश के लिए किसी पुस्तक की आवश्यकता होती है तो श्रीभगवान् को तुरन्त पता चल जाता है कि यह कौन-से खाने में है। उन्हें प्राय: निर्देशित पैरे का पृष्ठ भी ज्ञात होता है। दक्षिणी दीवार के सहारे बड़ी-बड़ी पुस्तकें रखने की शीशे की अलमारियाँ हैं।

अधिकांश भक्त श्रीभगवान् की ओर अर्थात् पूर्व की ओर मुँह करके सभा-भवन के बीच में बैठते हैं। सभा-भवन के उत्तरी आधे भाग में महिलाएँ उनके सामने बैठती हैं, पुरुष उनके बायीं ओर बैठते हैं। कुछ थोड़े-से पुरुष तख्त के निकट बैठते हैं, उनकी पीठ दक्षिणी दीवार की ओर होती है और वह दूसरों की अपेक्षा श्रीभगवान् के अधिक निकट होते हैं। कुछ वर्ष पूर्व महिलाओं को यह विशेषाधिकार प्राप्त था, फिर किसी कारणवश स्थान-परिवर्तन कर दिया गया। हिन्दू-परम्परा के अनुसार पुरुषों और महिलाओं को पृथक-पृथक बैठना चाहिए। श्रीभगवान् इसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका विचार है कि स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक आकर्षण से महान् आध्यात्मिक आकर्षण विक्षुब्ध हो सकता है। सभा-भवन को छोड़कर अन्यत्र स्त्री-पुरुष एक-दूसरे से स्वतन्त्रतापूर्वक मिल सकते हैं।

सभा-भवन में अगरबत्तियाँ जल रही हैं। कई भक्तजन आँखें बन्द करके चिन्तन में बैठे हुए हैं, दूसरे विश्राम कर रहे हैं और श्रीभगवान् की ओर देख रहे हैं। एक दर्शक श्रीभगवान् की प्रशंसा में स्वरचित गीत गाता है। सुदूर यात्रा से वापस आने वाला एक भक्त श्रीभगवान् के चरणों में फलों की भेंट चढ़ाता है और फिर उनके सामने बैठ जाता है। एक सेवक श्रीभगवान् के प्रसाद के रूप में भेंट का कुछ हिस्सा भक्त को वापस दे देता है, कुछ प्रसाद सभा-भवन में आने वाले बच्चों में बाँट दिया जाता है। तख्त के पास खिड़की में बैठे हुए या दरवाजे के पास ताक-झाँक करने वाले बन्दरों, मोरों या अगर लक्ष्मी गौ वहाँ उपस्थित हो तो उसे भी प्रसाद दे दिया जाता है। शेष प्रसाद भोजन-कक्ष में बैठे भक्तों में बाँट दिया जाता है।

श्रीभगवान् अपने लिये कुछ स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में अवर्णनीय कोमलता है। उनके हृदय में न केवल भक्तों के तात्कालिक कष्टों के प्रति अपितु समस्त संसार के प्रति सहानुभूति है। परन्तु इस कोमलता के बावजूद उनके चेहरे की रेखाओं से उस व्यक्ति की कठोरता द्योतित होती है जिसने हमेशा विजयश्री प्राप्त की है और कभी समझौता नहीं किया। उनकी यह कठोरता प्रायः सफेद बालों में छिप जाती है, क्योंकि संन्यासी हर पूर्णमासी को चेहरे और सिर की हजामत करवाते हैं। बहुत-से भक्त उनकी हजामत को पसन्द नहीं करते क्योंकि चेहरे और सिर पर सफेद बालों की वृद्धि से भगवान् की कोमलता और आकर्षण में बहुत अधिक वृद्धि होती है, परन्तु कोई श्रीभगवान् से इसका जिक्र नहीं करता।

उनका चेहरा, जल के सदृश है, सदा परिवर्तनशील परन्तु सदा एक-रस। यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि किस प्रकार शीघ्रता से श्रीभगवान् में कोमलता के स्थान पर चट्टान की-सी दृढ़ता और हँसी के स्थान पर करुणा के भाव का आविर्भाव हो जाता है। कोमलता और कठोरता का प्रत्येक पक्ष इतना पूर्ण होता है कि व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि यह एक व्यक्ति का नहीं बल्कि समस्त मानव जाति का चेहरा है। तकनीकी दृष्टि से श्रीभगवान् भले ही सुन्दर प्रतीत न हों क्योंकि उनकी मुखाकृति सुघड़ नहीं है परन्तु सर्वाधिक सुन्दर चेहरा भी उनके सामने फीका पड़ जाता है। उनके चेहरे में ऐसी वास्तविकता है कि इसकी छाप स्मृति-पटल पर गहरी पड़ती है जब कि अन्य स्मृतियाँ धुँधली पड़ जाती हैं। जिन लोगों ने उन्हें केवल थोड़ी देर के लिए या केवल फोटो में देखा है, उनके मनश्चक्षुओं के आगे भी, उन व्यक्तियों की अपेक्षा जिन्हें वह अच्छी तरह जानते हैं, श्रीभगवान् का चित्र अधिक स्पष्टता से उभरकर आता है। वस्तुतः इसका कारण यह हो सकता है कि उनके मुखमण्डल पर प्रेम, कृपालुता, प्रज्ञा, सद्भावना और बाल-सुलभ सरलता

के जो भाव अंकित हैं, उनसे चिन्तन के लिए शब्दों की अपेक्षा अधिक प्रेरणा मिलती है।

तख्त के चारों ओर, इससे कुछ फुट की दूरी पर लगभग १८ इंच ऊँचा जंगला है जिसे इधर-उधर हटाया जा सकता है। पहले इसके सम्बन्ध में कुछ विवाद भी हुआ था। आश्रम के प्रबन्धकों का ऐसा अनुभव था कि श्रीभगवान् सामान्यतः चरण-स्पर्श किया जाना पसन्द नहीं करते। अगर कोई ऐसा करने की चेष्टा करता है तो वह पीछे हट जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक बार एक मार्गभ्रष्ट भक्त ने श्रीभगवान् की उपस्थिति में एक नारियल तोड़ा और वह इसका जल उनके सिर पर डालकर उनका सम्मान करना चाहते थे। इसलिए आश्रम के प्रबन्धकों ने जंगला लगाने का निर्णय किया। दूसरी ओर अनेक भक्तों ने ऐसा अनुभव किया कि यह भक्तों और भगवान् के मध्य व्यवधान उपस्थित करना है। श्रीभगवान् के सम्मुख ही यह विवाद होने लगा कि क्या उन्होंने इस बात की स्वीकृति दी है। परन्तु किसी को भी उनसे इसके निर्णय के लिए कहने का साहस न हुआ। भगवान् स्थिर भाव से बैठे रहे।

कुछ भक्त अपने स्थानों से बिना उठे, भगवान् से अपने या अपने मित्रों के सम्बन्ध में बातचीत करते हैं, अनुपस्थित भक्तों की उन्हें सूचना देते हैं और सैद्धान्तिक प्रश्न पूछते हैं। प्रत्येक को ऐसा अनुभव होता है जैसे वह एक विशाल परिवार का सदस्य हो। यदि किसी को उनसे व्यक्तिगत बात करनी है, वह उठकर भगवान् के तख्त के पास जाता है और धीमे-धीमे उनसे बात करता है या उन्हें कागज का वह पुर्जा देता है, जिस पर उसने कुछ लिख रखा है। शायद वह अपने प्रश्न का उत्तर चाहता है, या केवल भगवान् को सूचित करना चाहता है और उसे विश्वास है कि सब शुभ होगा।

एक माँ अपने छोटे बच्चे को भगवान् के पास ले आती है। वह इसे देखते ही माँ की अपेक्षा अधिक कृपालु भाव से मुस्करा देते हैं। एक छोटी लड़की अपनी गुड़िया लेकर आती है, इसे तख्त के सामने लिटाकर रख देती है और फिर भगवान् को दिखाती है, वह इसे हाथ में ले लेते हैं और देखते हैं। एक बन्दर दरवाजे में चुपके से आ जाता है और केला छीन ले जाने की कोशिश करता है। सेवक बन्दर का पीछा करता है, परन्तु वहाँ एक सेवक होने के कारण, बन्दर दौड़कर सभा-भवन के दूसरे कोने पर पहुँच जाता है और फिर दूसरे दरवाजे से अन्दर आ जाता है। श्रीभगवान् धीमे से उससे कहते हैं : "जल्दी करो, जल्दी करो ! वह फिर वापस आ जायेगा।" एक गेरुआ वस्त्र-धारी जटाधारी साधु जो शक्ल से असभ्य लगता है, हाथ ऊपर उठाये हुए तख्त के सामने खड़ा हुआ है। सूटधारी एक समृद्ध नागरिक श्रीभगवान् के सम्मुख सुन्दर ढंग से दण्डवत् प्रणाम करता है और आगे बैठ जाता है।

उसका साथी, जिसे उसकी भक्ति में विश्वास नहीं है, साष्टांग प्रणाम नहीं करता।

पण्डितों का एक दल तख्त के समीप बैठा हुआ एक संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद कर रहा है और किसी बात का स्पष्टीकरण करने के लिए बार-बार उठकर श्रीभगवान् के पास जाता है। एक तीन साल का बच्चा दूसरों से पीछे नहीं रहना चाहता, वह अपनी कहानियों की पुस्तक लेकर श्रीभगवान् के पास पहुँच जाता है। श्रीभगवान् उसके हाथ से अनुग्रहपूर्वक पुस्तक ले लेते हैं और दिलचस्पी के साथ इसके पन्ने पलटते जाते हैं। परन्तु यह पुस्तक तो फटी हुई है, वह इसे जिल्द-बन्दी के लिए एक सेवक को दे देते हैं। अगले दिन बालक को जिल्द बँधी पुस्तक मिल जाती है।

सेवक भी अत्यन्त परिश्रमी है। उसे परिश्रमी होना भी चाहिए क्योंकि श्रीभगवान् की दृष्टि स्वयं बड़ी पैनी है, वह हर काम बड़ी सफाई से करते हैं और किसी काम में ढील सहन नहीं करते। सेवक ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्हें भगवान् का विशेष अनुग्रह प्राप्त है। पण्डित भी इसी प्रकार अनुभव करते हैं। तीन वर्ष का बालक भी ऐसा अनुभव करता है। भिन्न-भिन्न विचारों और चरित्रों के सभी भक्तजन श्रीभगवान् द्वारा तुरन्त प्रत्युत्तर के कारण ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्हें भगवान् का विशेष सान्निध्य और अनुग्रह प्राप्त है।

धीरे-धीरे व्यक्ति को श्रीभगवान् के मार्गदर्शन की सूक्ष्मता, दक्षता तथा मानवीय संस्पर्श का बोध होता है। उनका मार्गदर्शन अदृश्य होता है। उनके लिए सब खुली पुस्तकें हैं। वह किसी शिष्य की ओर, यह जानने के लिए कि चिन्तन में वह कैसी प्रगति कर रहा है, भेदक-दृष्टि डालते हैं। कई बार किसी भक्त पर उनकी आँखें गड़ी रहती हैं मानो वह अपनी दयालुता की प्रत्यक्ष शक्ति की धारा उसमें प्रवाहित कर रहे हों। यह सब बातें यथासम्भव सामान्य रूप में होती हैं : ध्यानापकर्षण के लिए, श्रीभगवान् एक तरफ देखने लगते हैं, समाचार-पत्र पढ़ने के दौरान श्रीभगवान् किसी भक्त की ओर स्थिर दृष्टि से देखने लगते हैं या जब भक्त स्वयं आँखें बन्द किये हुए चिन्तन कर रहा हो और उसे कुछ ज्ञात न हो, वह स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखने लगते हैं। शायद इसका कारण यह हो कि वह इस प्रकार दोहरे खतरे से बचना चाहते हों अर्थात् दूसरे भक्तों में ईर्ष्या भाव और भगवान् के कृपाभाजन में अभिमान की भावना पैदा न हो।

नवागन्तुक का विशेष ध्यान रखा जाता है; भक्त भी इसके अभ्यस्त हो चुके हैं। जब भी वह सभा-भवन में प्रवेश करता है, हर बार उसका मुस्करा कर स्वागत किया जाता है, चिन्तन के समय उसका ध्यान से निरीक्षण किया

जाता है और मैत्रीपूर्ण बातों से उसे प्रोत्साहन दिया जाता है। यह प्रक्रिया कुछ दिनों, सप्ताहों या महीनों तक जारी रह सकती है जब तक कि उसमें चिन्तन की ज्योति प्रज्वलित नहीं हो जाती या वह भगवान् के स्नेह-बन्धन में नहीं बँध जाता। परन्तु मानवीय प्रकृति इस प्रकार की है कि सम्भवतः अधिक ध्यान दिये जाने के कारण उस नवागन्तुक में अहंभाव पैदा हो जाता है और वह अपने को अन्य भक्तों से श्रेष्ठ समझने लगता है। इसे केवल वह नवागन्तुक और भगवान् ही जानते हैं। और फिर थोड़े समय के लिए उसकी उपेक्षा कर दी जाती है, जब तक कि उसमें गहन चिन्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो जाती। दुर्भाग्यवश सदा ऐसा नहीं होता, कभी-कभी नवागन्तुक में यह अभिमान बना रहता है कि उसे श्रीभगवान् का विशेष अनुग्रह प्राप्त है।

साढ़े आठ बजे के लगभग श्रीभगवान् के पास समाचार-पत्र लाये जाते हैं। जब उनसे प्रश्न नहीं पूछे जा रहे होते, वह कुछ समाचार-पत्र खोलते और उन्हें देखते हैं, किसी दिलचस्प विषय पर अपनी सम्मति देते हैं, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से नहीं। कई समाचार-पत्र सीधे आश्रम के नाम से भेजे जाते हैं। कई पत्र भक्तजन मँगाते हैं। परन्तु श्रीभगवान द्वारा स्पर्श किये गये समाचार-पत्र को पढ़ने के कारण प्राप्त आनन्द के लिए वह पहले उनके पास भेजे जाते हैं। जब समाचार-पत्र किसी का निजी होता है तो वह बड़ी दक्षता से इसे आवरण में से निकालते हैं और पढ़ने के बाद फिर उसी प्रकार इसमें रख देते हैं।

नौ पचास से लेकर लगभग साढ़े दस बजे तक श्रीभगवान् पहाड़ी पर सैर किया करते थे, परन्तु इन कुछ अन्तिम वर्षों में उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो चुका है और वह आश्रम की भूमि में चहलकदमी कर लेते हैं। जब वह सभा-भवन छोड़ते हैं तब गहन चिन्तन में लीन व्यक्तियों को छोड़कर सभी उठ खड़े होते हैं। इस अवकाश के समय वह इकट्ठे होते हैं और छोटे-छोटे दलों में वार्तालाप करते हैं—पुरुष और महिलाएँ परस्पर मिलते हैं, क्योंकि वह केवल सभा-भवन में ही एक-दूसरे से पृथक होकर बैठते हैं। कई भक्त समाचार-पत्र पढ़ते हैं; दूसरे डाक बाबू राजा से जो छोटे कद का अत्यन्त कार्यकुशल व्यक्ति है और प्रत्येक के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी रखता है, अपनी डाक लेते हैं।

श्रीभगवान् सभा-भवन में पुनः प्रवेश करते हैं और अगर वहाँ बैठे हुए व्यक्ति उठने लगते हैं तो वह उन्हें बैठे रहने का संकेत करते हैं। "अगर आप सभा-भवन में मेरे प्रवेश करने पर उठ खड़े होते हैं तो आपको प्रत्येक व्यक्ति के प्रवेश पर खड़ा होना चाहिए।" यह केवल परम्परागत लोकतन्त्र ही नहीं

है, इससे कुछ अधिक है। मूर्तिमान भगवान् श्रीभगवान् सबमें भगवान् के दर्शन करते हैं। एक बार गर्मी के महीनों में, उनके पास खिड़की में बिजली का पंखा रखा गया। उन्होंने सेवक से पंखा बन्द करने के लिए कहा और जब वह नहीं माना तो वह स्वयं पंखे के पास पहुँचे और उन्होंने प्लग बाहर खींच लिया। भक्तजन भी विक्षुब्ध थे; अकेले उन्हें ही पंखा क्यों दिया जाये! बाद में छत के पंखे लगाये गये और सबको समान रूप से लाभ पहुँचा।

अब श्रीभगवान् के आगे डाक रखी जानी है। एक पत्र पर केवल इतना पता लिखा है, 'महर्षि, इण्डिया।' एक भक्त ने अमरीका से आश्रम के बगीचे के लिए फूलों के बीज भेजे हैं। संसार के सभी भागों से भक्तों के पत्र आते रहते हैं। श्रीभगवान् हर पत्र को ध्यान से पढ़ते हैं, उसके पते और डाक मुहर पर टिप्पणी करते हैं। अगर किसी भक्त ने, जिसके मित्र सभा-भवन में उपस्थित हैं, कोई समाचार भेजा है, तो वह सबको समाचार पढ़कर सुनाते हैं। वह स्वयं पत्रों का उत्तर नहीं देते। इससे ज्ञानी के दृष्टिकोण का पता चलता है, उसके कोई सम्बन्ध नहीं होते, हस्ताक्षर करने के लिए कोई नाम भी नहीं होता। पत्रों के उत्तर आश्रम के कार्यालय में लिखे जाते हैं और मध्याह्नोत्तर श्रीभगवान् के पास भेज दिये जाते हैं। अगर पत्रों में कोई अनुपयुक्त बात होती है तो वह उसकी ओर संकेत कर देते हैं। अगर उत्तर में किसी विशेष या वैयक्तिक बात का उल्लेख आवश्यक होता है, तो वह इसकी ओर निर्देश कर देते हैं, परन्तु उनकी समस्त शिक्षा इतनी स्पष्ट है कि भक्त इसे सरलतापूर्वक शब्दशः दोहरा सकता है—शब्दों के पीछे निहित अनुग्रह ही श्रीभगवान् दे सकते हैं।

पत्रों के उत्तर के बाद, सभी लोग शान्तिपूर्वक बैठ जाते हैं, परन्तु इस मौन में तनाव नहीं होता; यह शान्ति से ओतप्रोत होता है। शायद कोई भक्त उनसे विदा लेने आया है, आश्रम परित्याग के विचार से अश्रुपूरित-लोचना कोई महिला उनके समीप खड़ी है और भगवान् के प्रकाशमान नेत्र शक्ति और प्रेम की वर्षा कर रहे हैं। उन नेत्रों का वर्णन हमारी शक्ति से परे है। उनकी ओर देखने से व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है, जैसे संसार का समस्त दुःख, व्यक्ति के सभी गत संघर्ष, मन की सभी समस्याएँ दूर हो जाती हैं और व्यक्ति परम शान्ति का अनुभव करने लगता है। शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं, उनका अनुग्रह व्यक्ति के हृदय को आन्दोलित कर देता है और इस प्रकार बाह्य गुरु व्यक्ति को अन्तर गुरु के ज्ञान की ओर प्रेरित करता है।

ग्यारह बजे मध्याह्न भोजन के लिए आश्रम का शंख बजता है। सब लोग उठ खड़े होते हैं और श्रीभगवान् सभा-भवन छोड़कर चले जाते हैं।

अगर कोई साधारण दिन होता है तो भक्तजन अपने घरों को चले जाते हैं। शायद यह कोई त्यौहार या किसी भक्त द्वारा भेंट या धन्यवाद के रूप में दी हुई भिक्षा का अवसर है और सभी को भोजन के लिए निमन्त्रित किया गया है।

सेवक और ब्राह्मण महिलाएँ पंक्तियों में बैठे हुए भक्तों को पत्तलों पर चावल, चटनी और सब्जी परोसते हैं। सभी व्यक्ति श्रीभगवान् द्वारा भोजन प्रारम्भ करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जब तक सबको भोजन नहीं परोस दिया जाता, श्रीभगवान् भोजन शुरू नहीं करते। सभी लोग दत्तचित्त होकर भोजन करते हैं; पश्चिम की तरह, भोजन के समय वार्तालाप नहीं होता। एक अमरीकी महिला, जिनके लिए भारतीय रीति-रिवाजों का पालन करना कठिन है, अपने साथ एक चम्मच लायी है। एक सेवक इन महिला की पत्तल पर कुछ सब्जियाँ रखता है और उनसे कहता है कि श्रीभगवान् के आदेशानुसार, यह विशेष रूप से तैयार की गयी हैं और इनमें गरम मसाले नहीं डाले गये जैसे कि सामान्यतः डाले जाते हैं। शेष सब लोग हाथों से भोजन खाने में निमग्न हैं। सेवक पंक्तियों के बीच में चलते हैं और पानी, छाछ, फल या मिठाई बाँटते हैं। श्रीभगवान् बड़े क्रोध से एक सेवक को वापस अपने पास बुलाते हैं। जब कोई व्यक्ति असावधानी बरतता है तो उन्हें क्रोध आ जाता है। सेवक हर पत्तल पर चौथाई आम रख रहा है और उनकी पत्तल पर उसने आधा आम रख दिया है। वह इसे वापस रख देते हैं और सबसे छोटा टुकड़ा उठा लेते हैं।

एक-एक करके सब लोग खाना समाप्त कर लेते हैं। जैसे-जैसे कोई खाना समाप्त करता जाता है वैसे-वैसे वह उठता जाता है और घर जाने से पहले बाहर टोंटी पर हाथ धोने के लिए रुकता है।

दो बजे तक श्रीभगवान् विश्राम करते हैं और सभा-भवन भक्तों के लिए बन्द कर दिया जाता है। आश्रम के प्रबन्धकों ने निर्णय किया था कि उनके क्षीण स्वास्थ्य के कारण मध्याह्न विश्राम आवश्यक है, परन्तु यह कैसे हो। अगर उनसे कोई ऐसी सुविधा स्वीकार करने के लिए कहा जाता जिससे भक्तों को असुविधा होती तो वह सम्भवतः इसका विरोध कर देते। यह खतरा मोल न लेकर उन्होंने अनधिकृत रूप से यह परिवर्तन करने का निर्णय किया और भक्तों ने निजी रूप से प्रार्थना की कि वह उस समय सभा-भवन में प्रवेश न किया करें। कुछ दिन तक तो यह प्रबन्ध ठीक से चलता रहा। एक दिन का जिक्र है नवागन्तुक जो इस नियम से परिचित नहीं था, मध्याह्न भोजन के बाद अन्दर चला गया। एक सेवक ने उससे बाहर आने का संकेत किया परन्तु श्रीभगवान् ने उसे वापस बुला लिया और पूछा क्या बात है। अगले दिन

मध्याह्न भोजन के बाद श्रीभगवान् को सभा-भवन के बाहर सीढ़ियों पर बैठे हुए देखा गया और जब सेवक ने उनसे इस सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा, "ऐसा लगता है कि दो बजे तक किसी को सभा-भवन में नहीं आने दिया जाता।" बड़ी कठिनाई से श्रीभगवान् को विश्राम के लिए मनाया गया।

मध्याह्नोत्तर सभा-भवन में नये चेहरे दिखायी देते हैं क्योंकि बहुत कम भक्त सारा दिन वहाँ बैठते हैं। जो लोग आश्रम के निकट रहते हैं उन्हें भी प्रायः गृहस्थी के या अन्य कार्य सम्पन्न करने होते हैं और कइयों को कुछ निश्चित समय के लिए कार्य पर जाना पड़ता है।

श्रीभगवान् प्रश्नों का उत्तर देने के अतिरिक्त, कभी भी सिद्धान्त के सम्बन्ध में बात नहीं करते या बहुत कम बात करते हैं। और जब वह प्रश्नों का उत्तर देते हैं तो वह धर्माध्यक्षों की-सी गम्भीरता में नहीं, अपितु वार्तालाप के रूप में प्रायः हास-परिहास के साथ उत्तर देते हैं। चूँकि वह ऐसा कहते हैं, इसलिए यह जरूरी नहीं कि प्रश्नकर्ता उसे स्वीकार कर ले; जब तक वह पूरी तरह आश्वस्त न हो जाये, वह उनसे विचार-विमर्श कर सकता है। एक थियोसाफिस्ट श्रीभगवान् से प्रश्न करता है कि क्या वह अदृश्य शिक्षकों की खोज को स्वीकृति प्रदान करते हैं। वह व्यंग्य करते हुए कहते हैं, "अगर वह अदृश्य हैं तो आप कैसे उन्हें देख सकते हैं?" थियोसाफिस्ट का उत्तर है, "चेतनता में।" इस पर श्रीभगवान् कहते हैं, "चेतनता में कोई भेदभाव नहीं होता।"

एक दूसरे आश्रम का व्यक्ति प्रश्न करता है, "क्या मेरा यह कथन ठीक है कि अन्तर केवल यह है कि आप संसार को वास्तविक नहीं समझते जबकि हम इसे वास्तविक समझते हैं।"

श्रीभगवान् विवाद से बचने के लिए परिहास करते हुए कहते हैं, "इसके विरुद्ध, चूँकि हम कहते हैं सत्ता एक है, हम संसार को पूर्ण वास्तविकता प्रदान करते हैं, और सबसे बड़ी बात यह है कि हम भगवान् को पूर्ण वास्तविकता प्रदान करते हैं; परन्तु यह कहकर कि सत्ताएँ तीन हैं, आप संसार को केवल एक-तिहाई वास्तविकता प्रदान करते हैं और भगवान् को भी एक-तिहाई।"

हर कोई इस हँसी में सम्मिलित होता है परन्तु इसके बावजूद कई भक्त आगन्तुक के साथ विवाद करने लगते हैं और फिर श्रीभगवान् कहते हैं, "इस प्रकार के वाद-विवादों से कोई बहुत लाभ नहीं होता।"

सिद्धान्तवादी और तार्किक दार्शनिक इस प्रकार के वाद-विवाद पसन्द करते हैं और लोगों को इस गलत विश्वास की ओर ले जाते हैं कि वह एक शिक्षक की शिक्षा का दूसरे शिक्षक की शिक्षा के साथ विरोध प्रकट कर रहे हैं, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। सिद्धान्त शिक्षा नहीं है बल्कि वह मानसिक

आधार है जहाँ से आध्यात्मिक शिक्षा का व्यावहारिक कार्य संचालित होता है और इसीलिए भिन्न तथा प्रत्यक्षत: संघर्षरत सिद्धान्त आध्यात्मिक मार्ग के विभिन्न रूपों के आधार बन सकते हैं। परन्तु यह सब एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं, उस लक्ष्य की ओर जो विचारातीत है और जिसका वर्णन शब्दों की शक्ति से परे है। आध्यात्मिक शिक्षक सैद्धान्तिक वाद-विवाद को प्रोत्साहन नहीं देता और इसकी सर्वथा उपेक्षा कर देता है। बुद्ध ने व्यर्थ के सैद्धान्तिक प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार कर दिया और कुरान व्यर्थ की मगजपच्ची के विरुद्ध चेतावनी देता है। बाद की पीढ़ियों में जब आध्यात्मिक अग्नि की ज्वाला मन्द पड़ जाती है, व्याख्याताओं को सिद्धान्त का मार्ग सरल दिखायी देता है। सिद्धान्त को वास्तविक शिक्षा बताकर वह बहुत हानि पहुँचाते हैं।

भगवान् के पुराने शिष्य बहुत कम प्रश्न पूछते हैं; कई तो बिलकुल ही नहीं पूछते। प्राय: नवागन्तुक ही प्रश्न करते हैं और उन्हें उनके उत्तर दिये जाते हैं। ये उत्तर शिक्षा नहीं हैं, ये तो केवल शिक्षा का साइनबोर्ड हैं।

अगर श्रीभगवान् से प्रश्न अंग्रेजी में किये जाते हैं तो वह एक दुभाषिये के माध्यम से उत्तर देते हैं। यद्यपि वह धाराप्रवाह अंग्रेजी नहीं बोल सकते वह सब कुछ समझते हैं। अगर कहीं थोड़ी-सी भी अशुद्धि होती है तो वह दुभाषिये को टोकते हैं।

यद्यपि श्रीभगवान् के उत्तर सैद्धान्तिक दृष्टि से एक जैसे होते हैं परन्तु प्रश्नकर्ता को दृष्टि में रखते हुए उनमें बहुत भेद होता है। एक ईसाई मिशनरी ने पूछा, "क्या भगवान् वैयक्तिक है ?" और श्रीभगवान् ने अद्वैत के सिद्धान्त के साथ समझौता किये बिना, उसके लिए उत्तर को सरल बनाने का प्रयास किया : "हाँ, वह सदा उत्तम पुरुष होता है, 'मैं' तुम से हमेशा पहले आता है। अगर आप सांसारिक वस्तुओं को महत्त्व देंगे, तो भगवान् पृष्ठभूमि में चला जायेगा, अगर आप अन्य सबका परित्याग कर देंगे और केवल उसी की खोज करेंगे, वही केवल मैं, आत्मा के रूप में विराजमान रहेगा।"

क्या मिशनरी को यह याद आया होगा कि यही नाम है जिसकी घोषणा भगवान् ने मूसा के माध्यम से की। श्रीभगवान् कभी-कभी 'मैं हूँ' की श्रेष्ठता का दिव्य नाम के रूप में प्रतिपादन किया करते थे।

पौने पाँच बजे हैं। श्रीभगवान् अपने कठोर घुटनों और टाँगों की मालिश करते हैं और डण्डे के लिए हाथ बढ़ाते हैं। कई बार उन्हें इसके लिए तख्त से दो या तीन बार उठना पड़ता है परन्तु वह किसी की सहायता स्वीकार नहीं करते। उनकी बीस मिनट की अनुपस्थिति के दौरान सभा-भवन में फिर सफाई की जाती है और तख्त पर चादरों को ठीक ढंग से रख दिया जाता है।

सभा-भवन में श्रीभगवान् के लौटने के दस या पन्द्रह मिनट बाद वेद-मन्त्रों का पाठ शुरू हो जाता है। उसके बाद उपदेश सारम्—श्रीभगवान् की 'तीस पदों में शिक्षा'—का पाठ प्रारम्भ होता है। वेद-मन्त्रों का पाठ लगभग पैंतीस मिनट तक चलता है। वेद-मन्त्रों के पाठ के समय प्रायः ऐसा होता है कि श्रीभगवान् शान्त होकर बैठ जाते हैं, उनका चेहरा शाश्वत, स्थिर और आभामय दृष्टिगोचर होता है मानो कोई प्रस्तर प्रतिमा हो। इसके बाद साढ़े छः बजे तक सब लोग बैठते हैं और इस समय महिलाओं का आश्रम से जाने का समय हो जाता है। कई पुरुष एक घण्टा और आश्रम में रुक जाते हैं, प्रायः वह मौन धारण किये रहते हैं, कभी-कभी बातें भी करते हैं, तमिल गीत भी गाते हैं। इसके बाद सायंकाल का भोजन होता है और भक्तजन विदा हो जाते हैं।

आश्रम का भी सायंकालीन सत्र विशेष महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि इसमें प्रातःकालीन मन्त्र पाठ की गम्भीरता के साथ-साथ मैत्रीपूर्ण वार्तालाप भी सम्मिलित होता है। परन्तु जो ज्ञानी हैं, उनके लिए सदैव गम्भीरता विद्यमान है, उस समय भी जबकि श्रीभगवान् हँस रहे होते हैं और हास-परिहास कर रहे होते हैं।

सेवक प्रलेप लेकर श्रीभगवान् की टाँगों की मालिश करने के लिए आता है परन्तु वह इसे उसके हाथ से ले लेते हैं। लोग बहुत उत्तेजित हो उठते हैं। परन्तु वह अपने निषेध को भी हास में परिवर्तित कर देते हैं, "आपने दर्शन और भाषण से अनुग्रह प्राप्त किया और अब आप स्पर्श द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना चाहते हैं। मुझे स्वयं स्पर्श द्वारा कुछ अनुग्रह प्राप्त कर लेने दीजिए।"

यह उनके परिहास की तुच्छ-सी प्रतिछवि है जिसे कागज पर अंकित किया जा सकता है। हास-परिहास और व्यंग्य में भी वह अपने विचार प्रकट करते हैं। अत्यन्त आकर्षक ढंग से जब वह कोई कहानी कहते थे, वह पूरे अभिनेता बन जाते थे और उसके पार्ट को इस प्रकार प्रस्तुत करते थे मानो वह स्वयं अभिनेता हों। जो लोग उनकी भाषा नहीं समझते थे, वह भी उनके इस अभिनय को देखकर अत्यन्त विस्मित हो उठते थे। वास्तविक जीवन का भी वह अभिनय करते थे और वास्तविक जीवन में भी हास-परिहास से गहन सहानुभूति की ओर परिवर्तन इतना ही शीघ्र होता था।

प्रारम्भिक दिनों में भी, जब उनके सम्बन्ध में ऐसा ख्याल किया जाता था कि वह प्रत्येक वस्तु के प्रति उदासीन हैं, उनमें हास-परिहास की प्रबल भावना विद्यमान थी। उन्होंने कई परिहासों के सम्बन्ध में तो बाद के वर्षों में बताया। एक बार का जिक्र है कि उनकी माँ और अन्य भक्तजन पवजहाकुनरू में श्रीभगवान् के दर्शनों के लिए आये। जब यह लोग नगर में भोजन के लिए

जाने लगे तो उन्होंने इस डर से कि कहीं वह भाग न जायें, बाहर से दरवाजे की चटखनी लगा दी। श्रीभगवान् यह जानते थे कि दरवाजे की चटखटी लगी होने के बावजूद, इसे उसके कब्जों से अलग करके खोला जा सकता है। इसलिए भीड़ और शोर से बचने के लिए जब सब लोग बाहर गये हुए थे, वह खिसक गये। वापस लौटने पर लोगों ने देखा कि दरवाजा बन्द है और चटखनी लगी है, परन्तु कमरा खाली है। बाद में, जब कोई वहाँ नहीं था, वह अन्दर आ गये। वह लोग श्रीभगवान् के सामने एक-दूसरे से इस बात की चर्चा करने लगे कि किस प्रकार वह बन्द दरवाजे से बाहर निकल गये और फिर सिद्धि के बल पर अन्दर आ गये। परन्तु उनके चेहरे पर जरा भी स्पन्दन नहीं हुआ। कुछ वर्षों बाद जब उन्होंने लोगों को यह कहानी सुनायी तो सारा सभा-भवन हँसी से गूंजने लगा।

बड़े वार्षिक त्यौहारों के सम्बन्ध में भी मैं यहाँ कुछ चर्चा कर दूँ। अधिकांश भक्त स्थायी रूप से तिरुवन्नामलाई में नहीं रह सकते थे और कभी-कभी ही वह वहाँ आ सकते थे। इसलिए सार्वजनिक अवकाश के दिनों में विशेषतः कार्तिकी, दीपावली, महापूजा (माता के स्वर्गारोहण का उत्सव) और जयन्ती (श्रीभगवान् का जन्मदिन) के अवसर पर वहाँ बहुत भीड़ रहा करती थी। इन सब त्यौहारों में जयन्ती सबसे बड़ा त्यौहार था और इसमें सबसे अधिक लोग भाग लेते थे। सर्वप्रथम वह जयन्ती समारोह मनाने के पक्ष में बिलकुल नहीं थे। उन्होंने निम्न पद की रचना की थी :

> तुम जो जन्म-दिन मनाना चाहते हो, अपने से पहले यह पूछो कि तुम्हारा जन्म कहाँ से हुआ है। व्यक्ति का सच्चा जन्म-दिन तब होता है जब वह उस शाश्वत सत्ता में प्रवेश करता है, जो जन्म और मृत्यु से परे है।
>
> कम से कम अपने जन्म-दिन के अवसर पर व्यक्ति को इस संसार में प्रवेश के सम्बन्ध में शोक मनाना चाहिए। जन्म-दिन के अवसर पर खुशियाँ मनाना ऐसे है जैसे शव को सजाने में खुशियाँ मनाना। अपनी आत्मा को पहचानना और उसमें लय होना सच्ची बुद्धिमत्ता है।

परन्तु भक्तों के लिए श्रीभगवान् का जन्म प्रसन्नता का कारण था और उन्हें जन्म-दिन मनाने की स्वीकृति देनी पड़ी। परन्तु उन्होंने जन्म-दिन के अवसर पर या किसी अन्य अवसर पर अपनी पूजा का निषेध कर दिया। उस दिन भीड़ का कुछ ठिकाना न था और सब लोग श्रीभगवान् के साथ खाना खाते थे। आश्रम के विशाल भोजन-कक्ष में भी सब लोग नहीं समा पाते थे, बाहर अहाते में बाँसों के सहारे ताड़ के पत्तों की छत बनायी जाती थी और सभी वहाँ बैठते थे। इस अवसर पर गरीबों को भी खाना खिलाया जाता था, कई बार तो वह दो या तीन पारियों में खाने के लिए आते थे। पुलिस और

बाल-स्काउट प्रवेश-द्वारों पर खड़े हो जाते थे और लोग भीड़ पर नियन्त्रण रखते थे।

इस प्रकार के समारोहों के अवसर पर श्रीभगवान् सबसे अलग भव्य मुद्रा में बैठ जाते। परन्तु प्रत्येक पुराने भक्त की ओर वह अत्यन्त आत्मीयता की दृष्टि से देखते जाते थे। एक बार का जिक्र है कि कार्तिकेय त्यौहार के अवसर पर सारे आश्रम में बहुत भीड़ इकट्ठी हो गयी। भीड़ पर नियन्त्रण रखने के लिए श्रीभगवान् के चारों ओर जंगला लगा दिया गया। परन्तु एक छोटा-सा लड़का सींखचों को पार करके अन्दर चला आया और दौड़कर श्रीभगवान् के पास पहुँच गया। वह उन्हें अपना नया खिलौना दिखाने लगा। इस पर उन्होंने सेवक से हँसते हुए कहा, "देखो, तुम्हारा जंगला कितना कारगर है !"

सितम्बर, १९४६ में, तिरुवन्नामलाई में श्रीभगवान् के आगमन का ५०वाँ त्यौहार बड़े समारोह से मनाया गया था। यहाँ दूर-दूर से भक्तजन एकत्रित हुए थे। इस अवसर पर एक 'जयन्ती समारोह स्मृति चिह्न' प्रकाशित किया गया था जिसमें इस अवसर के लिए लिखित अनेक लेख और कविताएँ थीं।

अन्तिम वर्षों में दर्शनार्थियों की संख्या में वृद्धि के कारण, सामान्य दिनों में भी पुराने सभा-भवन में सब लोग नहीं समा सकते थे। इसलिए प्रायः श्रीभगवान् बाहर ताड़ के पत्तों की छत के नीचे बैठते थे। सन् १९३९ में माता की समाधि पर एक मन्दिर का निर्माण-कार्य प्रारम्भ हो गया था। यह मन्दिर सन् १९४९ में बनकर तैयार हो गया। इसके साथ ही श्रीभगवान् और भक्तों के बैठने के लिए एक नये सभा-भवन का निर्माण हुआ। वह शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार परम्परागत मन्दिर निर्माताओं द्वारा निर्मित एक भवन के दो भाग थे।

एक भवन पुराने सभा-भवन और कार्यालय के दक्षिण में, उनके और सड़क के बीच स्थित है। पुराने सभा-भवन के दक्षिण में, इसका पश्चिमी आधा भाग मन्दिर है, पूर्वी आधा भाग एक विशाल, वर्गाकार और हवादार भवन है जहाँ श्रीभगवान् भक्तों के साथ बैठते थे।

कुम्भाभिषेकम् या मन्दिर और सभा-भवन के उद्घाटन का समारोह अत्यन्त भव्य समारोह था। इसमें अनेक भक्तजन सम्मिलित हुए थे। इनके निर्माण के पीछे वर्षों का प्रयास और आयोजन था। श्रीभगवान् नये सभा-भवन में प्रवेश नहीं करना चाहते थे। वह सादगी पसन्द करते थे और किसी प्रकार की धूमधाम अपने सम्बन्ध में नहीं चाहते थे। बहुत-से भक्त भी नये सभा-भवन में नहीं जाना चाहते थे। पुराना सभा-भवन उनकी उपस्थिति से जीवन्त था और नया सभा-भवन उसकी तुलना में निर्जीव मालूम देता था। जब उन्होंने इस नये सभा-भवन में प्रवेश किया तब अन्तिम बीमारी ने उनके शरीर पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया था।

चौदहवाँ अध्याय

उपदेश

श्रीभगवान् का उपदेश अत्यन्त गुह्य था। यद्यपि सभी व्यक्ति समान रूप से उनके पास पहुँच सकते थे, प्रश्न सामान्यतः पूछे जाते और सार्वजनिक रूप से उनके उत्तर दिये जाते तथापि प्रत्येक शिष्य के प्रति उनका मार्गदर्शन पूर्णतः प्रत्यक्ष और उसके चरित्र के अनुरूप होता था। एक बार स्वामी योगानन्द जी ने, जिनके अमरीका में अनेक अनुयायी थे, श्रीभगवान् से पूछा कि लोगों को उनके उद्धार के लिए कौन-सी आध्यात्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए। उत्तर में श्रीभगवान् ने कहा, "यह व्यक्ति के स्वभाव और आध्यात्मिक परिपक्वता पर निर्भर करता है। कोई सर्वसामान्य शिक्षा नहीं हो सकती।" पूर्व-निर्देशित चार भक्तों—अचम्माल, माँ शिवप्रकाशम् पिल्लई और नटेश मुदालियर—की कथाओं के पुनःस्मरण से हमें पता चल जायेगा कि श्रीभगवान् की शिक्षा चारों के लिए कितनी भिन्न थी।

श्रीभगवान् अत्यन्त क्रियाशील थे—उन्होंने स्वयं ऐसा कहा है, हालाँकि उनके अनुग्रह का अनुभव करने वालों को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है—परन्तु उनकी क्रियाशीलता इतनी गुप्त थी कि आकस्मिक दर्शक और वह व्यक्ति जो सूक्ष्म निरीक्षण नहीं कर सकते थे, ऐसा विश्वास करते थे कि श्रीभगवान् बिलकुल भी उपदेश नहीं देते थे या वह जिज्ञासुओं की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन थे। ऐसे बहुत-से व्यक्ति थे। जैसे कि वह ब्राह्मण जिसने नटेश मुदालियर को श्रीभगवान् के दर्शनों से रोका था।

इस प्रश्न की सर्वाधिक महत्ता इस तथ्य में निहित है कि (श्रीभगवान् जैसे विरले उदाहरणों को छोड़कर) साक्षात्कार केवल गुरु की कृपा से ही सम्भव है। अन्य शिक्षकों की तरह श्रीभगवान् का यह दृढ़ मत था। इसलिए साधक के लिए यह जानना ही पर्याप्त नहीं था कि उनकी शिक्षा श्रेष्ठ है और उनकी उपस्थिति स्फूर्तिदायिनी है; अपितु यह भी जानना आवश्यक था कि वह दीक्षा और उपदेश देने वाले गुरु हैं।

'गुरु' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है। इसका अर्थ ऐसे व्यक्ति से हो सकता है जिसने यद्यपि आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त नहीं की तथापि जिसे (पादरी की दीक्षा की तरह) दीक्षा और उपदेश देने का अधिकार है।

वह प्रायः उत्तराधिकार से गुरु होता है और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए पारिवारिक चिकित्सक के सदृश होता है। दूसरे, गुरु वह भी हो सकता है, जिसे उत्तराधिकारी गुरु होने के अतिरिक्त कुछ आध्यात्मिक सिद्धि भी प्राप्त हो और जिस उच्च स्थिति तक वह स्वयं पहुँचा है, वहाँ तक ओजस्वी उपदेश द्वारा (हालाँकि वास्तविक क्रियाएँ वही हो सकती हैं) शिष्यों का मार्गदर्शन कर सके। परन्तु शब्द के सर्वोच्च और सच्चे अर्थ में, गुरु वह है जिसने विश्वात्मा के साथ एकरूपता अनुभव कर ली है। यही सत्-गुरु है।

इसी अन्तिम अर्थ में श्रीभगवान् गुरु शब्द का प्रयोग किया करते थे। इसीलिए वह कहा करते थे, "भगवान, गुरु और आत्मा एक है।" गुरु का वर्णन करते हुए उन्होंने (आध्यात्मिक शिक्षा में) कहा है :

> "गुरु वह है जो सदा आत्मा की गहराई में रहता है। वह अपने और दूसरों के बीच कभी कोई भेद नहीं देखता। वह भेद की असत्य धारणाओं से पूर्णतः मुक्त होता है अर्थात् वह स्वयं ज्ञानी या मुक्त है जब कि उसके चारों ओर के लोग बन्धन या अज्ञान के अन्धकार से ग्रस्त हैं। किसी भी परिस्थिति में उसकी दृढ़ता या आत्म-स्वामित्व के भाव को आन्दोलित नहीं किया जा सकता और वह कभी विक्षुब्ध नहीं होता।"

इस गुरु के प्रति आत्मसमर्पण अपने से बाहर किसी व्यक्ति के प्रति आत्मसमर्पण नहीं बल्कि बाह्यतः अभिव्यक्त आत्मा के प्रति समर्पण है ताकि व्यक्ति अपने अन्तर की आत्मा को खोज सके। "स्वामी अन्दर है। चिन्ता का अभिप्राय इस अज्ञान को दूर करना है कि वह केवल बाहर है। अगर वह कोई अजनबी होता, जिसकी आप प्रतीक्षा कर रहे होते तो वह निश्चित ही लुप्त हो जाता। इस प्रकार की अस्थायी सत्ता का क्या लाभ? परन्तु जब तक आप यह सोचते हैं कि आप पृथक हैं या आप शरीर हैं, तब तक बाह्य स्वामी भी आवश्यक है और वह मानो शरीरधारी के रूप में प्रकट होगा। जब व्यक्ति शरीर के साथ गलत एकरूपता को अनुभव करना बन्द कर देता है तब उसे आत्मा ही स्वामी दिखायी देती है।"

यह स्वतःसिद्ध है कि जिस व्यक्ति ने निरपेक्ष सत्ता के साथ अपनी एकरूपता अनुभव कर ली है और जो इस सर्वोच्च अर्थ में गुरु है, वह ऐसा नहीं कहता क्योंकि इस एकरूपता की पुष्टि के लिए उसका अहं ही नहीं रहता। वह यह भी नहीं कहता कि उसके शिष्य हैं क्योंकि अन्यत्व से दूर होने के कारण, उसके लिए कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यद्यपि ज्ञानी निरपेक्ष सत्ता के साथ एकरूप होता है, उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में, उसके चरित्र की विशेषताएँ बाह्य रूप से बनी रहती हैं,

इसीलिए एक ज्ञानी की मानवीय विशेषताएँ दूसरे से सर्वथा भिन्न हो सकती हैं। श्रीभगवान् की एक विशेषता उनकी विलक्षणता और सूक्ष्मदर्शिता थी। इसमें कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता कि जैसे उन्होंने विक्षोभ से बचने के लिए तिरुवन्नामलाई में अपने प्रारम्भिक वर्षों में अपने को मौनी कहा जाना स्वीकार किया वैसे ही उन्होंने एकरूपता का आग्रह करने या सम्बन्ध स्वीकार करने की सैद्धान्तिक असम्भवता का लाभ उठाया ताकि वह ऐसे लोगों की जो उनके वास्तविक भक्त नहीं थे, उपदेश की अनुचित माँगों से बच सकें। यह बड़ी अद्भुत बात है कि उनकी प्रतिरक्षा कितनी सफल थी, इससे वास्तविक भक्त नहीं छले जाते थे और न ही उन्हें छलने का कोई इरादा था।

आओ, श्रीभगवान् के वक्तव्यों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करें। वह कभी-कभी कहते थे कि उनके कोई शिष्य नहीं हैं। उन्होंने कभी यह स्पष्टतः नहीं कहा कि वह गुरु थे; हालाँकि वह गुरु का प्रयोग ज्ञानी के अर्थ में करते थे और इस तरीके से करते थे जिससे यह सन्देह न रह जाये कि वह गुरु थे। वह कई बार 'रमण सद्गुरु' के गीत में सम्मिलित होते थे।

इसके अतिरिक्त जब कोई भक्त वस्तुतः व्यथित होता था और समाधान की खोज कर रहा होता था वह उसे इस ढंग से विश्वास दिलाते थे कि सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती थी। श्रीभगवान् के एक अंग्रेज शिष्य मेजर चैडविक ने सन् १९४० में श्रीभगवान् द्वारा दिये गये आश्वासन का लिखित प्रमाण रखा था :

चैडविक : भगवान् का कहना है, उनके कोई शिष्य नहीं हैं।

भगवान् : हाँ।

चैडविक : वह यह भी कहते हैं कि अगर कोई व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए गुरु आवश्यक है।

भगवान् : हाँ।

चैडविक : फिर मुझे क्या करना चाहिए ? क्या इतने वर्षों तक मेरा आश्रम में रहना व्यर्थ गया ? तो क्या फिर मैं दीक्षा के लिए किसी और गुरु की तलाश में जाऊँ, क्योंकि भगवान् कहते हैं कि वह गुरु नहीं हैं।

भगवान् : इतनी दूर से यहाँ आने और इतनी देर तक यहाँ रहने का आप क्या कारण समझते हैं ? आप सन्देह क्यों करते हैं ? अगर कहीं अन्यत्र गुरु ढूंढ़ने की आवश्यकता होती तो आप बहुत पहले ही यहाँ से चले गये होते।

गुरु या ज्ञानी अपने में और दूसरों में कोई अन्तर नहीं देखता। उसके लिए सभी ज्ञानी हैं, सभी उसके साथ एकरूप हैं, इसलिए ज्ञानी यह किस प्रकार कह सकता है कि अमुक व्यक्ति उसका शिष्य है। परन्तु जो मुक्त नहीं है, वह सबको अनेकधा देखता है, वह सबको अपने से भिन्न रूप में देखता है, इसलिए

उसके लिए गुरु-शिष्य सम्बन्ध वास्तविकता है। उसे वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिए गुरु की कृपा की आवश्यकता होती है। उसके लिए दीक्षा के तीन प्रकार हैं—स्पर्श द्वारा, दर्शन द्वारा और मौन द्वारा। (श्रीभगवान् ने यहाँ मुझे संकेत किया कि उनका दीक्षा का तरीका मौन द्वारा दीक्षा देने का था, जैसे कि उन्होंने अन्य अनेक व्यक्तियों को अन्य अवसरों पर मौन-दीक्षा दी है)।

चैडविक : तो फिर भगवान् के शिष्य हैं !

भगवान् : जैसा कि भगवान् ने कहा, भगवान् के दृष्टि-बिन्दु से शिष्य नहीं हैं, परन्तु शिष्य के दृष्टि-बिन्दु से गुरु की कृपा समुद्र के सदृश है। अगर शिष्य एक प्याला लेकर आयेगा तो उसे केवल एक प्याला भर मिलेगा। समुद्र की कृपणता की शिकायत करना व्यर्थ है; जितना बड़ा पात्र होगा, उतनी ही अधिक वस्तु उसमें आयेगी। यह पूर्णतः शिष्य पर निर्भर करता है।

चैडविक : तब यह जानना कि भगवान् मेरे गुरु हैं या नहीं, केवल विश्वास का विषय है।

भगवान् : (सीधे होकर बैठते हुए, दुभाषिए की ओर मुँह करते हुए और बल देकर अपनी बात कहते हुए) उनसे पूछें, क्या वह यह चाहते हैं कि मैं उन्हें इस सम्बन्ध में दस्तावेज लिख कर दूँ।

जिस तरह मेजर चैडविक ने श्रीभगवान् के आश्वासन पर बल दिया, उस तरह का हठ करने वाले बहुत कम लोग थे। श्रीभगवान् ऐसा कोई वक्तव्य नहीं देते थे जिससे द्वित्व की स्वीकृति अभिव्यक्त हो, परन्तु साथ ही वह प्रज्ञावान और शुभेच्छु भक्तों को स्पष्टतः कहते थे कि वह उनके गुरु हैं और कई शाब्दिक पुष्टि के बिना भी इस तथ्य को जान जाते थे।

श्री एस० एस० कोहेन के कथनानुसार, एक बंगाली उद्योगपति श्री ए० बोस ने श्रीभगवान् से एक यथार्थ वक्तव्य लेने का प्रयास किया। उन्होंने कहा, "मुझे विश्वास है कि साधक के प्रयासों की सफलता के लिए गुरु आवश्यक है।" फिर उन्होंने परिहास करते हुए कहा, "क्या भगवान् को हमारा खयाल है ?"

परन्तु श्रीभगवान् ने उन्हें ही उत्तरदायी ठहराते हुए कहा, "आपके लिए अभ्यास आवश्यक है; कृपा तो सदा ही रहती है।" थोड़ी देर मौन रहने के बाद श्रीभगवान् ने कहा, "आप पानी में गर्दन तक डूबे हुए हैं और फिर भी आप चिल्ला रहे हैं कि आप प्यासे हैं।"

अभ्यास का भी वस्तुतः यही अभिप्राय था कि व्यक्ति कृपा के लिए ग्रहणशील बने। श्रीभगवान् कभी-कभी सूर्य का उदाहरण देते हुए कहते थे कि यद्यपि सूर्य चमक रहा है तथापि अगर आप इसे देखना चाहते हैं तो आपको

इसकी ओर देखने के लिए प्रयास करना होगा। प्रो० वेंकटरमैया ने अपनी डायरी में लिखा है कि श्रीभगवान् ने एक अंग्रेज दर्शनार्थी श्रीमती पिग्गोट से कहा था, "शिक्षाओं, भाषणों, चिन्तन आदि की अपेक्षा गुरु की कृपा आत्म-साक्षात्कार के लिए अधिक आवश्यक है, यह सब गौण कारण हैं। मुख्य और सारभूत कारण तो वह है।"

कुछ व्यक्तियों ने जो उनकी शिक्षाओं से अप्रत्यक्षतः अवगत थे, यह सुझाव दिया कि श्रीभगवान् गुरु धारण करना आवश्यक नहीं समझते थे। इस प्रकार उन्होंने गुरु द्वारा दीक्षा की आवश्यकता नहीं समझी। परन्तु श्रीभगवान् ने आश्रम के इस सुझाव का स्पष्टतः विरोध किया। श्री एस० एस० कोहेन ने श्री अरविन्द आश्रम के प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री दिलीपकुमार राय के साथ इस विषय पर श्रीभगवान् के वार्तालाप का संग्रह किया है :

दिलीप : कुछ लोगों का कहना है कि महर्षि गुरु की आवश्यकता नहीं समझते। दूसरे इसके विपरीत कहते हैं। महर्षि की क्या सम्मति है ?

भगवान् : मैंने यह कभी नहीं कहा कि गुरु की कोई आवश्यकता नहीं।

दिलीप : श्री अरविन्द प्रायः यह कहते हैं कि आपका कोई गुरु नहीं है।

भगवान् : यह इस पर निर्भर करता है कि आप किसे गुरु कहते हैं। आवश्यक नहीं कि गुरु मानवीय रूप में हो। दत्तात्रेय के चौबीस गुरु—तत्त्व आदि थे। इसका अभिप्राय यह है कि संसार में प्रत्येक रूप उसका गुरु था। गुरु नितान्त आवश्यक है। उपनिषदों का कथन है कि गुरु के अतिरिक्त अन्य कोई भी मनुष्य को मानसिक और इन्द्रिय ज्ञान के जंगल से पार नहीं करा सकता। इसलिए गुरु का होना अत्यन्त आवश्यक है।

दिलीप : मेरा अभिप्राय मानव गुरु से है। महर्षि के कोई मानव-गुरु नहीं थे।

भगवान् : शायद किसी समय मेरे भी मानव-गुरु रहे हों। क्या मैंने अरुणाचल की प्रशस्ति में गीत नहीं गाये ? गुरु क्या है ? गुरु भगवान् या आत्मा है। पहले व्यक्ति भगवान् से अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है, फिर एक समय ऐसा आता है जब वह इच्छापूर्ति के लिए नहीं अपितु स्वयं भगवान् के लिए प्रार्थना करता है। इस प्रकार भगवान्, व्यक्ति की प्रार्थना के उत्तर में गुरु के रूप में उसका मार्गदर्शन करने के लिए, मानवीय या अमानवीय किसी न किसी रूप में प्रकट होता है।

एक बार किसी दर्शनार्थी ने कहा कि स्वयं श्रीभगवान् का कोई गुरु नहीं था। इस पर उन्होंने कहा कि यह आवश्यक नहीं कि गुरु मानव रूप में ही हो, परन्तु ऐसा बहुत कम देखने में आता है।

शायद श्री वी० वेंकटरमण के साथ वार्तालाप के दौरान उन्होंने यह

स्पष्टतः स्वीकार किया था कि वे गुरु हैं। उन्होंने एक बार उनसे कहा था, "दो बातें आपको करनी हैं, प्रथम तो अपने से बाहर गुरु की खोज करना और फिर अन्दर गुरु की खोज करना। पहली खोज आपने पहले ही कर ली है।"

परन्तु जिस प्रकार उन्होंने मेरे वक्तव्य की स्वीकृति द्वारा गुरु की पुष्टि की, वह अधिक स्पष्ट थी। आश्रम में कुछ सप्ताह रहने के बाद मैंने देखा कि श्रीभगवान् वस्तुतः गुरु हैं और वह लोगों को दीक्षा देते तथा उनका मार्गदर्शन करते हैं। मैंने यूरोप के अपने मित्रों को इस सम्बन्ध में पत्र लिखकर सूचित किया। पत्र भेजने से पहले इसे श्रीभगवान् को दिखाया और उनकी अनुमति माँगी। उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी और पत्र मुझे लौटाते हुए कहा, "आप यह पत्र भेज दें।"

गुरु होने का अभिप्राय है दीक्षा और उपदेश देना। ये दोनों अविभाज्य हैं। दीक्षा के प्रारम्भिक कार्य के बिना उपदेश नहीं होता और दीक्षा का तब तक कोई अभिप्राय नहीं जब तक कि इसके बाद उपदेश न दिया जाये। इसलिए कभी-कभी प्रश्न यह रूप धारण कर लेता था, श्रीभगवान् उपदेश देते हैं या दीक्षा।

जब श्रीभगवान् से यह प्रश्न किया जाता कि क्या वह दीक्षा देते हैं, तब वह इस प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं देते थे। अगर उत्तर 'न' में होता तो वह निश्चय ही 'न' कह देते। परन्तु अगर 'हाँ' कहते तो दीक्षा के लिए अनुचित माँगों से बचाव कैसे होता और कुछ माँगों की स्वीकृति तथा अन्यों का निषेध आवश्यक हो जाता। इस प्रकार व्यक्तियों को स्वयं निर्णय न करने देकर श्रीभगवान् का यह निर्णय स्वच्छन्द प्रतीत होता। उनका उत्तर देने का सर्व-सामान्य रूप मेजर चैडविक को दिये गये उत्तर में देखा जा सकता है। "दीक्षा के तीन प्रकार हैं : स्पर्श द्वारा, दर्शन द्वारा और मौन द्वारा।" श्रीभगवान् प्रायः एक अवैयक्तिक सैद्धान्तिक वक्तव्य दिया करते थे, जिसमें विशिष्ट प्रश्न का उत्तर निहित होता था। यह वक्तव्य सर्वविदित है, हिन्दुओं के अनुसार दीक्षा के तीन प्रकार एक पक्षी, मछली और कछुए के उदाहरण से स्पष्ट किये जाते हैं। पक्षी अपने अण्डों को सेने के लिए उन पर बैठता है, मछली को केवल उनकी ओर देखना भर पड़ता है और कछुए को केवल उनका ध्यान करना पड़ता है। दर्शन या मौन द्वारा दीक्षा इस युग में अत्यन्त दुर्लभ हो गयी है; यह अरुणाचल की, दक्षिणामूर्ति की मौन दीक्षा है और दीक्षा की यह पुकार श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट आत्म-अन्वेषण के प्रत्यक्ष मार्ग के विशेषतः अनुरूप है। इसीलिए यह आन्तरिक रूप से और एक सुविधाजनक कवच के रूप में उपयोगी है।

दर्शन द्वारा दीक्षा वास्तविक चीज थी। श्रीभगवान् भक्त की ओर मुख

करके स्थिर और एकाग्र दृष्टि से देखते, उनके नेत्रों की ज्योति और भक्ति भक्त की विचार-प्रक्रिया को भेदकर उसके अन्तर्तम में प्रवेश कर जाती। कई बार ऐसे लगता जैसे कोई विद्युत-धारा किसी में प्रवेश कर रही हो या विस्तृत शान्ति या प्रकाशपुंज प्रवेश कर रहे हों। एक भक्त ने इस प्रकार वर्णन किया है : "एकाएक भगवान् ने अपने देदीप्यमान और पारदर्शी नेत्र मेरी ओर किये। इससे पहले मैं देर तक उनकी ओर नहीं देख सकता था। अब न जाने कितनी देर तक मैं उन विकट और आश्चर्यमय नेत्रों की ओर सीधे देखता रहा। उन्होंने मुझे एक प्रकार के स्पन्दन में जकड़ लिया जिसे मैं स्पष्टतः सुन सकता था।" इसके बाद भक्त के हृदय में सदा उदात्त भावना का और अजेय विश्वास का प्रादुर्भाव होता था कि भगवान् ने उसे अपनी शरण में ले लिया है, अब से वह ही उसके संरक्षक और मार्गदर्शक हैं। जो व्यक्ति इस तथ्य से परिचित थे वह यह जान जाते थे कि इस प्रकार की दीक्षा कब घटित होती है, परन्तु यह सामान्यतः गुप्त रूप से होती। यह वेद मन्त्रोच्चारण के समय हो सकती थी जब बहुत कम लोग देख रहे होते थे या सूर्योदय से पूर्व या उस समय जब उनके निकट कोई व्यक्ति न होता या थोड़े व्यक्ति होते, भक्त के मन में श्रीभगवान् के निकट जाने की प्रेरणा होती। मौन द्वारा दीक्षा भी इतनी वास्तविक थी। यह उन भक्तों के हृदय में प्रवेश करती थी जो तिरुवन्नामलाई में शारीरिक रूप से जाने में असमर्थ होकर अपने हृदयों में भगवान् की ओर अन्तर्मुख होते थे। कई बार यह दीक्षा स्वप्न में दी जाती, जैसे कि नटेश मुदालियर को दी गयी थी।

एक बार भक्त को अपनी शरण में लेने और उसे मौन दीक्षा देने के बाद, अपने मार्गदर्शन और संरक्षण के सम्बन्ध में श्रीभगवान् से बढ़कर कोई भी शिक्षक अधिक कृतनिश्चय नहीं था। उन्होंने शिवप्रकाशम् पिल्लई को अपने व्याख्या ग्रन्थ में, जो बाद में 'हू एम आई' के नाम से प्रकाशित हुआ, इस प्रकार आश्वासन दिया था, "जिस व्यक्ति ने गुरु की कृपा प्राप्त कर ली, निस्सन्देह उसकी रक्षा की जायेगी, उसका कभी भी परित्याग नहीं किया जायेगा, जैसे कि जो शिकार चीते के पंजों में फँस जाता है, वह कभी भी नहीं बच पाता।"

एक डच भक्त श्री एल० हार्ट्ज ने, जो केवल थोड़ी अवधि के लिए आश्रम में ठहर सकते थे और शायद जिन्हें यह भय था कि आश्रम से जाने के बाद कहीं उनका संकल्प डिग न जाय, श्रीभगवान् से आश्वासन माँगा था। श्रीभगवान् ने उनसे कहा था, "अगर आप भगवान् को छोड़ भी देंगे, भगवान् आपको कभी नहीं छोड़ेंगे।

आश्वासन की असाधारण शक्ति और प्रत्यक्षता से प्रभावित दो अन्य

भक्तों—एक चैक कूटनीतिज्ञ और एक मुस्लिम प्रोफेसर—ने जब श्रीभगवान् से यह पूछा कि यह आश्वासन केवल हार्ट्ज पर लागू होता है या सभी भक्तों पर तो उन्हें श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "सभी पर।"

एक अन्य अवसर पर, जब एक भक्त ने अपने में कोई प्रगति न देखी तो वह अत्यन्त निराश हो गया और कहने लगा, "मुझे भय है कि अगर मेरी यही दशा रही तो मैं नर्क मैं चला जाऊँगा।" इस पर श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "अगर तुम नर्क में जाओगे, भगवान भी तुम्हारे पीछे जायेंगे और तुम्हें वापस ले आयेंगे।"

भक्त के जीवन की परिस्थितियों को गुरु इस प्रकार ढाल देते हैं, जिससे उसकी साधना पूर्ण हो। एक भक्त से श्रीभगवान् ने कहा था, "स्वामी हमारे अन्दर भी हैं और बाहर भी, वह तुम्हें अन्तर्मुख करने के लिए परिस्थितियाँ पैदा कर देता है और साथ ही आपके अन्तर को केन्द्राभिमुख होने के लिए तैयार करता है।"

अगर कोई ऐसा व्यक्ति जो हार्दिक भाव से श्रीभगवान् की ओर श्रद्धावनत नहीं होता था, उनसे यह पूछता कि क्या वे उपदेश देंगे तो वे रहस्यमय उत्तर दे देते या कोई उत्तर नहीं देते थे। दोनों ही अवस्थाओं में यह निषेधात्मक उत्तर समझा जाता। तथ्य तो यह है कि उनकी दीक्षा की तरह उनका उपदेश भी मौन होता था। मौन भाव से मन को अपेक्षित दिशा में मोड़ दिया जाता था। भक्त से ऐसी आशा की जाती थी कि वह यह सब कुछ समझ जायेगा। बहुत कम व्यक्तियों को शाब्दिक आश्वासन की आवश्यकता होती थी।

श्री वी० वेंकटरमण, जिनका पहले जिक्र आ चुका है, की कहानी से यह स्पष्ट हो जायेगा। अपने यौवन में वे श्री रामकृष्ण के परम भक्त थे, परन्तु उन्होंने एक जीवित जाग्रत देहधारी गुरु की आवश्यकता अनुभव की। इसलिए उन्होंने बड़ी उत्कण्ठा के साथ उनसे प्रार्थना करते हुए कहा, "स्वामिन्, मुझे एक जीवित गुरु प्रदान करो, जो कि आप जैसा ही पूर्ण हो।" इसके शीघ्र बाद उन्होंने श्रीरमण महर्षि के सम्बन्ध में सुना। महर्षि को पहाड़ी की तलहटी में स्थित आश्रम में आये हुए कुछ ही वर्ष हुए थे। वे उनके चरणों में फूलों की भेंट लेकर गये। जब वे सभा-भवन में पहुँचे, उस समय वहाँ अन्य कोई भी व्यक्ति उपस्थित नहीं था। श्रीभगवान् तख्त पर विश्राम कर रहे थे, उनके पीछे दीवार पर श्री रामकृष्ण का चित्र था, जिनसे वेंकटरमण ने प्रार्थना की थी। श्रीभगवान् ने फूलों की माला के टुकड़े-टुकड़े कर दिये; माला का एक टुकड़ा उन्होंने सेवक से चित्र पर और दूसरा मन्दिर के लिंग पर रखने के लिए कहा। वेंकटरमण को बड़ा हलकापन अनुभव हुआ। वह अपने गन्तव्य

पर पहुँच गये थे, उनका मनोरथ सिद्ध हो गया था। उन्होंने अपने आने का प्रयोजन कहा। श्रीभगवान् ने उनसे पूछा, "क्या आप दक्षिणामूर्ति के सम्बन्ध में जानते हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मैं यह जानता हूँ कि वे मौन उपदेश दिया करते थे।"

श्रीभगवान् ने कहा, "यहाँ भी आपको यही उपदेश मिलेगा।"

तथ्य तो यह है कि यह मौन उपदेश बहुत भिन्न था। श्रीभगवान् ने विचार या आत्म-अन्वेषण के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा और लिखा। इसलिए लोगों का ऐसा विचार था कि वह केवल उस ज्ञान मार्ग का उपदेश देते थे, जिसका पालन इस युग के अधिकांश लोगों के लिए अत्यन्त कठिन है। परन्तु तथ्य तो यह है कि उनका उपदेश सार्वलौकिक था। वह ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग दोनों द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का मार्गदर्शन करते थे। उनके लिए प्रेम और भक्ति मुक्ति के मार्ग में आने वाली खाई के पुल हैं। उनके अनेक शिष्य ऐसे थे जिनके लिए उन्होंने कोई अन्य मार्ग निर्धारित नहीं किया।

कुछ समय बाद कोई साधना का कार्य न दिये जाने के कारण यही वेंकटरमण व्यग्र हो उठे और उन्होंने शिकायत की।

भगवान् ने पूछा, "आपको कौन-सी चीज यहाँ खींचकर ले आयी?"

"स्वामी, आपका विचार।"

"तब यही आपकी साधना भी है। यही पर्याप्त है।"

वस्तुतः भगवान् का विचार या स्मृति सदा सर्वत्र वेंकटरमण के साथ रहने लगी; वह उनसे पृथक नहीं की जा सकती थी।

भक्ति का मार्ग भी वस्तुतः समर्पण का मार्ग है। सारा भार गुरु पर डाल दिया जाता है। भगवान का भी यही उपदेश था। एक भक्त से उन्होंने कहा था, "मेरे प्रति समर्पण कर दो और मैं तुम्हारे मन को शान्त कर दूँगा।" एक दूसरे भक्त के प्रति उनकी उक्ति थी, "आप केवल शान्त रहें। शेष सब कार्य भगवान् कर लेंगे।" उन्होंने अपने एक भक्त देवराज मुदालियर से कहा था, "आपका कार्य केवल समर्पण करना है, शेष सब आप मुझ पर छोड़ दें। वह प्रायः कहा करते थे, दो ही मार्ग हैं : या तो आप अपने से यह पूछें कि 'मैं कौन हूँ?' या गुरु के प्रति समर्पण कर दें।"

परन्तु समर्पण करना, मन को शान्त रखना, और गुरु की कृपा को पूर्णतः ग्रहण करना सरल नहीं है। इसके लिए निरन्तर प्रयास और स्मरण की आवश्यकता होती है। यह केवल गुरु की कृपा से ही सम्भव है। बहुत से भक्तों ने भक्ति मार्ग या अन्य साधनों का आश्रय लिया। श्रीभगवान् ने इसकी स्वीकृति दी और इस प्रकार के साधनों को उचित ठहराया, परन्तु उन्होंने स्वयं बहुत कम इन साधनों का निर्धारण किया।

सत्संग की शक्ति अत्यन्त प्रबल किन्तु अदृश्य है। इसका शाब्दिक अर्थ है, 'सत्ता के साथ संगति' परन्तु साधना के साधन रूप में इसका प्रयोग 'सत् या सत्ता का साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति के साथ संगति' के रूप में किया जाता है। श्रीभगवान् इसकी बहुत प्रशंसा किया करते थे। 'पूरक चालीस पदों' में से पहले पाँच पद इसकी प्रशंसा में हैं। इनके समावेश की कहानी अत्यन्त विलक्षण है। भगवान् की गोद ली हुई पुत्री अचम्माल को एक कागज पर, जिसमें मिठाई का एक पैकेट लिपटा हुआ था, एक श्लोक संस्कृत में लिखा हुआ दिखायी दिया। वह इस श्लोक से इतनी अधिक आन्दोलित हुई कि उसने इसे कण्ठस्थ कर लिया और श्रीभगवान् के सामने जाकर सुनाया। श्रीभगवान् ने इसका तमिल में अनुवाद कर दिया। उस समय वे चालीस पूरक पदों का संकलन कर रहे थे, कुछ वह लिख रहे थे और कुछ का अनुवाद कर रहे थे। उन्होंने इस श्लोक को संस्कृत से लिये गये चार अन्य श्लोकों के साथ सम्मिलित कर लिया। तीसरे पद में गुरु की संगति को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। "अगर सत्संगति का लाभ प्राप्त हो जाये तो आत्म-अनुशासन के विभिन्न उपाय व्यर्थ हैं। अगर शीतल, मन्द समीर बह रही हो तो पंखे का क्या लाभ ?"

भगवान् की संगति का सूक्ष्म प्रभाव अवश्य पड़ता था, भले ही यह वर्षों बाद दृष्टिगोचर हो। वह कभी-कभी स्पष्टतः भक्तों को इसके महत्त्व से परिचित कराते थे। तीसरे अध्याय में चर्चित अपने स्कूल के मित्र रंगा ऐय्यर से एक बार उन्होंने कहा था, "अगर आप ज्ञानी की संगति करेंगे तो वह आपको पूर्णरूपेण तैयार वस्त्र दे देगा।" इसका आशय यह था कि अन्य उपायों से आपको धागा मिलता है और आपको स्वयं बुनना पड़ता है।

सुन्दरेश ऐय्यर १२ वर्ष की आयु में ही श्रीभगवान् के भक्त बन गये थे। जब उनकी आयु लगभग १६ वर्ष की हुई वह अपने से असन्तुष्ट हो उठे। वह ऐसा अनुभव करने लगे कि साधना के लिए अधिक चेतन और गहन प्रयासों की आवश्यकता है। वह गृहस्थ थे और नगर में रहते थे, परन्तु प्रायः प्रतिदिन श्रीभगवान् का दर्शन करने आते। अब उन्होंने कठोर अनुशासन के रूप में यह निर्णय किया कि जब तक उनमें ऐसी आसक्ति और उद्देश्य के प्रति पूर्ण आस्था का भाव विकसित नहीं हो जायेगा जिससे कि वह श्रीभगवान् की संगति के पात्र सिद्ध हो सकें, तब तक वह उनके पास नहीं जायेंगे। सौ दिन तक वह श्रीभगवान् के पास नहीं गये और तब उनके मन में यह विचार आया, "श्रीभगवान् के दर्शनों से अपने को वंचित करके मेरा सुधार तो नहीं हो रहा।" इस विचार के उदय होते ही वह भगवान् के दर्शनों के लिए चल दिये। भगवान् उन्हें स्कन्दाश्रम के प्रवेश-द्वार पर मिले। उन्होंने उनका स्वागत

करते हुए पूछा, "क्या मेरे दर्शन न करके आपकी स्थिति पहले से बेहतर है ।" फिर उन्होंने उन्हें सत्संग के महत्त्व और प्रभाव से परिचित कराते हुए कहा कि यद्यपि शिष्य को इसका प्रभाव दिखायी नहीं देता और न ही अपने में कोई सुधार दिखायी देता है, फिर भी इसका प्रभाव अवश्यम्भावी है । उन्होंने इसकी तुलना रात्रि को नींद में अपने बच्चे को दूध पिलाने वाली माँ से करते हुए कहा कि अगले दिन बच्चा सोचता है कि उसने दूध नहीं पिया परन्तु माँ यह जानती है कि उसने दूध पिया है और वस्तुतः यही दूध उसका पोषण करता है ।

इस उदाहरण से यह पता चलता है कि सज्जनों की संगति से स्वतः लाभ से कुछ अधिक ही प्राप्त होता है । इसका आशय है सज्जन द्वारा प्रभाव को चेतन निर्देशन । एक अवसर पर भगवान् ने इसकी विलक्षण ढंग से पुष्टि की, हालाँकि जिन व्यक्तियों ने इसका अनुभव किया था, उन्हें इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी । सुन्दरेश ऐय्यर ने श्रीभगवान् की प्रशस्ति में एक तमिल गीत की रचना की जिसका भावार्थ यह था कि भक्तों की रक्षा के लिए श्रीभगवान् के नेत्रों से कृपा की धारा प्रवहमान हो रही है । परन्तु भगवान् ने इसका संशोधन करते हुए कहा, "प्रवाहित नहीं हो रही बल्कि उसकी ओर प्रक्षिप्त है क्योंकि यह एक चेतन प्रक्रिया है, जिसके द्वारा चुने हुए व्यक्तियों की ओर कृपा निर्देशित होती है ।"

गुरु की कृपा का पूर्ण भाजन बनने के लिए शिष्य को भी प्रयास करना पड़ता है । इसके लिए श्रीभगवान् ने जिस उपाय के अपनाने पर निरन्तर बल दिया वह था अपने से यह प्रश्न करना, "मैं कौन हूँ ?" हमारे युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्होंने इस साधना को प्रस्तुत किया । इसके सम्बन्ध में कोई रहस्य या गोपनीय बात नहीं थी । वह इसके महत्त्व और प्रभाविता के सम्बन्ध में बिलकुल सुनिश्चित थे । "अपनी अप्रतिबन्ध और निरपेक्ष सत्ता को अनुभव करने का, जो कि वस्तुतः आप हैं, एकमात्र अचूक और प्रत्यक्ष साधन आत्म-अन्वेषण है ।···आत्म-अन्वेषण के अतिरिक्त अन्य साधनाओं से अहं या मन को नष्ट करने का प्रयास ऐसे है जैसे चोर, चोर को जो कि वह स्वयं है, पकड़ने के लिए पुलिसमैन बन जाय । केवल आत्म-अन्वेषण ही इस सत्य को प्रकट कर सकता है कि न तो अहं की और न ही मन की वस्तुतः सत्ता है । यही आत्म-अन्वेषण ही व्यक्ति को आत्मा या निरपेक्ष सत्ता के शुद्ध और अभेद्य रूप का साक्षात्कार करने के योग्य बनाता है । आत्म-साक्षात्कार के बाद कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रहता, क्योंकि यह पूर्ण आनन्द है, यही सब कुछ है । (**महर्षीज गॉस्पल**, भाग दूसरा)

"आत्म-अन्वेषण का उद्देश्य सम्पूर्ण मन को इसके स्रोत पर केन्द्रित करना

है । इसलिए यह एक 'अहं' द्वारा दूसरे 'अहं' की खोज का मामला नहीं है ।" (वही)

सम्पूर्ण मन को इसके स्रोत पर केन्द्रित करना इसे स्वयं अपने पर अन्तराभिमुख करना है । यह मनोवैज्ञानिक अन्त:निरीक्षण नहीं है । यह मन के विश्लेषण करने का प्रयास नहीं है, बल्कि मन के पीछे विद्यमान उस आत्मा में निमग्न होना और उसे जगाना है, जिसके लिए मन परदे का काम करता है । श्रीभगवान् का भक्तों को उपदेश था कि चिन्तन करें और अपने से प्रश्न करें, 'मैं कौन हूँ ?' इसके साथ ही हृदय पर, छाती की बायीं ओर विद्यमान शारीरिक अंग पर नहीं बल्कि दाहिनी ओर विद्यमान आध्यात्मिक हृदय पर, ध्यान केन्द्रित करें । प्रश्नकर्त्ता की प्रकृति के अनुसार, श्रीभगवान् भौतिक या मानसिक पक्ष पर, हृदय पर ध्यान केन्द्रित करने पर या 'मैं कौन हूँ ?' इस प्रश्न पर बल देते थे ।

छाती की दायीं ओर विद्यमान आध्यात्मिक हृदय भौतिक चक्रों में से एक नहीं है; यह अहं का केन्द्र और स्रोत है और आत्मा का निवास है और इसलिए एकता का स्थान है । जब श्रीभगवान् से यह प्रश्न किया गया कि इस स्थान पर हृदय की स्थिति के लिए धर्म-ग्रन्थों का या अन्य कौन-सा प्रमाण है तो उन्होंने कहा कि उनका ऐसा निजी अनुभव है । बाद में आयुर्वेद सम्बन्धी एक मलयामल ग्रन्थ द्वारा भी उनके कथन की पुष्टि हुई ।[1] जिन व्यक्तियों ने उनके आदेशों का पालन किया है, उनका भी ऐसा अनुभव है । नीचे हम **महर्षीज गॉस्पल** से जिसमें श्रीभगवान् ने इसे विस्तार से समझाया है, एक वार्तालाप उद्धृत कर रहे हैं ।

भक्त : श्रीभगवान् ने भौतिक शरीर के अन्दर हृदय के एक विशेष स्थान की ओर निर्देश किया है, अर्थात् छाती के मध्य भाग से दाहिनी ओर दो अंगुल पर आध्यात्मिक हृदय है ।

भगवान् : हाँ सन्तों के प्रभाव के अनुसार, यह आध्यात्मिक अनुभव का केन्द्र है । यह आध्यात्मिक हृदय-केन्द्र, हृदय नाम से विख्यात रक्त का संचालन करने वाले पेशीय अंग से बिलकुल भिन्न है । आध्यात्मिक हृदय-केन्द्र शरीर का अंग नहीं है । आप हृदय के सम्बन्ध में यही कह सकते हैं कि यह आपके अस्तित्व का सार है, जिसके साथ आप वस्तुत: एक रूप हैं, चाहे आप जाग्रत अवस्था में हों, सुषुप्ति में हों या स्वप्नावस्था में हों, चाहे आप कार्य कर रहे हों या आप समाधि में लीन हों ।

---

[1] **बुद्धिमान व्यक्ति का हृदय उसके दाहिनी ओर और मूर्ख का बायीं ओर होता है ।**

भक्त : उस अवस्था में यह शरीर के किसी एक भाग में कैसे स्थानीकृत किया जा सकता है ? हृदय के लिए एक स्थान निश्चित करने का अर्थ यह होगा कि आप उस पर भौतिक सीमाएँ आरोपित कर दें जो समय और स्थान से परे हैं।

भगवान् : यह सत्य है, परन्तु जो व्यक्ति हृदय की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न करता है वह अपने को शरीर के साथ या शरीर में अस्तित्वमात्र मानता है। चूंकि शुद्ध चैतन्य के रूप में हृदय के अशरीरी अनुभव के दौरान, सन्त को अपने शरीर का तनिक भी ज्ञान नहीं होता, वह उस निरपेक्ष अनुभव को, अपने शरीर के ज्ञान के दौरान प्राप्त एक प्रकार की हृदयानुभूति स्मृति द्वारा भौतिक शरीर की सीमाओं के अन्दर स्थानीकृत कर लेता है।

भक्त : मुझ जैसे व्यक्तियों के लिए जिन्हें न तो हृदय का प्रत्यक्ष अनुभव है और न ही परिणामी स्मृति है, इस विषय को हृदयंगम करना कुछ कठिन प्रतीत होता है। स्वयं हृदय की स्थिति के सम्बन्ध में शायद हम किसी प्रकार के अनुमान पर निर्भर करते हैं।

भगवान् : अगर हृदय की स्थिति का निर्धारण अनुमान पर आधारित होता तो अज्ञानी के लिए भी यह विषय विचारणीय न होता। आपको अनुमान पर नहीं बल्कि निर्भ्रान्त स्फुरणा पर निर्भर करना पड़ता है।

भक्त : यह स्फुरणा किसे होती है ?

भगवान् : प्रत्येक व्यक्ति को।

भक्त : क्या भगवान् मुझे हृदय का स्फुरणात्मक ज्ञान प्रदान करेंगे ?

भगवान् : नहीं, हृदय का नहीं बल्कि आपके स्वरूप के सम्बन्ध में आपके हृदय की स्थिति का।

भक्त : क्या भगवान् का यह कहना है कि मैं स्फुरणात्मक रूप से भौतिक शरीर में हृदय की स्थिति को जानता हूँ ?

भगवान् : क्यों नहीं ?

भक्त : (अपनी ओर संकेत करते हुए) क्या श्रीभगवान् वैयक्तिक रूप से मेरी ओर संकेत कर रहे हैं ?

भगवान् : हाँ यही स्फुरणा है। अभी आपने संकेत से कैसे अपनी ओर निर्देश किया ? क्या आपने अपनी अँगुली अपनी छाती की ओर नहीं की ? यही ठीक हृदय-केन्द्र का स्थान है।

भक्त : तो क्या हृदय-केन्द्र के प्रत्यक्ष ज्ञान की अनुपस्थिति में मुझे इस स्फुरणा पर निर्भर रहना पड़ेगा ?

भगवान् : तो इसमें दोष क्या है ? जब एक स्कूल जाने वाला लड़का यह कहता है, "मैंने ही यह सवाल ठीक-ठीक निकाला है," या जब वह आपसे

पूछता है, "क्या मैं दौड़कर जाऊँ और आपके लिए पुस्तक ले आऊँ ?" तब वह क्या उस सिर की ओर संकेत करता है जिसने ठीक सवाल निकाला या वह उन टाँगों की ओर संकेत करता है, जो उसे पुस्तक लेने के लिए जल्दी से जल्दी ले जायेंगी ? नहीं, दोनों हालतों में उसकी अँगुली स्वभावतः छाती की दाहिनी ओर को उठ जाती है और इस प्रकार इस महान् सत्य की अभिव्यक्ति करती है कि उसमें मैं का स्रोत वही है। यह एक निभ्रान्त स्फुरणा है, जो इस प्रकार उसे स्वयं अपनी ओर, हृदय की ओर जो कि आत्मा है, निर्देश कराती है। यह कार्य बिलकुल अनैच्छिक और सार्वलौकिक है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में यह सत्य है। भौतिक शरीर में हृदय-केन्द्र की स्थिति के सम्बन्ध में इससे बड़ा प्रमाण आपको और क्या चाहिए ?

श्रीभगवान् यह उपदेश दिया करते थे कि व्यक्ति दाहिनी ओर हृदय पर ध्यान केन्द्रित करते हुए बैठे और अपने से यह पूछे कि 'मैं कौन हूँ ?' जब चिन्तन के समय विचार उत्पन्न हों तो व्यक्ति को उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए, अपितु उन्हें देखना चाहिए और पूछना चाहिए, "यह विचार क्या है ? यह कहाँ से आया ? और किसे आया ? मुझे—और मैं कौन हूँ ?' इस प्रकार आलोचना करने पर प्रत्येक विचार लुप्त हो जाता है और उस मूल 'मैं' के विचार की ओर अभिमुख होता है। अगर अशुद्ध विचार उत्पन्न हों, उनके साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। साधना भी वही कार्य करती है, जिसे करने का दावा मनोविश्लेषण करता है—यह अवचेतन में से अशुद्धता को स्वच्छ करता है, इसे दिन के प्रकाश में लाता है और इसका विनाश कर देता है।" हाँ, सभी प्रकार के विचार चिन्तन में पैदा होते हैं। यही केवल ठीक है, क्योंकि आप में जो कुछ गुप्त होता है, वह बाहर आ जाता है। जब तक यह ऊपर न आये, इसका किस प्रकार विनाश किया जा सकता है ?" **(महर्षीज गॉस्पल)**

इस प्रकार के चिन्तन के लिए सभी विचार-रूप विरोधी होते हैं। कभी-कभी कोई भक्त श्रीभगवान् से यह प्रश्न करता कि क्या वह आत्म-अन्वेषण के दौरान 'मैं वह हूँ' इस सूत्र का या किसी अन्य सूत्र का उपयोग कर सकता है, परन्तु वह हमेशा इसका निषेध करते थे। एक अवसर पर जब एक भक्त ने एक के बाद दूसरा सूत्र सुझाया तो उन्होंने कहा, "साक्षात्कार के साथ सभी विचार असंगत हैं। सही मार्ग तो यह है कि अपने और अन्य सभी विचारों को निष्कासित कर दो। विचार एक चीज है और साक्षात्कार बिल-कुल दूसरी।"

'मैं कौन हूँ', इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। इसका कोई उत्तर हो भी नहीं सकता। यह तो 'मैं' के विचार का विनाश करता है, जो कि सभी

अन्य विचारों का जनक है और उस शान्ति में प्रवेश करता है, जहाँ कोई विचार नहीं होता ।

"चिन्तन के दौरान, अन्वेषण के प्रबोधक उत्तर नहीं दिये जाने चाहिए जैसे 'शिवोऽहम्' (मैं शिव हूँ) । सच्चा उत्तर स्वयमेव आयेगा । अहं द्वारा दिया जाने वाला कोई उत्तर ठीक नहीं हो सकता ।" प्रथम अध्याय के अन्त में वर्णित आत्म-ज्ञान की धारा से यह उत्तर अद्भुत होता है, यह व्यक्ति की आत्मा को आन्दोलित करता है परन्तु फिर भी अवैयक्तिक होता है । निरन्तर अभ्यास से इसका पुनरावर्तन होता है और अन्त में एक स्थिति ऐसी आती है जबकि न केवल चिन्तन के दौरान बल्कि हमारी वाणी और क्रिया में भी यह निरन्तर विराजमान रहने लगता है फिर भी हमें विचार का प्रयोग करना है, क्योंकि अहं ज्ञान धारा के साथ सन्धि करने का प्रयास करेगा और अगर एक बार इसे सहन कर लिया जाय, तो यह धीरे-धीरे शक्तिशाली हो जायेगा और फिर उन गैर-यहूदियों की तरह जिन्हें यहूदियों ने स्वर्ग में रहने की आज्ञा दे दी थी, प्रभुत्व के लिए लड़ेगा । श्रीभगवान् बलपूर्वक कहा करते थे (उदाहरण के लिए, शिवप्रकाशम् पिल्लई को दिये गये अपने उत्तरों में) कि अन्वेषण अन्त तक जारी रहना चाहिए । जो भी स्थितियाँ, जो भी सिद्धियाँ, जो भी इन्द्रियानुभव या दर्शन हों, हमेशा यह प्रश्न रहता है कि यह किसे होते हैं और अन्ततः केवल आत्मा रह जाता है ।

वस्तुतः दर्शन और सिद्धियाँ बाधा सिद्ध हो सकती हैं, वह मन को इतने प्रबल रूप से जकड़ लेती हैं जैसे कि भौतिक शक्ति या आनन्द के प्रति आसक्ति और इसे इस भ्रम में डाल देती हैं कि इसका आत्मा में रूपान्तरण हो गया है। और जिस प्रकार भौतिक शक्तियाँ तथा आनन्दों के साथ होता है, इसके लिए इच्छा इनकी प्राप्ति की अपेक्षा अधिक घातक होती है । एक बार का जिक्र है नरसिंह स्वामी श्रीभगवान् के सम्मुख बैठे हुए थे और विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों का तमिल में अनुवाद कर रहे थे । इस बीच वह विख्यात प्रसंग आया जब श्री रामकृष्ण के एक स्पर्श ने विवेकानन्द को सभी वस्तुओं को एक समझने का अनुभव प्रदान किया था । इस समय नरसिंह स्वामी के मन में यह विचार आया कि क्या इस प्रकार का अनुभव वांछनीय नहीं है और क्या दर्शन या स्पर्श द्वारा श्रीभगवान् इस प्रकार का अनुभव उन्हें प्रदान कर सकते थे । जैसा कि प्रायः होता था, जो प्रश्न उनके मन को आन्दोलित कर रहा था, वही प्रश्न उसी समय एक अन्य भक्त ने भी किया । अचम्माल ने पूछा कि क्या भक्त सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं । यह वह समय था जब श्रीभगवान् **फॉर्टी वर्सिज ऑन रिऐलिटी** की रचना कर रहे थे । परिशिष्ट सहित उनके इस ग्रन्थ को उनके सिद्धान्त की व्याख्या समझा जा सकता है

और उन्होंने प्रश्न के उत्तर में एक श्लोक की रचना की।" "शाश्वत सत्ता में लीन रहना सच्ची सिद्धि है। अन्य उपलब्धियाँ तो स्वप्नावस्था की वस्तुओं के समान हैं। क्या जाग्रत अवस्था में वे सत्य सिद्ध होती हैं ? क्या शाश्वत सत्ता में लीन और निर्भ्रान्त व्यक्ति इन बातों की परवाह करेंगे ?"

चमत्कारिक शक्तियाँ आध्यात्मिक पथ की बाधा हैं। सिद्धियाँ और उनसे बढ़कर सिद्धियों की इच्छा साधक के मार्ग की बाधा है। **देविकालोत्तरम्** में, जिसका श्रीभगवान् ने संस्कृत से तमिल में अनुवाद किया, लिखा है : "व्यक्ति चमत्कारी सिद्धियों को, भले ही वह उसे प्रत्यक्षतः प्रदान की जायँ, स्वीकार न करे, वह तो उन रस्सों के समान हैं, जिनसे पशु को बाँधा जाता है और देर-सबेर वह व्यक्ति को अधःपतन की ओर ले जाती हैं। यह मुक्ति का मार्ग नहीं है। अनन्त चैतन्य के अतिरिक्त अन्यत्र इसकी उपलब्धि नहीं होती।"

इस विषयान्तरण से हम अपने विषय की ओर आते हैं। श्रीभगवान् ने आत्म-अन्वेषण का केवल चिन्तन के तकनीक रूप में ही नहीं बल्कि जीवन के तकनीक रूप में भी निर्धारण किया। जब उनसे यह प्रश्न किया गया कि क्या इसका सदा प्रयोग किया जाना चाहिए या केवल चिन्तन के निश्चित समय में, तो उन्होंने उत्तर दिया, "हमेशा।" इससे यह सूचित होता है कि वे सांसारिक जीवन का परित्याग करने के लिए नहीं कहते थे क्योंकि जो परिस्थितियाँ साधना के मार्ग की बाधाएँ थीं, वे इस प्रकार साधना के साधन में परिवर्तित हो जाती थीं। अन्ततः, साधना अहं पर एक प्रहार है और जब तक अहं आशा और भय में, महत्त्वाकांक्षा और विक्षोभ में, किसी प्रकार के आवेश या इच्छा में निमग्न है, तब तक हम कितना ही चिन्तन करें हमें सफलता नहीं मिल सकती। श्रीराम और राजा जनक यद्यपि संसार में रहते थे तथापि वह आसक्ति से मुक्त थे। जिस साधु ने श्रीभगवान् पर पत्थर लुढ़काने का प्रयत्न किया था, वह आसक्ति में आबद्ध था हालाँकि उसने संसार का परित्याग कर दिया था।

साथ ही, इसका यह अर्थ नहीं कि बिना किसी आन्दोलन की योजना के निःस्वार्थ कार्य ही पर्याप्त है क्योंकि अहं सूक्ष्म और आग्रही है और यह उन क्रियाओं में शरण ले लेगा, जिनका उद्देश्य इसे नष्ट करना है, जैसे इसे नम्रता या अपश्चर्या में अभिमान की अनुभूति होती है।

आत्म-अन्वेषण दैनिक क्रिया है। विचार आने पर अपने से यह प्रश्न करना कि 'मैं कौन हूँ', आन्दोलन की एक प्रभावशाली योजना है। जब एक अनुद्वेगात्मक विचार पर इसका प्रयोग किया जाय, जैसे किसी पुस्तक या फिल्म के सम्बन्ध में किसी की सम्मति, तो ऐसा प्रतीत न हो, परन्तु जब इसका प्रयोग उद्वेगात्मक विचार पर किया जाता है, इसका प्रबल प्रभाव होता

है और यह आवेशों की जड़ पर कुठाराघात करता है। एक व्यक्ति का अपमान किया गया है और वह आक्रोश अनुभव करता है—किसका अपमान किया गया और कौन आक्रोश अनुभव करता है ? कौन प्रफुल्लित या निराश है, क्रुद्ध या हर्षोल्लसित है ? एक व्यक्ति दिवा-स्वप्नों की दुनिया में विचरने लगता है या विजयों के स्वप्न देखता है और उसी प्रकार अपने अहं का प्रसार करता जाता है, जिस प्रकार चिन्तन इसका संकोचन । इस अवसर पर विचार की तलवार को बाहर निकालने और इस बन्धन को काटने के लिए शक्ति और स्फूर्ति की आवश्यकता होती है ।

जीवन की गतिविधियों में भी श्रीभगवान् ने विचार के साथ-साथ दैवी इच्छा के प्रति समर्पण का आदेश दिया । उन्होंने उस व्यक्ति की, जो यह सोचता है कि वह अपना भार और दायित्व स्वयं वहन किये हुए है, तुलना गाड़ी में यात्रा करने वाले उस यात्री से की, जो गाड़ी में अपना सामान स्वयं उठाने का आग्रह करता है । हालाँकि गाड़ी इसे साथ-साथ उठाये जा रही है और बुद्धिमान यात्री अपना सामान पट्टे पर रख देता है और आराम से बैठ जाता है । सभी आदेश और उदाहरण जो श्रीभगवान् देते थे वे स्वार्थवृत्ति के ह्रास तथा 'मैं कर्ता हूँ', इस भ्रम के निवारण पर केन्द्रित थे ।

एक बार प्रसिद्ध कांग्रेसी कार्यकर्ता जमनालाल बजाज आश्रम में आये और श्रीभगवान् से पूछने लगे "क्या स्वराज के लिए इच्छा उचित है ?"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "हाँ, लक्ष्य के लिए निरन्तर कार्य व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक बना देता है, जिससे वह धीरे-धीरे अपने देश में लीन हो जाता है । इस प्रकार के व्यक्ति का लय वांछनीय है और यह कर्म निष्काम कर्म है ।"

जमनालालजी को बड़ी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने श्रीभगवान् से अपने राजनीतिक ध्येयों की स्वीकृति प्राप्त कर ली है । उन्होंने श्रीभगवान् से निश्चित आश्वासन प्राप्त करने की इच्छा से यह प्रश्न किया जो कि तर्कसंगत प्रतीत होता था, "अगर निरन्तर संघर्ष और महान् बलिदान के उपरान्त स्वराज मिलता है तो क्या इससे व्यक्ति का प्रफुल्लित होना न्यायोचित नहीं है ?"

परन्तु उन्हें निराश होना पड़ा । "नहीं, संघर्ष के दौरान, उसे उच्च सत्ता के प्रति समर्पण कर देना चाहिए, उसकी शक्ति को सदा अपने सम्मुख रखना चाहिए और कभी नहीं भुलाना चाहिए । तब वह कैसे फूला समा सकता है ? उसे अपने कार्य के परिणामों की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । तभी यह निष्काम कर्म बनता है ।"

कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के कार्य का परिणाम भगवान् पर निर्भर करता है, उसे तो केवल शुद्ध और निःस्वार्थ भाव से इसे सम्पन्न करना

है। इसके अतिरिक्त, बिना किसी स्वार्थ के, न्याय कार्य के निष्पादन द्वारा, दृश्य परिणामों के अतिरिक्त, अधिक शक्तिशाली किन्तु सूक्ष्म रूप से, व्यक्ति दूसरों को भी लाभ पहुँचाता है। वह अपने को प्रत्यक्ष रूप से भी लाभ पहुँचाता है। वस्तुतः निःस्वार्थ कार्य को सच्चा बैंक खाता कहा जा सकता है। यह शुभ कर्मों का संग्रह है जिससे व्यक्ति के भविष्य का निर्माण होता है।

इस प्रकार के उदाहरण में एक आगन्तुक द्वारा प्रश्न किये जाने पर, श्रीभगवान् ने यह समझाया कि किस प्रकार की मानसिक वृत्ति सामाजिक या राजनीतिक गतिविधि को सच्ची साधना बना सकती है। परन्तु उन्होंने अपने भक्तों को इस प्रकार की गतिविधियों में निमग्न होने से निरुत्साहित किया। यही पर्याप्त था कि वह जीवन में अपने कार्यों को शुद्ध और निःस्वार्थ भाव से करें, न्याय्य कार्य को केवल इसलिए करें कि यह न्याय्य है। यद्यपि संसार की वर्तमान अवस्था अशान्त है, यह एक विस्तृत समस्वरता का भाग है, और आत्म-ज्ञान के विकास द्वारा व्यक्ति इस समस्वरता को जान सकता है तथा घटना-क्रम को परिवर्तित करने के प्रयासों की अपेक्षा अधिक समस्वर प्रभाव डाल सकता है। इस विषय में श्रीभगवान् की शिक्षा, पाल ब्रण्टन के साथ वार्तालाप में संग्रहीत है :

पाल ब्रण्टन : क्या महर्षि संसार के भविष्य के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देंगे क्योंकि हम बड़े नाजुक दौर में से गुजर रहे हैं ?

भगवान् : आप भविष्य के सम्बन्ध में क्यों चिन्तित होते हैं ? आप अपने वर्तमान को भी ठीक तरह से नहीं जानते। वर्तमान का ध्यान रखें और भविष्य अपना ध्यान स्वयं रख लेगा।

पाल ब्रण्टन : क्या संसार शीघ्र ही मैत्री और पारस्परिक सहायता के नवयुग में प्रवेश करेगा या यह अव्यवस्था और युद्ध के गर्त में गिरेगा ?

भगवान् : संसार में एक ही सत्ता है जो इस पर शासन करती है और संसार की देखभाल करना उसका ही कार्य है। जिसने इस संसार को जीवन प्रदान किया है, वह यह भी जानता है कि किस प्रकार इसकी देखभाल की जाय। वह इस संसार का भार उठाये हुए है, आप नहीं।

पाल ब्रण्टन : अगर व्यक्ति निष्पक्ष होकर भी चारों ओर दृष्टिपात करे, तो भी उसके लिए यह जानना कठिन है कि यह दयामय दृष्टि कहाँ से आती है।

भगवान् : जैसे आप स्वयं होंगे, वैसा ही यह संसार आपको दिखायी देगा। अपने को समझे बिना संसार को समझने के प्रयास का क्या लाभ ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर सत्यान्वेषियों को विचार करने की आवश्यकता नहीं है। लोग इस प्रकार के प्रश्नों पर अपनी शक्ति का अपव्यय

करते हैं। पहले अपने सच्चे स्वरूप का पता लगाओ फिर आप संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ सकेंगे।

हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस अन्तिम वाक्य में श्रीभगवान् 'अपने' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, जिसका अर्थ अहं से है, और जिसे प्रश्न-कर्त्ता अपने पर आरोपित कर रहा है। वास्तविक आत्मा संसार का भाग नहीं है बल्कि परमात्मा और सृष्टिकर्त्ता का भाग है।

जीवन की गतिविधियों में आत्म-अन्वेषण के प्रयोग के लिए आदेश का अर्थ, इसके परम्परागत प्रयोग का विस्तार और हमारे युग की आवश्यकताओं के प्रति समायोजन था। चिन्तन के रूप में अपने प्रत्यक्ष प्रयोग से यह साधना का शुद्धतम और सर्वाधिक प्राचीन रूप है। यद्यपि श्रीभगवान् को यह स्वतः स्फूर्ति तथा अनुपदिष्ट रूप में प्राप्त हुआ तथापि यह प्राचीन ऋषियों की परम्परा में है। ऋषि वसिष्ठ ने लिखा है " 'मैं कौन हूँ' यह अन्वेषण आत्मा की तलाश है और वह अग्नि है जो धारणा सम्बन्धी विचार की विषाक्त वृद्धि के बीज को जला देती है।" पहले यह विशुद्ध ज्ञान-मार्ग के रूप में था, यह सबसे सरल तथा सबसे महान था, यह अन्तिम रहस्य था जो केवल विशुद्ध प्रज्ञावानों को दिया जाता था और वे संसार की चिन्ताओं से परे निरन्तर चिन्तन में जिसका अनुसरण करते थे। दूसरी ओर कर्म मार्ग उनके लिए था जो संसार में रहते थे और भगवद्गीता के अनुसार कर्मों के फल में आसक्त हुए बिना, निःस्वार्थ भाव से, अहंकार-रहित होकर दूसरों की सेवा करते थे। इन दो मार्गों के मिलन से एक नये मार्ग का निर्माण किया गया है, जो हमारे युग की नयी परिस्थितियों के अनुरूप है। आश्रम या कन्दरा की तरह कार्यालय या वर्कशाप में बाध्य कर्मकाण्ड का आप चाहे पालन करें या न करें, मौन भाव से इस मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है। इसके लिए आपको चिन्तन के लिए कुछ समय निकालना होगा और फिर दिन भर स्मरण करना होगा।

सैद्धान्तिक रूप से, अन्तिम और अत्यन्त गुह्य मार्ग की खुली घोषणा और हमारे युग के साथ इसके समायोजन द्वारा ईसामसीह के इस कथन की कि 'अन्त में गुप्त रहस्य का उद्घाटन हो जायेगा' पुष्टि हो जाती है। यही श्रीभगवान् ने किया था।

वस्तुतः यह नया मार्ग ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग के मिलन से कुछ अधिक है। यह भक्ति भी है क्योंकि यह शुद्ध प्रेम की सृष्टि करता है—आत्मा और आन्तरिक गुरु के लिए प्रेम, जो कि भगवान् का प्रेम है, परमात्मा का प्रेम है। श्रीभगवान् ने **महर्षीज गॉस्पल** में कहा है : "शाश्वत, अखण्ड तथा प्राकृतिक रूप से आत्मलीनता की अवस्था ज्ञान है। आत्मलीनता के लिए आपको आत्मा से प्रेम करना होगा। चूँकि भगवान् वस्तुतः आत्मा हैं, इसलिए

आत्म-प्रेम भगवद्प्रेम है और वही भक्ति है। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति एक ही वस्तु हैं।"

श्रीभगवान् ने जिस ज्ञान और भक्ति का उपदेश दिया, वे बिलकुल भिन्न मार्ग प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु वे एक-दूसरे के अधिक निकट हैं और दोनों एक-दूसरे का निषेध नहीं करते। वस्तुतः वे उपर्युक्त समन्वित वर्णित मार्ग में एकीकृत हो सकते हैं।

एक ओर, बाह्य गुरु के प्रति समर्पण, उसकी कृपा के कारण आन्तरिक गुरु की ओर ले जाता है, विचार का उद्देश्य इसी की तलाश है, और दूसरी ओर विचार शान्ति तथा समर्पण की ओर ले जाता है। दोनों मार्ग प्रत्यक्ष मानसिक शान्ति के लिए प्रयत्नशील हैं; भेद इतना है कि ज्ञान मार्ग में व्यक्ति बाह्य गुरु के प्रति और भक्ति मार्ग में आन्तरिक गुरु के प्रति अधिक अभिमुख होता है। साधना की अप्रत्यक्ष विधियाँ मानसिक शक्ति को अधिक सुदृढ़ बनाती हैं ताकि व्यक्ति आत्मा के सम्मुख समर्पण कर सके और इसी की ओर श्रीभगवान् ने इस प्रकार निर्देश किया था, "चोर को पकड़ने के लिए जो कि वह स्वयं है, चोर मानो सिपाही का रूप धारण कर लेता है।" निःसन्देह यह सत्य है कि समर्पण करने से पूर्व मन को शक्ति-सम्पन्न और शुद्ध बनाना होगा, परन्तु विचार के प्रयोग के साथ, भगवान् की कृपा से यह कार्य स्वतः हो जाता है।

एक बार कृष्ण जीवरजनी नामक एक भक्त ने इसके सम्बन्ध में श्रीभगवान् से प्रश्न किया : "ग्रन्थों में ऐसा लिखा है कि आत्म-साक्षात्कार की तैयारी के लिए व्यक्ति को अपने में सभी अच्छे या दैवी गुणों का विकास करना चाहिए।"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया : "सभी अच्छे या दिव्य गुण ज्ञान में सम्मिलित हैं और सभी बुरे या आसुरी गुण अज्ञान में सम्मिलित हैं। ज्ञानोदय होने पर सभी अज्ञान चला जाता है और सभी दैवी गुण स्वतः आ जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति ज्ञानी है तो वह असत्य नहीं बोल सकता और न कोई गलत काम कर सकता है। निस्सन्देह, कई ग्रन्थों में ऐसा लिखा है कि व्यक्ति को एक के बाद दूसरे गुण का विकास करना चाहिए और इस प्रकार अन्तिम मोक्ष के लिए तैयारी करनी चाहिए परन्तु ज्ञान या विचार मार्ग का अनुसरण करने वालों के लिए, दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त उनकी साधना ही पर्याप्त है; उन्हें और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।"

विरूपाक्ष अवधि से ही महर्षि इस प्रकार के उत्तर दिया करते थे जो कि **श्रीरमण गीता** के नाम से प्रकाशित हैं। बहुत-से भक्तों ने अन्य उपायों का भी आश्रय लिया, जैसे धार्मिक अनुष्ठान और प्राणायाम। न केवल विचार के प्रयोग से पूर्व तैयारी के रूप में इन उपायों का आश्रय लिया जाता है बल्कि

कई उदाहरणों में वे साथ-साथ चलते हैं। बहुत-से भक्तों ने श्रीभगवान् से कहा कि उन्होंने किसी गुरु द्वारा निर्दिष्ट इन उपायों का आश्रय लिया था या वह इनके प्रयोग के लिए श्रीभगवान् की स्वीकृति चाहते थे। श्रीभगवान् ने भक्तों की बातों को कृपापूर्वक सुना तथा अपनी स्वीकृति प्रदान की। परन्तु अगर किसी भक्त को यह उपाय बाधक प्रतीत हुआ तो श्रीभगवान् ने उससे भी सहमति प्रकट की। एक भक्त ने उन्हें बताया कि अब उसे अन्य उपायों से जिनका उसने पहले प्रयोग किया, उसे कोई सहारा नहीं मिलता था। उसने उन उपायों का परित्याग करने के लिए उनकी स्वीकृति चाही। उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ, अन्य सब उपाय केवल विचार की ओर ले जाते हैं।"

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि बहुत कम लोग विचार का प्रयोग करने की आकांक्षा रखते थे। वस्तुतः आश्रम में आने वाले बहुत-से व्यक्तियों के लिए जो जीवन के रहस्यों की व्याख्या या शान्ति या चरित्र के शुद्धीकरण और दृढ़ीकरण के निमित्त किसी अनुशासन के लिए कहते थे, अद्वैत सिद्धान्त या आत्म-अन्वेषण की साधना के आचरण का सिद्धान्त दुरूह था। इसीलिए सतही दर्शक को यह देखकर निराशा या विक्षोभ होता था कि इन व्यक्तियों को शान्ति का प्रसाद नहीं मिला। परन्तु सतही दर्शकों को ही ऐसा अनुभव होता था क्योंकि जो व्यक्ति जितने अधिक निकट से देखता था, वह इस परिणाम पर पहुँचता था कि वास्तविक उत्तर शाब्दिक नहीं बल्कि मौन प्रभाव है जो प्रश्नकर्ता के मन को आन्दोलित करता है।

अपनी व्याख्याओं में श्रीभगवान् अन्तिम सत्य के प्रति अनुरक्त थे जिसे केवल ज्ञानी ही जानता है। वह इस सिद्धान्त को मानते थे कि भिन्नता से, अतीत होने के कारण, ज्ञानी कोई सम्बन्ध नहीं रखता और इसीलिए वह किसी को अपना शिष्य नहीं कहता। उसकी मौन कृपा, मन पर इस प्रकार का प्रभाव डालती है कि वह अपने विकास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त उपायों को ढूँढ़ लेता है, पहले ऐसे भक्तों की चर्चा की गयी है जिन्होंने केवल समर्पण करने और मन को शान्त रखने का यत्न किया। "गुरु की कृपा समुद्र के समान है। अगर कोई व्यक्ति एक प्याला लेकर आता है, तो उसे केवल एक प्याला ही मिलेगा। समुद्र के दारिद्र्य की शिकायत करने का कोई लाभ नहीं। जितना ही बड़ा पात्र होगा उतना ही अधिक जल उसमें आयेगा। यह पूर्णतः उस पर निर्भर करता है।"

एक वृद्ध फ्रेंच महिला, जो एक आश्रमवासी भक्त की माता थी, आश्रम देखने आयीं। न तो वह दर्शन समझती थीं और न उन्होंने इसके समझने की कोई चेष्टा की, परन्तु आश्रम में आगमन के समय से ही वह सच्ची कैथोलिक बन गयीं। उन्होंने यह स्वीकार किया कि यह परिवर्तन श्रीभगवान् के

प्रभाव के कारण है। शाब्दिक व्याख्याओं की अपेक्षा इस प्रकार के विकास श्रीभगवान् की शिक्षा के सार तत्त्व थे।

श्रीभगवान् की सदा वर्द्धमान कृपा भक्तों को उनके अधिकाधिक निकट ला रही थी और इस प्रकार भक्ति के माध्यम से उनके हृदयों को विचार के लिए तैयार कर रही थी। न केवल भक्तों का बल्कि आकस्मिक आगन्तुकों का भी ऐसा अनुभव था कि अन्तिम वर्षों में श्रीभगवान् का चेहरा अत्यन्त कोमल और दीप्तिमान हो गया था। प्रेम के माध्यम से वह ज्ञान की ओर ले जाते थे, जिस प्रकार कि ज्ञान के माध्यम से विचार प्रेम की ओर ले जाता है। उनके प्रति भक्ति मन को आत्मोन्मुख करती थी जिस प्रकार कि आत्मा की तलाश व्यक्ति के हृदय में असीम प्रेम को जागरित करती है।

एक भक्त ने श्रीभगवान् का इस प्रकार वर्णन किया है: "उनके चेहरे को देखें, यह इतना आकर्षक, इतना सदय और इतना बुद्धि वैभव संयत है, परन्तु साथ ही इस पर नवजात शिशु का भोलापन झलकता है। वे जो कुछ ज्ञातव्य है, सब जानते हैं। उनके दर्शनों से हृदय में एक तरंग उत्पन्न होती है। ऐसा लगता है मेरे अस्तित्व का, मेरे बाह्याभिमुख हृदय का रूपान्तरण हो रहा है। हृदय में बार-बार यह भावना उठती है कि मैं कौन हूँ? और इस प्रकार प्रेम अन्वेषण की ओर ले जाता है।"

जिस प्रकार भगवान् वाणी और लेखन द्वारा साधना के तकनीक का वर्णन करते थे, उस प्रकार अन्य शिक्षक नहीं करते। इसका कारण यह है कि इस प्रकार का तकनीक केवल तभी प्रभावशाली होता है जब इस तकनीक के प्रयोक्ता को, उसके गुरु द्वारा वह उपदेश रूप में दिया जाये। इस विषय में श्रीभगवान् की नवीन पद्धति के कारण यह प्रश्न पैदा होता है कि विचार कैसे व्यक्ति में प्रवेश कर सकता है, गुरु द्वारा व्यक्तिगत रूप में अनुपदिष्ट साधना किस प्रकार भक्त में प्रवेश कर सकती है।

श्रीभगवान् ने स्वयं इस सार्वलौकिक परम्परा की पुष्टि की कि साधना की पद्धति केवल तभी उचित है जबकि गुरु द्वारा उपदिष्ट हो। जब एक बार उनसे यह प्रश्न किया गया कि क्या व्यक्ति किसी प्रकार सीखे गये मन्त्रों से लाभ उठा सकता है। तो उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं, उसे मन्त्रों की दीक्षा दी जानी चाहिए।"

फिर कैसे उन्होंने खुले रूप में विचार की व्याख्या की और कभी-कभी जिज्ञासुओं से अपने ग्रन्थों में लिखित व्याख्याओं का अध्ययन करने के लिए कहा? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि वह तिरुवन्नामलाई में उनके निकट आने वाले कुछ व्यक्तियों के गुरु-मात्र ही नहीं हैं। वे गुरु से बढ़कर हैं। उनका अपने भक्तों पर अधिकार है, इसलिए उन्होंने इसकी स्वीकृति दी।

आज आध्यात्मिक दृष्टि से अन्धकारावच्छन्न इस युग में जबकि अनेक भक्तजन गुरु की तलाश में हैं और गुरु का मिलना बहुत कठिन है भगवान् ने स्वयं सद्गुरु और दिव्य मार्गदर्शक के रूप में उन भक्तों के लिए अवतार लिया जो उनकी चरण-शरण में आये। उन्होंने उस साधना की घोषणा की जो सबके लिए सहज है। उनकी कृपा से सभी इस साधना में पूरे उतरते हैं।

विचार का प्रयोग केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित नहीं था जो तिरुवन्नामलाई जा सकते थे। यह केवल हिन्दुओं तक भी सीमित नहीं था। श्रीभगवान् की शिक्षा सभी धर्मों का सार है, यह खुले रूप में गुह्य वस्तु की घोषणा करती है। अद्वैत ताओवाद और बौद्ध धर्म का केन्द्रीय तत्त्व है। आन्तरिक गुरु का सिद्धान्त अपने पूर्ण अर्थ में, 'ईसा आप में विराजमान हैं', का सिद्धान्त है। यह विचार इस्लामी सिद्धान्त के अन्तिम सत्य की ओर ले जाता है, 'भगवान् के अतिरिक्त कोई देवता नहीं, परमात्मा के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं'। श्रीभगवान् धर्मों के पारस्परिक भेदों से परे थे। हिन्दू ग्रन्थ उन्हें उपलब्ध थे, इसलिए उन्होंने उनका अध्ययन किया और उनकी शब्दावली के अनुसार व्याख्या की। परन्तु जब उनसे प्रश्न किये जाते तो वे दूसरे धर्मों की शब्दावली में भी व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। जिस साधना का उन्होंने उपदेश दिया, वह किसी धर्म पर निर्भर नहीं है। न केवल हिन्दू उनके पास आते थे बल्कि बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम, यहूदी और पारसी सभी आते थे और वे किसी से धर्म-परिवर्तन के लिए नहीं कहते थे। गुरु के प्रति अनन्य भक्ति और उसकी कृपा का भक्त के प्रति प्रवाह प्रत्येक धर्म का सारतत्त्व और आत्म-अन्वेषण सभी धर्मों का अन्तिम सत्य है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

भक्तजन

सामान्यत: भक्तजन बहुत सामान्य लोग थे। सभी विद्वान या बौद्धिक नहीं थे। तथ्य तो यह है कि बहुधा ऐसा देखने में आता था कि अपने सिद्धान्तों में लीन कोई बुद्धिवादी जीवित सत्य के दर्शन करने में असफल हो जाता और भटक जाता। जबकि कोई सरल और सीधा-सादा व्यक्ति स्थिर रहता, पूजा करता और अपनी सच्ची लगन से भगवान् का कृपा-भाजन बनता। आत्म-अन्वेषण को ज्ञान-मार्ग कहते हैं, इसलिए कभी-कभी ऐसा ख्याल किया जाता है कि बुद्धिवादी ही केवल इसका अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु जिस चीज की आवश्यकता है वह हार्दिक भाव है न कि सैद्धान्तिक ज्ञान। सैद्धान्तिक ज्ञान सहायक हो सकता है परन्तु यह बाधक भी सिद्ध हो सकता है।

श्रीभगवान् ने लिखा : "उन व्यक्तियों के ज्ञान का क्या लाभ जो अपने से यह प्रश्न नहीं करते कि 'हम शिक्षितों का जन्म कहाँ से हुआ है ?' और इस प्रकार भाग्य-रेखाओं को मिटाने का प्रयास नहीं करते। उन्होंने अपने को एक ग्रामोफोन के समान बना दिया है। अरुणाचल ! इसके अतिरिक्त वे और क्या हैं ? ज्ञान के बावजूद जिनका अहंभाव नहीं गया उनकी मुक्ति नहीं होगी परन्तु अशिक्षित व्यक्तियों की मुक्ति हो जायगी।" **(सप्लीमेण्टरी फॉर्टी वर्सिज, ३५-३६)**। भाग्य रेखाओं को मेटने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू विचारधारा के अनुसार, मनुष्य का भाग्य उसके मस्तक पर लिखा है और उसे कर्म-बन्धन से मुक्त होना है। पाँचवें अध्याय में जो कुछ कहा गया है, उसकी इससे पुष्टि होती है कि भाग्य के सिद्धान्त से प्रयत्न की सम्भावना या इसके लिए आवश्यकता का लोप नहीं हो जाता।

ज्ञान स्वयं में देय नहीं है, जिस प्रकार कि भौतिक सम्पत्ति और मानसिक शक्तियाँ नहीं हैं; किन्तु इनके लिए इच्छा और इनमें आसक्ति निन्दनीय है। ये व्यक्ति को अन्धा बना देती हैं और सच्चे लक्ष्य से पथभ्रष्ट कर देती हैं। जैसा कि एक पूर्वोद्धृत प्राचीन ग्रन्थ में मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध में कहा गया है, वे पशु का बाँधने के लिए रज्जु के सदृश हैं। साधना के लिए प्रतिभा

नहीं सच्चाई की, सिद्धान्त नहीं प्रज्ञा की, अभिमान नहीं नम्रता की आवश्यकता है। विशेषतः, जब सभा-भवन में गीत गाये जाते थे तब यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती थी। श्रीभगवान् किसी प्रसिद्ध व्यक्ति में कम दिलचस्पी प्रदर्शित करते थे परन्तु जो व्यक्ति तन्मय होकर भक्ति-भाव से गाता उस पर उनकी कृपा-दृष्टि होती।

स्वभावतः श्रीभगवान् के भक्तों में हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक थी, परन्तु अन्य धर्मावलम्बी भी थे। श्री पाल ब्रंटन ने अपनी पुस्तक, **ए सर्च इन सीक्रेट इण्डिया** के माध्यम से संसार में श्रीभगवान् के ज्ञान का जितना प्रसार किया उतना किसी और व्यक्ति ने नहीं किया।

बाद के वर्षों में आश्रम में या उसके निकट स्थायी आवासियों में निम्न महानुभाव थे : विशालकाय, दयालु और गम्भीर आवाज वाले मेजर चैडविक; तेज स्वभाव की भव्य व्यक्तित्व वाली पारसी महिला श्रीमती जालेयार खान, ईराक के शान्त और सरल-हृदय एस० एस० कोहेन; मुस्लिम शानोशौकत वाले, फारसी के सेवा-निवृत्त प्रोफेसर डॉ० हाफिज सैयद। अमरीका, फ्रांस, जर्मनी, हॉलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि देशों से लम्बी या छोटी अवधि के लिए आश्रम में भक्तजन आते रहते थे।

श्रीभगवान् का एक तरुण सम्बन्धी विश्वनाथन सन् १९२३ में १९ वर्ष की अवस्था में आश्रम में आया था। यह उसका प्रथम आगमन नहीं था, परन्तु इस बार जैसे ही वह सभा-भवन में प्रविष्ट हुआ, श्रीभगवान् ने उससे पूछा, "क्या तुमने अपने माता-पिता से आज्ञा ले ली है ?"

प्रश्न इस बात का सूचक था कि इस बार वह आश्रम में रहने के लिए आया है। उसने स्वीकार किया कि वह स्वयं भगवान् की तरह पीछे एक पत्र लिखकर छोड़ आया है परन्तु उसमें यह नहीं लिखा कि वह कहाँ जा रहा है। भगवान् ने उससे अपने परिवार वालों के नाम एक पत्र लिखवाया परन्तु किसी तरह उसके पिता को यह आभास हो गया कि वह आश्रम गया है और वे इस विषय में बातचीत करने के लिए वहाँ चले आये। वह खुले दिल से बात करने के लिए आये थे। उन्होंने स्वामी की बहुत प्रशंसा सुन रखी थी परन्तु वह उन्हें एक तरुण सम्बन्धी के रूप में वेंकटरमण ही जानते थे। स्वभावतः उनके लिए भगवान् की दिव्य व्यक्ति के रूप में कल्पना करना कठिन था। भगवान् की उपस्थिति में आने पर, उनका शरीर भय और सम्मान की भावना से काँपने लगा और अनायास ही उनका मस्तक भगवान् के चरणों में नत हो गया।

उनके मुँह से साश्चर्य यकायक यह शब्द निकल पड़े "पहले के वेंकटरमण का तो यहाँ कोई चिह्न ही नहीं दिखायी देता।"

श्रीभगवान् हँस पड़े : "ओह ! वह व्यक्ति ! वह तो कभी का लुप्त हो गया।"

एक बार विश्वनाथन से बातें करते समय श्रीभगवान् ने अपने विनोदी स्वभाव में कहा, "कम से कम घर छोड़ते समय तुम संस्कृत तो जानते थे, परन्तु जब मैंने घर छोड़ा, मैं कुछ भी नहीं जानता था।"

आश्रम में अन्य व्यक्ति भी थे जो संस्कृत जानते थे और जिन्होंने धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इनमें एक रिटायर्ड प्रोफेसर वेंकटरमैया थे। जो साधु बन गये थे और जिन्होंने कुछ वर्ष तक आश्रम की डायरी रखी थी यह डायरी आश्रम के **'टॉक्स विद दी महर्षि'** नाम से प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त स्कूल अध्यापक सुन्दरेश ऐय्यर भी, जिनका पहले जिक्र किया गया है, और जो तिरुवन्नामलाई में अध्यापन-कार्य करते थे, संस्कृत जानते थे।

जिस वर्ष आश्रम में विश्वनाथन आये उसी वर्ष मुरुगानार भी आये। उनका स्थान प्रमुख तमिल कवियों में था। श्रीभगवान् स्वयं कई बार उनकी कविताओं की चर्चा करते या उनका पाठ करवाते। मुरुगानार ने ही, 'फॉर्टी वर्सिज' का पुस्तक रूप में संग्रह किया था और उन्होंने उन पर तमिल में एक विद्वतापूर्ण टिप्पणी भी लिखी है। संगीतज्ञ रामस्वामी ऐय्यर अब भी एक पुराने भक्त हैं। वह श्रीभगवान् से उम्र में बड़े थे। वह पहले-पहले सन् १६०७ में भगवान् के पास आये थे। उन्होंने भगवान् की प्रशस्ति में गीत-रचना भी की।

रामस्वामी पिल्लई सन् १६११ में, जब वे युवक थे सीधे कालेज से आश्रम में आये थे और वह वहाँ रहे। विश्वनाथन और मुरुगानार की तरह उन्होंने साधु का वेष धारण कर लिया; परन्तु उन्होंने भक्ति और सेवा मार्ग का आश्रय लिया। एक बार, सन् १६४७ में पहाड़ी पर टहलते समय श्रीभगवान् के पैर में पत्थर से चोट लग गयी। अगले दिन वृद्ध परन्तु युवकोचित स्फूर्ति और उत्साह से सम्पन्न रामस्वामी पिल्लई ने पहाड़ी की ओर सीढ़ियाँ बनाने का कार्य शुरू कर दिया। उन्होंने अकेले ही प्रातः से लेकर सायं तक निरन्तर कार्य किया। जब तक कि वह मार्ग पूरा नहीं बन गया, पत्थर की सीढ़ियाँ बनायी गयीं, जहाँ पत्थर टेढ़े-मेढ़े थे, उन्हें तराशा गया और जहाँ ढलान थी, उसे ठीक किया गया। यह सीढ़ियाँ इतने अच्छे ढंग से बनायी गयी थीं कि आज तक वर्षा में भी ज्यों की त्यों खड़ी हैं; परन्तु इनकी मरम्मत नहीं हुई क्योंकि इन सीढ़ियों के बनने के तत्काल बाद श्रीभगवान् ने अपने क्षीण स्वास्थ्य के कारण पहाड़ी पर सैर करना छोड़ दिया था।

श्रीभगवान् के स्कूल के दिनों के पुराने साथी रंगा ऐय्यर, जिनका पहले

जिक्र किया जा चुका है, तिरुवन्नामलाई में कभी भी स्थायी रूप से नहीं रहे परन्तु वह और उनके परिवार के लोग अक्सर आश्रम में आया करते थे। उन्होंने भी श्रीभगवान् के साथ एक ही कक्षा में अध्ययन किया था और उनके साथ खेले और कुश्तियाँ लड़ी थीं। वे हमेशा स्वामी जी के साथ खुलकर बात करते और हँसी-मजाक किया करते थे। जब श्रीभगवान् विरूपाक्ष कन्दरा में रहते थे उन दिनों वह यह देखने के लिए आये थे कि उनके पुराने मित्र स्वामी के रूप में कैसे दिखायी देते हैं। परन्तु जब वह उसे मिले तो उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि वे एक दिव्य आत्मा के सम्मुख खड़े हुए हैं। परन्तु उनके बड़े भाई मणि को ऐसा अनुभव नहीं हुआ। वह तरुण स्वामी की ओर, जो स्कूल में उससे निचली कक्षा में पढ़ते थे, उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा। भगवान् ने केवल उसकी ओर एक बार देखा और उनके मौन प्रभाव के वशीभूत हो, वह उनके चरणों में गिर पड़ा। इसके बाद वह भी उनका भक्त बन गया। रंगा ऐय्यर के एक पुत्र ने श्रीभगवान् की प्रशस्ति में तमिल में एक लम्बी कविता लिखी है, जिसमें श्रीभगवान् का दिव्य ज्ञान के साथ 'विवाह' सम्पन्न कराया गया है।

महर्षीज गॉस्पल का अधिकांश भाग पोलिश शरणार्थी एम० फ्रिडमैन के साथ हुए वार्तालाप का संकलन है। दो पोलिश महिलाएँ आश्रम में अत्यन्त विख्यात हैं। जब श्रीमती नोये को अपने देश अमरीका में वापस लौटना पड़ा, तो उनके नेत्रों में आँसू छलछला आये। श्रीभगवान् ने उसे सांत्वना देते हुए कहा, "तुम रोती क्यों हो ? तुम जहाँ भी जाओ, मैं तुम्हारे साथ हूँ।"

भगवान् के सभी भक्तों के सम्बन्ध में यह सत्य है। वह सदा उनके साथ हैं; अगर वह भगवान् को स्मरण करेंगे तो वह भी उन्हें स्मरण करेंगे; अगर वह भगवान् को भूल भी जायें, भगवान् उन्हें कभी नहीं भूलेंगे, अगर भगवान् किसी भक्त को व्यक्तिगत रूप से यह बात कहते तो यह उनका महान् आशीर्वाद समझा जाता था।

मेरे तीन बच्चे तिरुवन्नामलाई में एकमाय यूरोपीय बच्चे थे। वह अन्य आश्रमवासियों से स्पष्ट भिन्न दिखायी देते थे। दिसम्बर १९४६ को एक दिन सायंकाल श्रीभगवान् ने मेरे दो बड़े बच्चों को चिन्तन की दीक्षा दी। अगर ये बच्चे इसका वर्णन करने में असमर्थ थे तो आश्रम के वयस्क भक्तों की भी यही अवस्था थी। दस-वर्षीया किट्टी ने लिखा, "जब आज सायंकाल मैं सभा-भवन में बैठी हुई थी, श्रीभगवान् मुझे देखकर मुस्कराये, मैंने अपनी आँखें बन्द कर लीं और चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। ज्योंही मैंने अपनी आँखें बन्द कीं मुझे बड़ा आनन्द आया। मैंने ऐसा अनुभव किया कि भगवान् मेरे अत्यन्त निकट हैं और वह वस्तुतः मेरे अन्दर विराजमान हैं। यह किसी वस्तु के

सम्बन्ध में आनन्दित और उत्तेजित होने के समान नहीं था। मैं इसका वर्णन नहीं कर सकती; इतना ही कह सकती हूँ कि मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ और भगवान् इतने भव्य और सुन्दर हैं।"

सात-वर्षीय आदम ने लिखा, "जब मैं सभा-भवन में बैठा हुआ था, मुझे प्रसन्नता का अनुभव नहीं हुआ, इसलिए मैंने प्रार्थना करना शुरू किया और मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। यह प्रसन्नता ऐसी नहीं थी जैसी कोई नया खिलौना मिलने से होती है, बल्कि यह तो भगवान् से और सबसे प्रेम के कारण उत्पन्न प्रसन्नता थी।"

ऐसी बात नहीं है कि बच्चे प्रायः या काफी देर तक सभा-भवन में बैठते थे। जब उनके जी में आता वे सभा-भवन में बैठ जाते, प्रायः वे इधर-उधर खेलते रहते थे।

जब सबसे छोटी लड़की फ्रेनिया सात वर्ष की थी, दूसरे दोनों बच्चे अपने मित्रों के बारे में बात कर रहे थे और वह हालाँकि उसके कोई मित्र नहीं थे, पीछे नहीं रहना चाहती थी, इसलिए कहने लगी कि डॉ० सैयद उसके संसार में सर्वोत्तम मित्र हैं। श्रीभगवान् को यह बात बता दी गयी।"

"ओह !" उन्होंने ऊपरी तौर से दिलचस्पी दिखाते हुए कहा।

"और उनकी माँ ने कहा, भगवान् के बारे में तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

"ओह !" इस बार उन्होंने अपना सिर हिलाया और वास्तविक दिलचस्पी प्रदर्शित की।

फ्रेनिया ने कहा, "भगवान संसार में नहीं हैं।"

"ओह !" वह खुशी-खुशी सीधे होकर बैठ गये, उन्होंने अपनी तर्जनी अँगुली नाक पर इस तरीके से रख ली जैसे कि उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए रखी थी। उन्होंने इस कहानी का तमिल में अनुवाद कर लिया और सभा-भवन में आने वाले अन्य व्यक्तियों को भी यह कहानी सुनायी।

बाद में डॉ० सैयद ने फ्रेनिया से पूछा अगर भगवान् संसार में नहीं थे तो वह कहाँ थे, और उसने उत्तर दिया, "वह हर जगह हैं।"

फिर भी उन्होंने कुरान के तर्ज में अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "जब हम भगवान् को तख्त पर बैठे हुए, खाते, पीते और चलते हुए देखते हैं, हम किस तरह कह सकते हैं कि वह संसार में रहने वाले हमारे जैसे आदमी नहीं हैं।"

बालिका ने उत्तर दिया, "हमें किसी और विषय पर बातचीत करनी चाहिए।"

परन्तु भक्तों की चर्चा ईर्ष्याजनक है क्योंकि अन्य भी भक्त हैं जिनकी चर्चा की जा सकती है। उदाहरण के लिए, बहुत कम भक्त श्रीभगवान् से इस प्रकार

खुलकर बातें करते थे जिस प्रकार देवराज मुदालियर या टी० पी० रामचन्द्रैया। श्री टी० पी० रामचन्द्रैया के दादा तो युवक श्रीरमण को अपने घर में एक त्यौहार के अवसर पर जबरदस्ती भोजन कराने ले गये थे। तिरुवन्नामलाई में यही एकमात्र ऐसा घर था जहाँ उन्होंने भोजन किया था। डॉ० टी० एन० श्रीकृष्ण स्वामी ने जो अक्सर मद्रास से श्रीभगवान् के दर्शनों के लिए आया करते थे, उनकी अनेक भाव-भंगिमाओं में सुन्दर चित्र खींचे हैं। श्रीभगवान् की एक महिला भक्त नागम्मा ने मद्रास स्थित एक बैंक के मैनेजर अपने भाई डी० एस० शास्त्री को तेलुगु में कई पत्र लिखे थे। इन पत्रों में जिनमें आश्रम की घटनाओं का अत्यन्त सजीव और मनोहारी चित्रण और श्रीभगवान् की दिव्य उपस्थिति का प्रभावोत्पादक वर्णन है। फिर ऐसे भी भक्त थे जिन्होंने श्रीभगवान् के साथ वार्तालाप करना बिलकुल आवश्यक नहीं समझा था। उन्होंने उनके साथ बहुत कम भाषण किया। ऐसे भी गृहस्थ थे जो अवसर मिलने पर अपने नगर या देश से श्रीभगवान् के दर्शन के लिए आते और ऐसे भी भक्त थे जो थोड़े अरसे के लिए आश्रम में आये और तब से उनके शिष्य बन गये, हालाँकि भौतिक रूप से वह हमेशा उनके साथ नहीं रहे। कई ऐसे भी भक्त थे जिन्होंने श्रीभगवान् को कभी नहीं देखा परन्तु उन्होंने दूर से ही मौन दीक्षा प्राप्त की।

श्रीभगवान् पहरावे या व्यवहार में किसी प्रकार की विचित्रता और हर्षातिरेक के प्रदर्शन को निरुत्साहित करते थे। यह पहले ही बताया जा चुका है कि वह किस प्रकार दर्शनों और सिद्धियों के लिए इच्छा को निरुत्साहित करते थे। वह यह चाहते थे कि गृहस्थ लोग परिवार में रहते हुए और अपना व्यावसायिक जीवन व्यतीत करते हुए साधना करें। वह भक्तों के बाह्य रूप में विशेष परिवर्तनों के आकांक्षी नहीं थे क्योंकि इस प्रकार के परिवर्तन ऊपरी ढाँचा हैं, उनका कोई आधार नहीं है और वह बाद में लुप्त हो जाते हैं। वस्तुतः कभी-कभी ऐसा होता था कि कोई भक्त निराश हो जाता, उसे अपने में कोई सुधार दृष्टिगोचर न होता और वह यह शिकायत करता कि वह प्रगति नहीं कर रहा। इन हालातों में भगवान् उसे सान्त्वना देते या व्यंग्य से कहते, "तुम्हें कैसे पता कि तुम्हारी कोई प्रगति नहीं हो रही ?" और वह समझाते हुए कहते कि गुरु को ही शिष्य की प्रगति का पता चलता है, शिष्य को नहीं; शिष्य को चाहिए कि वह धैर्यपूर्वक साधना पथ पर आरूढ़ रहे। यह बड़ा दुर्गम है परन्तु भगवान् के प्रति शिष्यों के प्रेम और उनके सदय हास्य ने इसे सौन्दर्यमय बना दिया था।

मौन जैसे असाधारण मार्ग को वह सदा निरुत्साहित करते थे। कम से कम एक अवसर पर तो श्रीभगवान् ने यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया था।

वेद मन्त्रों के पाठ के बाद, एक सायंकाल एक भक्त ने श्रीभगवान् से कहा, "कल श्री चैडविक भगवान् को एक भेंट देंगे।"

उन्होंने पूछा, "ओह ! वह कौनसी भेंट है ?"

"वह मौनी बनने जा रहे हैं।"

तत्काल ही उन्होंने मौन के विरुद्ध भाषण दिया और कहा कि वाणी सुरक्षा-कपाटी है और इसके परित्याग की अपेक्षा इसका नियन्त्रण श्रेयस्कर है। उन्होंने उन लोगों की हँसी उड़ायी जो अपनी वाणी से बोलना बन्द कर देते हैं और इसके स्थान पर पेंसिल से बोलने लगते हैं। वास्तविक मौन तो हृदय में होता है और भाषण के मध्य भी मौन रहना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार लोगों के बीच एकाकी रहना।

कभी-कभी, यह सत्य है कि उनके कथन को बढ़ा-चढ़ाकर प्रकट किया जाता था। एक पूर्व अध्याय में वर्णित उनके उपदेश के गुह्य स्वरूप के अनुसार, श्रीभगवान् स्पष्ट रूप से बहुत कम किसी चीज का आदेश या निषेध करते थे। किसी असाधारण मार्ग का अवलम्बन करने वाले भक्तों ने उनकी अस्वीकृति को अवश्य अनुभव किया होगा, हालाँकि उन्होंने स्वयं इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने हमेशा ही सभा-भवन से अनुपस्थित रहना शुरू कर दिया। मुझे इस प्रकार का एक प्रसंग स्मरण है। जब एक भक्त महिला का मानसिक सन्तुलन विक्षुब्ध हो गया था, श्रीभगवान् ने स्पष्टतः कहा था "वह मेरे पास क्यों नहीं आती ?" उनके कथन की महत्ता को हृदयंगम करने के लिए हमें यह ध्यान भी रखना होगा कि वह स्पष्ट आदेश देने या किसी को आने या जाने के लिए कहने के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्क थे। अगर कोई उन्हें ऐसा करने का प्रयत्न करता तो वह बड़ी चतुराई से इसका प्रतिकार कर देते थे। उनकी इच्छा का संकेत-मात्र ही अत्यन्त मूल्यवान समझा जाता था।

ऊपर जिस महिला-भक्त का वर्णन किया गया है, वह उनके पास नहीं आयी और कुछ काल के बाद उसका मन अस्थिर हो गया। यही एकमात्र उदाहरण नहीं था। श्रीभगवान् से निःसृत उद्दाम शक्तिपुंज इतना शक्तिशाली था कि इसे सहन करना कठिन था। ऐसा देखने में आता है कि इस प्रकार के उदाहरण में ज्योंही व्यक्ति का मानसिक सन्तुलन जाता रहता, व्यक्ति एकान्त में रहना बन्द कर देता और पुनः आश्रम में आना शुरू कर देता। यह भी देखने में आता कि श्रीभगवान् कभी-कभी ऐसे व्यक्ति को शरारती लड़के की तरह भर्त्सना करते जो किसी ऐसे कार्य में आसक्त हो गया था, जिसका उसे प्रतिरोध करना चाहिए था और जिसका वह प्रतिरोध कर सकता था। बहुत-से उदाहरणों में, उनके प्रभाव के कारण व्यक्ति का संग्राम शुरू हो जाता और वह पुनः सामान्य अवस्था में लौट आता।

यद्यपि इस प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा आवश्यक है इससे यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि इस प्रकार की घटनाएँ हमेशा घटित होती रहती थीं। वह सदा विरल होती थीं।

श्रीभगवान् की विधियों के सम्बन्ध में किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसके अपवाद भी प्रायः मिलते हैं। ऐसे भी उदाहरण थे, जब उनके आदेश सर्वथा स्पष्ट थे, विशेषकर जब कोई व्यक्ति उनके पास अकेला जाता। एक पशुओं के सेवानिवृत्त शल्य चिकित्सक श्री अनन्त नारायण राव ने आश्रम के निकट ही अपना मकान बनवाया था। उन्हें कई बार मद्रास से जरूरी बुलावा आया था जहाँ उनके बहनोई बहुत बीमार थे। एक बार उन्हें इस सम्बन्ध में एक तार मिला। यद्यपि शाम को बहुत देर हो गयी थी, वह इस तार को लेकर सीधे भगवान् के पास गये। पहले कभी श्रीभगवान् ने इस ओर इतना ध्यान नहीं दिया था। परन्तु इस बार उन्होंने कहा, "हाँ, हाँ तुम जरूर जाओ।" और फिर उन्होंने मृत्यु की तुच्छता के सम्बन्ध में बातचीत करना शुरू कर दिया। अनन्त राव घर गये और उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि इस बार यह घातक रोग सिद्ध होगा। वह बहनोई की मृत्यु से दो दिन पूर्व मद्रास पहुँचे।

प्रायः इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी सुनने में आते थे, जैसे एक भक्त से उन्होंने ईशस्तुति के रूप में 'रमण' का उच्चारण करने के लिए कहा था, परन्तु इनकी चर्चा बहुत कम होती थी।

प्रायः भक्त स्वयं निर्णय करता और फिर अस्थायी रूप से इसकी घोषणा करता था। निर्णय उसकी साधना का भाव था। अगर निर्णय ठीक होता तो भगवान् स्वीकृति के रूप में मुस्करा देते, भक्त का हृदय प्रफुल्लित हो उठता; यह एक प्रकार से श्रीभगवान् की संक्षिप्त शाब्दिक स्वीकृति थी। अगर भगवान् को भक्त का निर्णय स्वीकार्य न होता, तो वह भी प्रायः प्रकट हो जाता। एक बार एक गृहस्थ ने तिरुवन्नामलाई छोड़कर किसी दूसरे नगर में, जहाँ उसे पहले से अच्छा काम मिल सके, जाने का निर्णय किया। श्रीभगवान् हँस पड़े और कहने लगे "प्रत्येक व्यक्ति को योजना बनाने की स्वतन्त्रता है।" भक्त की योजना चरित्रार्थ नहीं हुई।

जब देश के एक विख्यात राजनीतिक नेता सभाओं के आयोजन के सिलसिले में मद्रास आये तो उनके एक प्रशंसक आश्रमवासी ने श्रीभगवान् से मद्रास जाने की आज्ञा माँगी। श्रीभगवान् पत्थर की मूर्ति बनकर बैठ गये, मानो उन्होंने कुछ सुना ही न हो। फिर भी आश्रमवासी मद्रास चला गया। वह एक सभा से दूसरी सभा में गया था। या तो वह हमेशा बहुत देर से पहुँचता या फिर उसे प्रवेश नहीं मिलता था। जब वह मद्रास से वापस आया, भगवान्

ने उसे चिढ़ाते हुए कहा, "तो आप बिना आज्ञा लिये मद्रास गये थे ? क्या तुम्हारी यात्रा सफल रही ?" वह अहं से इतने शून्य थे कि वह अपने कार्यों के सम्बन्ध में भी इतनी स्वाभाविकता और निर्वैयक्तिकता से बातचीत या हास-परिहास कर सकते थे, जितनी कि दूसरों के कार्यों के सम्बन्ध में।

भगवान् का कार्य तो भक्तों को परिस्थितिजन्य प्रसन्नता और पीड़ा से, आशा और निराशा से उनकी आन्तरिक प्रसन्नता की ओर उन्मुख करना था। यही व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है। इस सत्य को अनुभव करने वाले कई ऐसे भी भक्त थे जो मानसिक प्रार्थना में भी कभी कुछ नहीं माँगते थे बल्कि इच्छाओं की जन्मदात्री आसक्ति पर विजय पाने का प्रयास करते थे हालाँकि उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली। अगर वह श्रीभगवान् के पास बाह्य लाभों तथा महत्तर प्रेम, महत्तर दृढ़ता और महत्तर प्रज्ञा को छोड़कर किसी अन्य वस्तु के लिए जाते तो यह एक प्रकार की वंचना होती। पीड़ा निवारण का उपाय यह था कि हम अपने से यह प्रश्न करें 'यह पीड़ा किसको होती है ? मैं कौन हूँ ? और इस प्रकार उसके साथ एकरूपता अनुभव करें जो जन्म-मरण और पीड़ाओं से परे है।' अगर कोई व्यक्ति भगवान् के पास इस इरादे से जाता तो उसे शान्ति और शक्ति की प्राप्ति होती।

कुछ ऐसे भक्त भी थे जो भगवान् से सहायता और संरक्षण के लिए कहते थे। वह उन्हें अपना पिता और माता समझते थे और उन्हें किसी भय या पीड़ा की आशंका होती तो वह उनकी शरण में जाते। या तो वह उन्हें पत्र लिख कर इस घटना के बारे में बताते या वह उनसे जहाँ कहीं भी वह होते प्रार्थना करते, और उनकी प्रार्थनाओं का उत्तर मिलता। पीड़ा या भय दूर हो जाते और जहाँ यह सम्भव या लाभप्रद न होता, सहन करने के लिए उनमें अनन्य शान्ति और सहिष्णुता का प्रादुर्भाव हो जाता। उन्हें स्वतः स्फूर्त रूप में यह सहायता आती, श्रीभगवान् की ओर से किसी प्रकार का ऐच्छिक हस्तक्षेप न होता। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसका कारण केवल भक्त का विश्वास था; इसका कारण भक्त के विश्वास के प्रत्युत्तर के रूप में श्रीभगवान् की सहज दयालुता थी।

बिना इच्छा के और कई बार परिस्थितियों के मानसिक ज्ञान के बिना, इस शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में कई भक्त चकित थे। देवराज मुदालियर ने इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार एक बार उन्होंने इस सम्बन्ध में श्रीभगवान् से प्रश्न किया था।

> "अगर ज्ञानियों के समान भगवान् का मन नष्ट हो गया है और उन्हें कोई भेद नहीं दिखायी देता, केवल आत्मा ही दिखायी देती है तो वह किस प्रकार प्रत्येक पृथक् शिष्य या भक्त के साथ व्यवहार कर सकते

और उसके लिए अनुभव कर सकते हैं या कुछ कर सकते हैं ।'' मैंने भगवान् से इस सम्बन्ध में प्रश्न किया और कहा, 'मेरा और यहाँ विद्यमान अनेक भक्तों का यह निजी अनुभव है कि जब हम अपने किसी कष्ट को बहुत अधिक अनुभव करते हैं, और हम चाहे जहाँ कहीं हों भगवान् से इस कष्ट-निवारण के लिए मानसिक रूप से प्रार्थना करते हैं, तो हमें तत्क्षण सहायता मिलती है । एक पुरुष भगवान् के पास आता है । वह उनका कोई पुराना भक्त है । वह भगवान् से अन्तिम बार मिलने के समय से लेकर अब तक की कष्ट-कथा उन्हें सुनाता है; भगवान् बड़े धैर्य और सहानुभूति से उसकी बात सुनते हैं, बीच-बीच में आश्चर्य भी प्रकट करते जाते हैं, 'ओह ! क्या ऐसी बात है ?' और इसी प्रकार के अन्य प्रश्न उससे करते जाते हैं । कथा प्रायः इस प्रकार समाप्त होती है 'जब मेरे सब प्रभाव व्यर्थ हो गये तो अन्त में मैंने भगवान् से प्रार्थना की और केवल भगवान् ने ही मेरी रक्षा की ।' भगवान् यह सब बड़े ध्यान से सुनते हैं और बाद में आने वाले भक्तों से भी इसकी चर्चा करते हैं, 'ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की घटनाएँ अमुक व्यक्ति के साथ भी जब वह हमारे साथ था, घटित हुई थीं ।' हम यह जानते हैं कि भगवान् कभी भी सब कुछ जानने का दावा नहीं करते इसलिए जो कुछ घटित हुआ है, प्रत्यक्षतः वह उससे परिचित नहीं हैं, जब तक कि उन्हें इस सम्बन्ध में बताया न जाये । साथ ही हम यह भी जानते हैं कि जब हम कष्ट में होते हैं और सहायता के लिए पुकारते हैं, वह हमारी पुकार सुनते हैं और किसी न किसी रूप में हमारी सहायता करते हैं, अगर किसी कारण से यह कष्ट टाला नहीं जा सकता या इसे कम नहीं किया जा सकता तो वह हमें इस कष्ट को सहन करने की शक्ति या अन्य सुविधाएँ प्रदान करते हैं । जब मैंने यह बातें भगवान् के सम्मुख रखीं तो उन्होंने उत्तर दिया, ''हाँ, यह सब स्वतः होता है ।''

एक दूसरे भक्त ने इसी विषय पर भगवान् से प्रश्न किया और उन्होंने और अधिक निश्चय के साथ उत्तर दिया; ''इतना ही पर्याप्त है कि ज्ञानी का मन किसी ओर प्रेरित हो और दैवी क्रिया स्वतः प्रारम्भ हो जाती है ।''

श्रीभगवान् स्वेच्छा से अति प्राकृतिक सिद्धियों का प्रयोग बहुत कम करते थे, यदि कभी वह इनका प्रयोग करते तो उनकी दीक्षा और उपदेश की तरह इनका प्रयोग भी गुप्त होता था । भगवान् के भक्तों में, राजगोपाल ऐय्यर नाम के एक गृहस्थ भी थे । उनके एक पुत्र था, जिसकी आयु लगभग तीन वर्ष की थी । उसका नाम रमण रखा गया था । वह चंचल और प्रफुल्लित बालक प्रतिदिन दौड़कर जाता और श्रीभगवान् के आगे दण्डवत् प्रणाम किया करता

था। एक सायंकाल, जब भक्तजन रात होने पर अपने स्थानों पर चले गये तो बच्चे को एक साँप ने काट लिया। राजगोपाल ऐय्यर ने बच्चे को उठा लिया और वह सीधे दौड़ते हुए सभा-भवन की ओर गये। जिस समय वह वहाँ पहुँचे बच्चे का शरीर नीला पड़ चुका था और उसकी साँस जोर-जोर से चल रही थी। श्रीभगवान् ने बच्चे के मस्तक पर हाथ रखते हुए कहा, ''रमण, तुम तो बिलकुल ठीक हो।'' और वह बिलकुल ठीक हो गया। राजगोपाल ऐय्यर ने कुछ भक्तों को यह घटना बतायी, परन्तु इसके सम्बन्ध में बहुत चर्चा नहीं हुई।

भगवान् से वर माँगना और अपने संरक्षण तथा कल्याण के लिए उन पर निर्भर करना यद्यपि एक जैसी बातें मालूम देती हैं, तथा उनमें हमें भेद करना चाहिए। संरक्षण तथा कल्याण के लिए भगवान् पर निर्भर रहने को वह निस्सन्देह स्वीकृति प्रदान करते थे। अगर कोई व्यक्ति अपने कल्याण का भार उन पर डाल देता था तो वह इसे स्वीकार कर लेते थे। गुरु के प्रति शिष्य की वृत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने अरुणाचलशिव में लिखा, ''क्या तूने मुझे अन्दर नहीं बुलाया ? मैं अन्दर आ चुका हूँ और मेरी रक्षा का भार अब तुझ पर है। एक बार एक भक्त की प्रार्थना पर उन्होंने भगवद्गीता से ४२ श्लोक चुने और अपनी शिक्षा की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें एक भिन्न क्रम में रखा; उन श्लोकों में एक श्लोक का भाव इस प्रकार या, ''मैं उन भक्तों की रक्षा और कल्याण सम्पादन करता हूँ, जो समस्त सृष्टि को एक रूप समझते हुए मेरा चिन्तन करते हैं और इस प्रकार सदा समरस स्थिति में रहते हैं। कठिन परीक्षा और भक्त के विश्वास को कसौटी पर कसने वाली असुरक्षा की घड़ियों में, जो भक्त भगवान् में अपना पूर्ण विश्वास रखता है, भगवान् सदा उसकी रक्षा करते हैं।''

सोलहवाँ अध्याय

लिखित रचनाएँ

श्रीभगवान् की लिखिए रचनाएँ बहुत थोड़ी हैं और ये भी प्रायः भक्तों की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिखी गयी थीं। देवराज मुदालियर ने अपनी डायरी में लिखा है कि एक बार एक कवि महानुभाव आश्रम में आये थे; उनके सम्बन्ध में चर्चा करते हुए भगवान् ने कहा था :

> "यह सब केवल मन का कार्य है। जितना अधिक आप मन को गतिमान रखेंगे और जितनी अधिक सफलता आपको काव्य रचना में मिलेगी, उतनी अधिक आपकी शान्ति कम होती जायेगी। अगर आपको शान्ति नहीं मिलती तो इस प्रकार की प्रवीणता प्राप्त करने का क्या लाभ? परन्तु अगर आप ऐसे लोगों को यह बात कहें तो उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; वह शान्त नहीं रह सकते। वह गीत-रचना जारी रखेंगे। मेरा मन पुस्तकें लिखने या कविता-रचना करने को नहीं करता। मैंने जितनी भी कविताएँ रची हैं, वह किसी विशेष घटना के सम्बन्ध में किसी न किसी की प्रार्थना पर रची गयी थीं। **फॉर्टी वर्सिज ऑन रिऐलिटी** की भी, जिसकी इतनी टीकाएँ और अनुवाद अब मिलते हैं, पुस्तक के रूप में योजना नहीं बनायी गयी थी। अपितु उसमें विभिन्न समयों पर रचित कविताएँ हैं और बाद में मुरुगानार तथा अन्य भक्तो ने इसे पुस्तक का रूप दिया। जो कविताएँ स्वतः स्फूर्त रूप में रची गयीं और जिन्हें लिखने की मुझे किसी दूसरे ने प्रेरणा नहीं दी वह **इलैविन स्टेंजाज टू श्री अरुणाचल** और **एट स्टेंजाज टू श्री अरुणाचल** हैं। इलैविन स्टेंजाज के प्रारम्भिक शब्द एक प्रातःकाल मेरे मन में आये और यद्यपि मैंने यह कहकर 'मुझे इन शब्दों का क्या करना है?' उन्हें दबाने का प्रयत्न किया, वह दबाये नहीं जा सके, और उन शब्दों से मैंने एक गीत की रचना कर डाली और सारे शब्द बिना किसी प्रयास के स्वतः ही मेरी जबान पर आते गये। इसी प्रकार अगले दिन दूसरे पद की रचना हुई और इसके बाद प्रतिदिन एक पद की रचना होती गयी। केवल १०वाँ और ११वाँ पद उसी दिन बनाये गये।"

श्रीभगवान् ने अपनी विलक्षण स्पष्ट शैली में यह बताना जारी रखा कि किस प्रकार उन्होंने **ऐट स्टेंजाज** की रचना की।

"अगले दिन मैंने पहाड़ी के चारों ओर जाना शुरू किया। पलानी स्वामी मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे। जब हम कुछ दूर निकल गये, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि ऐजास्वामी उन्हें वापस बुला रहे हैं और एक पेंसिल तथा कागज देते हुए कह रहे हैं, 'कई दिन से स्वामीजी प्रतिदिन कविता कर रहे हैं। वह आज भी कविता रचेंगे, इसलिए आप यह कागज और पेंसिल अपने पास रख लें।'

"मुझे इस बात का केवल तब पता चला जब मैंने यह देखा कि पलानी स्वामी थोड़ी देर के लिए मेरे साथ नहीं थे, बल्कि वह बाद में मेरे साथ आकर मिले। उस दिन विरूपाक्ष कन्दरा में जाने से पूर्व मैंने आठ पदों में से छः की रचना की। या तो उस सायंकाल या अगले दिन नारायण रेड्डी आये। उस समय वह वैल्लौर में सिंगर एण्ड कम्पनी के एजेण्ट थे और अक्सर मेरे पास आया करते थे। ऐजास्वामी और पलानी ने उन्हें कविताओं के सम्बन्ध में बताया और उन्होंने कहा, "आप तत्काल ही वे कविताएँ मुझे दे दें, मैं उन्हें छपाऊँगा।' उन्होंने पहले ही कई पुस्तकें प्रकाशित की थीं। जब उन्होंने कविताएँ लेने का आग्रह किया तो मैंने उन्हें आज्ञा दे दी और कहा कि वह पहली ११ कविताएँ एक कविता के रूप में प्रकाशित करें और शेष जो कि भिन्न छन्द में थीं दूसरी कविता के रूप में। गणना-पूर्ति के लिए मैंने तत्काल ही दो और पदों की रचना की और वे सारे उन्नीस पद प्रकाशित करने के लिए अपने साथ ले गये।"

अनेक कवियों ने श्रीभगवान् की प्रशस्ति में विभिन्न भाषाओं में गीतों की रचना की। इनमें से गणपति शास्त्री और मुरुगानार बहुत प्रसिद्ध थे जिन्होंने क्रमशः संस्कृत और तमिल में रचनाएँ कीं। यद्यपि उपरि उद्धृत वार्तालाप में श्रीभगवान् कविता-लेखन को शक्ति का अपव्यय समझते थे और कहा करते थे कि इस शक्ति को आन्तरिक साधना की ओर प्रेरित किया जा सकता है तथापि वह बड़े ध्यान से कविताएँ सुनते थे और जब उनके सम्मुख कविता-पाठ किया जाता था, वह इसमें बड़ी दिलचस्पी प्रदर्शित करते थे। उनके सम्बन्ध में गद्य ग्रन्थ तथा लेख लिखे गये और वह प्रायः उन्हें पढ़वाते तथा उनका अनुवाद करते ताकि सभी लोग उन्हें समझ सकें। प्रत्येक व्यक्ति उनकी अहंभाव शून्यता और बाल-सुलभ सरलता से अत्यधिक प्रभावित होता था।

दो गद्य-ग्रन्थ हैं, जिनके सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि उनकी रचना श्रीभगवान् ने की थी। विरूपाक्ष-निवास के प्रारम्भिक वर्षों में जब वह

अब भी मौन धारण किये हुए थे उन्होंने विभिन्न अवसरों पर गम्बीरम शेषाय्यार के लिए शिक्षाएँ लिखीं और उसके देहावसान के बाद इन लेखों को क्रमबद्ध किया गया तथा **सैल्फ इन्क्वाइरी** के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। इसी प्रकार उसी अवधि में शिवप्रकाशम् पिल्लई को दिये गये उनके उत्तरों को विस्तृत रूप प्रदान किया गया और वह **हू एम आई** ? नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित किये गये। आश्रम द्वारा प्रकाशित अन्य गद्य पुस्तकें श्रीभगवान् द्वारा नहीं लिखी गयी थीं बल्कि भक्तों के प्रश्नों के उत्तर रूप में उन्होंने जो मौखिक व्याख्याएँ कीं वह उनका संग्रह हैं और इसीलिए वह सभी वार्तालाप के रूप में हैं।

उनकी कविताएँ दो वर्गों में विभाजित हैं : एक तो वे जो भक्ति अर्थात् प्रेम और उपासना के माध्यम से जीवन-धारा की अभिव्यक्ति करती हैं और दूसरी वे जो अधिक सैद्धान्तिक हैं। पहले वर्ग में **फाइव हिम्स टू श्री अरुणाचल** है, यह सभी स्तोत्र विरूपाक्ष-निवास की अवधि में लिखे गये थे। इनका भक्ति-तत्त्व अद्वैत के परित्याग के लिए नहीं कहता बल्कि वह पूर्णतः ज्ञान-संपृक्त है। वे भक्त के दृष्टिकोण से लिखे गये थे, हालाँकि जिसने उन्हें लिखा वह परम ज्ञान और भगवद्-मिलन के आनन्द की स्थिति में प्रतिष्ठित था, मिलन-उत्कण्ठा की पीड़ा उसमें नहीं थी। इसीलिए यह भक्त के हृदय को अधिक प्रभावित करते हैं।

दो पुस्तकों—**ऐट स्टेंजाज** और **इलैविन स्टेंजाज** का पहले वर्णन किया जा चुका है। दूसरी पुस्तक में श्रीभगवान् ने न केवल भक्त के रूप में लिखा बल्कि वस्तुतः इन शब्दों का प्रयोग किया, "वह व्यक्ति जिसने अभी परम ज्ञान प्राप्त नहीं किया।" भगवान् के एक भक्त श्री ए० बोस ने इस बात की स्पष्ट पुष्टि के लिए उनसे पूछा कि उन्होंने ऐसा क्यों लिखा, क्या यह भक्तों के दृष्टिकोण से और उनके लिए था। श्रीभगवान् ने स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा कि बात वस्तुतः ऐसी है।

फाइव हिम्स का अन्तिम पद श्रीभगवान् ने पहले संस्कृत में लिखा और बाद में तमिल में इसका अनुवाद किया। इसके लेखन की कहानी आश्चर्य में डालने वाली है। गणपति शास्त्री ने उनसे संस्कृत में कविता लिखने के लिए कहा और उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया कि वह संस्कृत व्याकरण के मूल नियमों और संस्कृत छन्दों से अनभिज्ञ हैं। शास्त्रीजी ने भगवान् को संस्कृत का एक छन्द समझाया और उनसे प्रार्थना की कि वह इस छन्द में कविता करने का प्रयास करें। उसी सायंकाल उन्होंने संस्कृत में पाँच श्लोकों की रचना की। उनका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :

अमृत के सागर, दयानिधि, अपने प्रकाश से विश्व को व्याप्त करने

वाले अरुणाचल, तूँ सूर्य के समान मेरे हृदय-कमल को आनन्द में विकसित कर।

हे अरुणाचल! तुझ में ही संसार का निर्माण, स्थिति और लय है। इस पहेली में सत्य का आश्चर्य निहित है। तूँ ही अन्तरात्मा है जो हृदयों में 'मैं' के रूप में नृत्य करता है। हे भगवान्! हृदय ही तेरा नाम है।

हे अरुणाचल! जो व्यक्ति शान्त मन से यह जानने के लिए अन्तराभिमुख होता है कि 'अहं' की चेतना कहाँ से उत्पन्न होती है, वह आत्मा को जान लेता है और जिस प्रकार नदी समुद्र में लय हो जाती है उसी प्रकार वह तुझ में लय हो जाता है।

हे अरुणाचल! योगी बाह्य संसार का परित्याग करके, तेरा चिन्तन करने के लिए मन और प्राण पर नियन्त्रण करके, तेरे प्रकाश के दर्शन करता है और आनन्द विभोर हो उठता है।

हे अरुणाचल! जो व्यक्ति अपना मन तुझे समर्पित कर देता है और सदा तुझे दृष्टिसम्मुख रखते हुए विश्व को तेरा रूप समझता है, जो सदा तेरी प्रशस्ति करता है और तुझे आत्मा समझकर तुझसे स्नेह करता है, वह ऐसा शिक्षक है जिसके समान कोई दूसरा नहीं, वह तेरे साथ एकरूप है और तेरे आनन्द में लीन है।

ये स्तोत्र अन्य चार की अपेक्षा अधिक सैद्धान्तिक हैं और साधना के तीन मुख्य मार्गों का वर्णन करते हैं। बाद में इनके सम्बन्ध में चर्चा करते हुए श्रीभगवान् ने कहा, "तीसरे स्तोत्र में **सत्**, चौथे में **चित्** और पाँचवें में **आनन्द** के सम्बन्ध में बताया गया है। ज्ञानी सत् या सत्ता के साथ उसी प्रकार एक-रूप हो जाता है, जिस प्रकार नदी समुद्र के साथ। योगी **चित्** के प्रकाश को देखता है। भक्त या कर्मयोगी आनन्द के समुद्र में निमग्न रहता है।

पाँचों स्तोत्रों में से सर्वाधिक हृदयस्पर्शी और प्रिय **मैरीटल गारलैंड ऑफ ए हंड्रेड एण्ड एट वर्सिज टू श्री अरुणाचल** या **अरुणाचलशिव** है। श्रीभगवान् के विरूपाक्ष-वास काल के प्रारम्भिक वर्षों में पलानीस्वामी तथा अन्य भक्त नगर में भक्तों के लिए भिक्षा माँगने जाया करते थे। एक दिन जब वे भिक्षाटन के लिए जाने लगे उन्होंने श्रीभगवान् से एक भक्ति-गीत गाने के लिए कहा। उन्होंने उत्तर दिया कि ऋषियों ने कई सुन्दर गीतों की रचना की है इसलिए किसी नवीन गीत-रचना की अब कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी भक्तों ने उनसे अनुनय करना जारी रखा। कुछ दिनों बाद पेंसिल और कागज लेकर उन्होंने पहाड़ी की प्रदक्षिणा प्रारम्भ की और प्रदक्षिणा करते समय १०८ पदों की रचना की।

जैसे-जैसे श्रीभगवान् यह गीत लिखते जाते थे उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु बहते जाते थे। कई बार उनकी आँखों के आगे धुन्ध छा जाता था और गला रुँध जाता था। भक्तों के लिए यह कविता महान भक्ति स्फुरणा का स्रोत बन गयी। इसके सुन्दर प्रतीकों में मिलन-उत्कण्ठा की पीड़ा और उत्कण्ठापूर्ति का आनन्द प्रतिबिम्बित है। ज्ञान की पूर्णता के साथ-साथ भक्ति का आनन्दातिरेक है। परन्तु यह सर्वाधिक मार्मिक कविता जिज्ञासु भक्त के दृष्टिकोण से लिखी गयी थी। इस कविता के १०८ पद तमिल वर्णमाला के क्रमिक अक्षरों से प्रारम्भ होते हैं। अन्य कोई कविता इतनी अधिक स्वतःस्फूर्त नहीं है। कई भक्तों ने श्रीभगवान् से कुछ पदों की व्याख्या करने के लिए कहा और उन्होंने उत्तर दिया : "आप भी इस पर विचार करें और मैं भी विचार करूँगा। मैंने इसकी रचना करते समय इस पर विचार नहीं किया; जैसे-जैसे भाव मेरे मन में आते गये तैसे-तैसे मैं उन्हें लिपिबद्ध करता गया।"

हे अरुणाचल ! मेरे घर में प्रवेश करके और मुझे आकर्षित करके, तू मुझे अपनी हृदय-गुहा में कैदी क्यों बनाये हुए है ?

क्या तूने अपनी प्रसन्नता के लिए या मेरे लिए मेरे हृदय को जीता ? हे अरुणाचल, अगर अब तू मुझे दूर हटा देगा तो संसार तुझे दोषी ठहराएगा।

हे अरुणाचल ! इस दोष को अपने पर आरोपित न होने दो। तुम बार-बार मुझे क्यों स्मरण आते हो ? मैं तुम्हें अब कैसे छोड़ सकता हूँ ?

हे अरुणाचल ! तुम माता से भी बढ़कर दयालु हो। हे अरुणाचल ! क्या यह तेरा प्रेम है ?

हे अरुणाचल ! मेरे मन में सदा विराजमान रहो ताकि कहीं मेरा मन पथभ्रष्ट न हो पाये।

हे अरुणाचल ! अपने सौन्दर्य को उद्घाटित करो ताकि मेरा चंचल मन तुम्हारे दर्शन कर सके और उसे शान्ति का वरदान प्राप्त हो ?

हे अरुणाचल ! मुझे अपने प्रेम-पाश में आबद्ध कर लेने के बाद अगर तू मुझे अब अपने चरणों में शरण नहीं देगा तो तेरी वीरता कहाँ गयी ?

हे अरुणाचल ! जब दूसरे मुझे अपमानित कर रहे हैं, आपको इस प्रकार सोना क्या शोभा देता है ?

हे अरुणाचल ! जब पाँच इन्द्रियों के चोर मुझमें आ घुसे हैं, क्या आप अब भी मेरे मन में विराजमान नहीं हैं ?

हे अरुणाचल ! तू एक है, तेरे समान कोई दूसरा नहीं है, तब

तुम्हें धोखा देकर, मेरे अन्दर कौन प्रवेश कर सकता है ? यह तो केवल तेरी जादूगरी है।

एक पौराणिक कथा है कि एक बार ऋषियों की एक मण्डली अपने परिवारों के साथ वन में कर्मकाण्ड, भक्ति के क्रियाकलापों तथा मन्त्रसिद्धि में लीन थी। इसके द्वारा उन ऋषियों ने अति प्राकृतिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इस प्रकार वह मोक्ष-प्राप्ति की आशा करते थे। यहाँ वह गलती पर थे। उन्हें उनकी गलती का दण्ड देने के लिए, भगवान् शिव एक भिक्षुक के रूप में प्रकट हुए। उनके साथ मोहिनी के रूप में विष्णु भी थे। सभी ऋषि मोहिनी के और उनकी पत्नियाँ शिव के प्रेमपाश में आबद्ध हो गयीं। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका मानसिक सन्तुलन जाता रहा और उनकी सिद्धियाँ लुप्त होने लगीं। ऐसा देखकर उन्होंने यह निर्णय किया कि शिव उनका शत्रु है। उन्होंने सर्पों, चीते और हाथी को ऐन्द्रजालिक क्रिया से अपने वश में किया और शिव के विरुद्ध भेजा। शिव ने सर्पों की तो माला बना ली और चीते तथा हाथी की हत्या करके चीते की खाल की लँगोटी बना ली और हाथी की खाल को वह शाल के रूप में प्रयोग करने लगे। ऋषियों ने शिव की महान् शक्ति को पहचाना, उनके सम्मुख नतमस्तक हुए और उनसे उपदेश देने की प्रार्थना की। फिर शिव ने ऋषियों को उनकी गलती बतायी कि कर्म द्वारा कर्म-बन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता, कर्म तो साधन है, सृष्टि का कारण नहीं। कर्म से परे चिन्तन की ओर जाना आवश्यक है।

कवि और भक्त मुरुगानार ने तमिल कविता में इस कहानी को लिखा, परन्तु जब वह उस स्थल पर पहुँचे जहाँ शिव ऋषियों को उपदेश देते हैं, उन्होंने भगवान् से पूछा कि इसे लिखने वाला शिव का अवतार कौन है। इस पर भगवान् ने **उपदेश सारम्** की रचना की। इसमें उन्होंने प्रारम्भ में निस्वार्थ कार्य की चर्चा की और कहा कि यह लाभदायक है। परन्तु मन्त्रोच्चारण अधिक लाभदायक है और मौन मन्त्रोच्चारण उच्च स्वर से किये जाने वाले मन्त्रोच्चारण से अधिक प्रभावशाली है। शान्त चिन्तन इससे भी अधिक प्रभावशाली है। श्रीभगवान् ने तीस पदों का संस्कृत में अनुवाद किया और इस संस्कृत रूपान्तर को धर्मग्रन्थ का महत्त्व दिया जाता है। प्रतिदिन वेद-मन्त्रों के साथ-साथ श्रीभगवान् के सम्मुख इसका भी गान होता था और अब उनकी समाधि के सम्मुख इसका गान होता है।

श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त इस कविता में तथा **उल्लादु नरपदु** या सत्ता सम्बन्धी चालीस पदों में, जिसमें चालीस पदों का एक अन्य परिशिष्ट भी सम्मिलित है, विस्तृत रूप से वर्णित है।

सत्ता के सम्बन्ध में चालीस पदों के अनेक अनुवाद हुए हैं और इस पर

टीकाएँ लिखी गयी हैं। इसमें सार्वलौकिकता और बुद्धिमत्ता की भावना निहित है, जिसकी टीका की आवश्यकता है। जैसा कि उपरि उद्धृत वार्तालाप में श्रीभगवान् ने बताया यह एक सतत कविता के रूप में नहीं लिखा था अपितु पदों की रचना भिन्न-भिन्न समयों पर हुई थी। परिशिष्ट के चालीस पदों में से कुछ की रचना स्वयं श्रीभगवान् ने नहीं की थी, बल्कि उन्होंने इन्हें अन्य स्रोतों से लिया, क्योंकि उन्हें जहाँ पहले ही कहीं पूर्ण पद दृष्टिगत हुआ उन्होंने नये पद की रचना करना आवश्यक नहीं समझा तथापि सम्पूर्ण रचना उनके सिद्धान्त का पूर्ण और विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन है।

इन दो वर्गों के अतिरिक्त कुछ छोटी कविताएँ भी हैं। उनमें हास्य का अभाव नहीं है। एक कविता में, दक्षिण भारतीय स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ **पोप्पादुम** के लिए आवश्यक नुस्खे के प्रतीक का आश्रय लेते हुए साधना के सम्बन्ध में निर्देश दिये गये हैं। एक दिन श्रीभगवान् की माताजी पोप्पादुम बना रही थीं। उन्होंने भगवान् से इस कार्य में हाथ बँटाने के लिए कहा। उन्होंने तत्काल ही अपनी माताजी के लिए प्रतीकात्मक नुस्खा लिखा।

कवि अव्वायार ने एक बार पेट के विरुद्ध शिकायत लिखी : "तुम एक दिन भी बिना भोजन के नहीं रह सकते; न ही तुम एक वक्त में दो दिन का इकट्ठा भोजन कर सकते हो। ओह ! अभागे पेट ! मुझे तुम्हारे कारण जो कष्ट उठाना पड़ता है उसका तुम अनुमान नहीं लगा सकते। तुम्हारे साथ निर्वाह करना कठिन है !"

एक दिन आश्रम में सहभोज हुआ। सभी लोग थोड़ी बहुत परेशानी अनुभव कर रहे थे। श्रीभगवान् ने अव्वायार की कविता को हास्य रूप देते हुए कहा, "ऐ पेट ! तुम मुझे एक घण्टे के लिए भी आराम नहीं लेने दोगे। प्रतिदिन प्रति घण्टे तुम्हारा खाना जारी है। ओ परेशानी पैदा करने वाले अहं ! तुम्हारे कारण मुझे कितना कष्ट उठाना पड़ता है, इसका तुम अनुमान नहीं लगा सकते ! तुम्हारे साथ निर्वाह करना असम्भव है।"

सन् १९४७ में श्रीभगवान् ने अपनी अन्तिम कविता लिखी। इस बार यह कविता किसी की प्रार्थना पर नहीं लिखी गयी थी, परन्तु इससे असाधारण कौशल प्रकट होता था, क्योंकि पहले उन्होंने इसे तमिल छन्द में तेलुगु में लिखा और फिर इसका तमिल में अनुवाद किया। इसका नाम उन्होंने **एकात्मापंचकम्** रखा।

> आत्मा को भूलना, शरीर को गलती से आत्मा समझना, असंख्य जन्म धारण करना और अन्त में आत्मा को पाना और आत्मरूप बनना —यह सारे संसार की परिक्रमा के स्वप्न से जागने के समान है।
>
> जो व्यक्ति आत्मरूप होते हुए यह पूछता है कि 'मैं कौन हूँ ?'

वह उस शराबी के समान है जो अपने स्वरूप और स्थिति के सम्बन्ध में पूछता है ।

जबकि तथ्यतः शरीर आत्मा में है, यह सोचना कि आत्मा इस निर्जीव शरीर में है, यह सोचने के समान है कि सिनेमा का पर्दा जिस पर चित्र आता है, चित्र के अन्दर है ।

क्या आभूषण की, सोने के अतिरिक्त जिसका वह बना हुआ है, पृथक् सत्ता है ? आत्मा से पृथक् शरीर की सत्ता कहाँ है ? अज्ञानी शरीर को आत्मा समझ लेते हैं परन्तु ज्ञानी अर्थात् आत्मज्ञाता आत्मा को आत्मा रूप में जानता है ।

वह एक आत्मा, वास्तविक सत्ता सदा के लिए विराजमान है । अगर आदि गुरु दक्षिणामूर्ति ने मौन रूप से यह उपदेश दिया था तो इसे वाणी में कौन प्रकट कर सकता है ?

कुछ अनुवाद भी श्रीभगवान् ने किये हैं, ये मुख्यतः शंकराचार्य के ग्रन्थों के हैं । एक बार विरूपाक्ष कन्दरा में आने वाले एक अभ्यागत शंकराचार्य रचित **विवेकचूड़ामणि** की एक प्रति वहीं छोड़ गये थे । इस ग्रन्थ को देखने के बाद, श्रीभगवान् ने गम्बीरम शेषाय्यार से इसका अध्ययन करने के लिए कहा । वह संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिए वह इसे तमिल में चाहते थे । पलानी स्वामी को उपरोक्त पुस्तक का तमिल संस्करण कहीं से उधार मिल गया । जब शेषाय्यार ने इस तमिल संस्करण को देखा तो उन्होंने प्रकाशक को इसकी एक प्रति भेजने के लिए कहा । परन्तु उन्हें यह उत्तर मिला कि पुस्तक अमुद्रित है इसलिए उन्होंने श्रीभगवान् से इसका सरल तमिल गद्य में अनुवाद करने के लिए कहा । श्रीभगवान् ने लिखना प्रारम्भ कर दिया । परन्तु जैसे ही उन्होंने कुछ कार्य सम्पन्न किया, शेषाय्यार ने जो पद्य संस्करण मँगाया था, वह भी आ गया, इसलिए उन्होंने यह काम अधूरा ही छोड़ दिया । कुछ वर्ष बाद, एक-दूसरे भक्त की प्रार्थना पर उन्होंने यह काम फिर हाथ में लिया और इसे पूरा किया । भक्त ने श्रीभगवान् से यह कहा कि इस कार्य की पूर्ति का आग्रह उसने प्रकाशन के उद्देश्य से किया था । इस पर श्रीभगवान् ने एक प्रस्तावना लिखी कि यद्यपि तमिल पद्यानुवाद पहले से विद्यमान है, एक स्वतन्त्र तमिल अनुवाद का भी अपना महत्त्व है । स्वयं प्रस्तावना में पुस्तक का सार निहित है, सिद्धान्त तथा मार्ग की संक्षिप्त व्याख्या है ।

उनकी अन्तिम कृति शंकराचार्य रचित **आत्म बोध** का तमिल अनुवाद था । यह पुस्तक प्रारम्भिक दिनों में विरूपाक्ष में उनके पास थी परन्तु उन्होंने इसका अनुवाद करने के विषय में कभी नहीं सोचा था । सन् १९४९ में एक तमिल अनुवाद, जो सम्भवतः बहुत पूर्ण नहीं था, आश्रम भेजा गया । कुछ

काल बाद श्रीभगवान् को स्वयं उसका अनुवाद करने की प्रेरणा हुई। कुछ दिन तक उन्होंने इसकी उपेक्षा की परन्तु अनुवाद के शब्द एक-एक पद्य करके स्वयं उनके सम्मुख आते गये, मानो वे पहले से लिखे गये हैं। उन्होंने कागज पेंसिल मँगायी और उन्हें लिख लिया। यह सब कार्य इतना अनायास संयत हो गया कि उन्होंने हँसते हुए कहा कि उन्हें इसका भय था कि कोई लेखक आकर यह दावा न करने लगे कि यह कृति वस्तुतः उसकी है और श्रीभगवान् ने उसकी नकल की है।

श्रीभगवान् की रचनाओं में भगवद्गीता के ४२ श्लोकों का संकलन भी था, जिसका चयन और पुनः संयोजन उन्होंने अपनी शिक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए एक भक्त की प्रार्थना पर किया था। इस पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी में **दी सांग सिलैस्टियल** के नाम से हुआ है।

सत्रहवाँ अध्याय

महासमाधि

देहावसान से कुछ वर्ष पूर्व, सन् १९४७ के बाद से श्रीभगवान् का स्वास्थ्य चिन्ता का विषय बन गया था। गठिया ने न केवल उनकी टाँगों को निर्बल कर दिया था बल्कि उनकी पीठ और कंधों पर भी इसका प्रभाव पड़ा था। वे बहुत दुर्बल दिखायी देते थे, परन्तु उन्हें इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी। ऐसा अनुभव किया गया कि उन्हें आश्रम के भोजन की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है परन्तु वह कोई भी अतिरिक्त चीज लेने के लिए तैयार नहीं थे।

अभी वे सत्तर साल के भी नहीं हुए थे परन्तु इससे बहुत अधिक बूढ़े दिखायी देते थे। वह चिन्ता जर्जरित नहीं थे, क्योंकि चिन्ता का कोई चिह्न ही उनमें दिखायी नहीं देता था, उन्होंने कभी चिन्ता की ही नहीं थी। वे अत्यन्त वृद्ध और दुर्बल हो गये थे। इसका क्या कारण है कि जो व्यक्ति इतना स्वस्थ और स्फूर्तिमान था, जिसने कभी रोग, शोक और चिन्ता की परवाह ही न की थी। वह अपनी आयु से भी अधिक वृद्ध दिखायी देता था। इसका कारण यह है कि उन्होंने संसार के पापों को स्वयं अपने ऊपर ले लिया था—उन्होंने अपने भक्तों के कर्म-बन्धन को शिथिल कर दिया था—शिव भगवान् संसार को विनाश से इसीलिए बचा सके क्योंकि उन्होंने स्वयं विषपान किया था। श्री शंकराचार्य ने लिखा था, "हे शम्भु जीवनदाता तू अपने भक्तों के सांसारिक जीवन के भार को भी वहन किये हुए है।"

ऐसे अनेक भौतिक रूप से अस्पष्ट लक्षण थे, जो यह प्रदर्शित करते थे कि भगवान् संसार का भार वहन किये हुए हैं। एक भक्त ने, जिसका नाम कृष्ण-मूर्ति है, महिला भक्त जानकी अम्माल द्वारा प्रसारित तमिल पत्रिका में लिखा है कि एक दिन भगवान् को तर्जनी अँगुली में भीषण पीड़ा हुई और वे सभा-भवन में जाकर बैठ गये। कृष्णमूर्ति ने इसकी चर्चा किसी से नहीं की, परन्तु उसे यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि श्रीभगवान् अपनी तर्जनी को अपने हाथ पर रगड़ रहे हैं और उनकी पीड़ा दूर हो गयी है। अन्य बहुत-से लोगों को भी इस प्रकार पीड़ा से मुक्ति मिली है।

श्रीभगवान् के लिए इस पृथ्वी पर जीवन कोई ऐसा कोष नहीं था जिसे बचाकर रखा जाय। वह इस तथ्य के प्रति पूर्णतः उदासीन थे कि यह उनका शरीर कितनी अवधि तक रहता है। एक बार सभा-भवन में इस सम्बन्ध में विवाद हुआ कि वे कितना अरसा जीवित रहेंगे। कई व्यक्तियों ने ज्योतिषियों का उद्धरण देते हुए कहा कि वह ८० वर्ष तक जीवित रहेंगे; दूसरे व्यक्तियों ने या तो ज्योतिष की इस शुद्धता को मानने से इन्कार कर दिया या वे यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि यह श्रीभगवान् पर लागू होता है क्योंकि उनका तो कोई कर्म शेष रह ही नहीं गया था। उन्होंने मुस्कराते हुए इस विवाद को सुना परन्तु इसमें भाग नहीं लिया। एक नवागन्तुक ने, जो इस विवाद को देखकर स्तब्ध हो उठा था, पूछा, "भगवान् का इस सम्बन्ध में क्या विचार है ?" उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया परन्तु जब देवराज मुदालियर ने उनकी ओर से उत्तर दिया कि "भगवान् इस सम्बन्ध में सोचते ही नहीं हैं" तो वह स्वीकृति के रूप में मुस्करा दिये। उनके जीवन के सम्पूर्ण अन्तिम वर्ष से यह बात प्रमाणित होती है। भक्त उनकी पीड़ा से शोकातुर थे और उनकी सन्निकट मृत्यु से विह्वल थे, परन्तु उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

सन् १९४९ के प्रारम्भ में उनकी बायीं भुजा की कोहनी के नीचे एक छोटी गाँठ निकल आयी। उसे भयंकर नहीं समझा गया और फरवरी में आश्रम के डाक्टर ने इसे काट दिया। एक महीने में यह फिर उभर आयी, पहले से भी अधिक बड़ी और पीड़ादायक, और इस बार भक्तों को यह पता चला कि यह तो घातक रसौली है। इससे लोगों में चिन्ता फैल गयी। मार्च के अन्त तक मद्रास से डाक्टर आये और उन्होंने इसका आपरेशन कर दिया। घाव को ठीक तरह से आराम नहीं आया। यह रसौली जल्दी ही फिर उभर आयी, पहले से भी बड़ी और अधिक ऊँची।

इसके बाद आश्रम में शोक का वातावरण छा गया। भक्तों को इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि अब भगवान् का अन्त निकट है। कट्टरपन्थी डाक्टरों ने कह दिया कि वह रसौली का उपचार नहीं कर सकते, केवल आपरेशन ही कर सकते हैं और यह रेडियम उपचार के बावजूद फिर उभर सकती है। अगर यह रसौली फिर उभरी तो यह प्राणघातक सिद्ध होगी। अन्य चिकित्सा-पद्धतियों को मानने वाले डाक्टरों का यह ख्याल था कि वह रसौली का इलाज कर सकते हैं, आपरेशन से तो यह पुनः भयंकर रूप में प्रकट हो जायेगी, जैसा कि आगे चलकर हुआ भी परन्तु इन डाक्टरों को परीक्षा का अवसर ही नहीं दिया गया।

जब मार्च में आपरेशन के बाद रसौली फिर निकल आयी, डाक्टरों ने भुजा काटने का सुझाव दिया। परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार ज्ञानी का

शरीर विकृत नहीं किया जाना चाहिए। वस्तुतः इसे धातु से भी नहीं छेदा जाना चाहिए और आपरेशन भी परम्परा का उल्लंघन है। श्रीभगवान् ने आपरेशन को तो स्वीकार किया परन्तु अंग-विच्छेदन कराने से इन्कार कर दिया। "चिन्ता का कोई कारण नहीं है। शरीर स्वयमेव एक रोग है; इसका प्राकृतिक अन्त होना चाहिए। इसका अंग-विच्छेद क्यों किया जाय ? खाली मरहम पट्टी ही पर्याप्त है।"

उनके इस कथन से कि 'चिन्ता का कोई कारण नहीं है' भक्तों में इस आशा का संचार हो गया कि वह ठीक हो जायेंगे, हालाँकि उनके बाद के शब्द और डाक्टरों की सम्मति इसके विरुद्ध थी; परन्तु उनके लिए मृत्यु चिन्ता का कारण नहीं थी।

उनके इस कथन से भी लोगों की आशा बलवती हो उठी, "समय आने पर सब कुछ ठीक हो जायेगा।" परन्तु तथ्य तो यह है कि हमें घटना-चक्र की यथार्थता का निरीक्षण करना था; उन्हें इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं था।

इस समय के लगभग उन्होंने तमिल पद्य में भागवतम् (स्कन्ध ११, अध्याय १३, श्लोक ३६) के एक श्लोक का अनुवाद किया, "कर्मों के परिपाक के परिणामस्वरूप मिलने वाला यह शरीर स्थिर रहे या चलता-फिरता रहे, जीवित रहे या इसका अन्त हो जाये, आत्म-साक्षात्कारकर्ता ऋषि को इसका उसी प्रकार ज्ञान नहीं होता जिस प्रकार कि शराबी को उन्मत्तावस्था में यह ज्ञान नहीं होता कि उसने वस्त्र धारण कर रखे हैं या नहीं।"

कुछ समय बाद उन्होंने योग वासिष्ठ के एक पद की व्याख्या की : "निराकार शुद्ध आत्मा के रूप में साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी का शरीर यदि तलवार से काट भी दिया जाये तो भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि मिश्री की डली को तोड़ दिया जाये या पीस दिया जाये तो भी उसका मिठास नहीं जाता।"

क्या श्रीभगवान ने वस्तुतः कष्ट अनुभव किया ? उन्होंने एक भक्त से कहा, "भक्तजन इस शरीर को भगवान् समझते हैं और इस पर कष्ट का आरोपण करते हैं। कितनी करुणाजनक बात है !" और एक भक्त से उन्होंने कहा, "अगर मन न हो तो पीड़ा कहाँ से आयेगी ?" फिर भी उन्होंने सामान्य भौतिक प्रतिक्रियाएँ और सर्दी तथा गर्मी के प्रति सामान्य संवेदना प्रदर्शित की। एक भक्त श्री एस० एस० कोहेन का कथन है कि कुछ वर्ष पूर्व भगवान् ने कहा था, "अगर ज्ञानी का हाथ चाकू से काट दिया जाये तो उसे उसी प्रकार पीड़ा होगी जिस प्रकार अन्य सामान्य व्यक्तियों को होती है, परन्तु चूँकि उसका मन परमानन्द में प्रतिष्ठित है, इसलिए उसे इतनी तीव्र पीड़ा अनुभव नहीं होती जितनी कि दूसरे व्यक्तियों को।" ऐसी बात नहीं है कि ज्ञानी को

पीड़ा न होती हो, परन्तु वह शरीर के साथ अपनी एकरूपता अनुभव नहीं करता। डाक्टरों तथा कुछ भक्तों का भी यह विश्वास था कि भगवान् को पीड़ा थी और बाद में इस पीड़ा ने भयानक रूप धारण कर लिया था। पीड़ा के प्रति श्रीभगवान् की उदासीनता और आपरेशन के समय पूर्ण निश्चिन्तता पर डाक्टर भी विस्मित थे।

पीड़ा का प्रश्न, कर्म के प्रश्न की तरह, केवल द्वित्व के दृष्टि बिन्दु से ही विद्यमान है, परन्तु उनके दृष्टि बिन्दु से, अद्वैत के दृष्टि बिन्दु से किसी की भी वास्तविकता नहीं थी। इसी अभिप्राय से उन्होंने अनेक बार भक्तों से कहा था, "मैं केवल तभी रोगी हूँ, अगर आप सोचें कि मैं रोगी हूँ; अगर आप यह सोचें कि मैं ठीक हूँ, तो मैं ठीक हो जाऊँगा। जब तक कोई भक्त अपने शरीर और उसकी पीड़ा की वास्तविकता में विश्वास रखता है, जब तक उसके लिए उसके गुरु का शरीर वास्तविक है और उसे पीड़ा भी होती है।"

मार्च में आपरेशन के बाद एक या दो सप्ताह तक एक ग्रामीण जड़ी-बूटियों के जानकार का इलाज चलता रहा, परन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। श्रीभगवान् ने एक अन्य व्यक्ति को यह कहकर टाल दिया, "मुझे आशा है, अपनी दवाइयाँ आजमाने के बाद तुम निराश नहीं होगे।" भगवान् को अपनी शारीरिक दशा का तो कोई विचार ही नहीं था, उन्हें तो उन व्यक्तियों का ख्याल आता था जो उनका उपचार करना चाहते थे। जिस डाक्टर के अन्तर्गत उनका उपचार चल रहा होता था उसके प्रति उनके हृदय में अपार अनुराग का भाव था। प्रायः वह इस बात का विरोध करते थे कि उनके शरीर की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाये। कई बार जब उन्हें अपनी शारीरिक दशा में सुधार प्रतीत होता तो वह यह घोषणा कर देते कि उन्हें और उपचार की आवश्यकता नहीं है।

रसौली ने, जिसे अब डाक्टरों ने भ्रूणार्बुद घोषित कर दिया था, उनकी रही-सही शक्ति का भी शोषण कर दिया परन्तु उनके दुर्बल होने के बावजूद उनका चेहरा अधिक कोमल, अधिक उदार और अधिक सुन्दर होता गया। कई बार तो उनके सौन्दर्य को देखना अत्यन्त पीड़ाजनक था।

भगवान् की भुजा भारी हो गयी थी, उसमें जलन हो रही थी और रसौली बढ़ रही थी। कभी-कभी वह यह स्वीकार करते "भुजा में पीड़ा है" परन्तु वह यह कभी नहीं कहते थे "मुझे पीड़ा है।" अगस्त में तीसरा आपरेशन हुआ और इस आशा में कि प्रभावित तन्तु नष्ट हो जायें और रसौली फिर नहीं उभरेगी, घाव का रेडियम में उपचार किया गया। उसी मध्याह्न को आपरेशन के कुछ घण्टे बाद श्रीभगवान् ने इतनी अनुकम्पा की कि वह डिस्पेंसरी के बरामदे में, जहाँ आपरेशन किया गया था, बैठ गये ताकि भक्तजन उनके

सामने से गुजरते हुए उनका दर्शन कर सकें। यह साफ प्रकट था कि वह अत्यन्त क्षीण हो चुके थे परन्तु उनके चेहरे पर पीड़ा का कोई चिह्न नहीं था। मैं एक दिन के लिए मद्रास से आया था। उनका हास्य इतना दीप्तिमान था कि उनकी दुर्बलता भी लुप्त हो गयी। अगले दिन दोपहर को वह सभा-भवन में वापस लौट आये ताकि उनके डिस्पेंसरी में रहने से अन्य रोगियों को असुविधा न हो।

चिकित्सा-क्षेत्र की सीमाओं से परे एक और अनिवार्यता थी, जिसे श्रीभगवान् अच्छी तरह जानते थे : श्रीभगवान् जानते थे कि क्या उचित है और वह हमें ढाढ़स बँधाना चाहते थे ताकि हम उनकी शारीरिक मृत्यु को सहन कर सकें। वस्तुतः यह लम्बी पीड़ादायक बीमारी हमें उस अनिवार्य जुदाई के लिए तैयार करने आयी थी, जिसके विषय में पहले बहुत-से व्यक्तियों का यह अनुभव था कि वह उसे सहन नहीं कर सकेंगे। किट्टी को, जो एक पर्वतीय प्रदेश के बोर्डिंग स्कूल में थी, श्रीभगवान् की दशा के सम्बन्ध में एक पत्र द्वारा सूचित किया गया। उसने उत्तर में लिखा, "मुझे यह सब जानकर बहुत दुःख हुआ परन्तु भगवान् जानते हैं कि हमारे लिए सर्वोत्तम क्या है ?" उसका पत्र भगवान् को दिखाया गया। उनका चेहरा खुशी से चमक उठा। उन्होंने उसकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करते हुए कहा कि किट्टी ने लिखा है "हम सबके लिए सर्वोत्तम क्या है" न कि उसके लिए सर्वोत्तम क्या है।

उन्हें उन लोगों पर बहुत दया आती थी जो उनके कष्ट से व्यथित थे और उनके कष्ट को दूर करना चाहते थे। वह कष्ट को दूर करने और कुछ वर्षों के लिए मृत्यु को स्थगित करने का सरल उपाय नहीं अपनाना चाहते थे। वह तो अपने भक्तों को यह अनुभव करा के कि शरीर भगवान् नहीं है, आधारभूत उपाय अपनाना चाहते थे। "वह इस शरीर को भगवान् समझते हैं और इस पर कष्ट का अरोपण करते हैं। कितनी दयनीय स्थिति है ! वह निराश हैं कि भगवान् उन्हें छोड़कर दूर जा रहे हैं—वह कहाँ जा सकते हैं और कैसे जा सकते हैं।"

अगस्त में आपरेशन के बाद, कुछ सप्ताह तक तो भगवान् की दशा में सुधार प्रतीत हुआ परन्तु नवम्बर में कन्धे के निकट, भुजा से ऊपर रसौली फिर निकल आयी। दिसम्बर में चौथा और अन्तिम आपरेशन हुआ। इससे घाव कभी ठीक नहीं हुआ। डाक्टरों ने अब यह स्वीकार कर लिया कि वह इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकते। स्थिति अत्यन्त निराशाजनक थी। अगर रसौली फिर निकल आयी तो डाक्टर केवल शमनकारी औषधियाँ ही दे सकते थे।

५ जनवरी, १९५० को जयन्ती थी। उनका ७०वाँ जन्म-दिन मनाने के लिए, जो कि अब उनका प्रायः अन्तिम जन्म-दिन प्रतीत होता था, शोकातुर

दर्शनार्थियों की भीड़ एकत्रित हुई। उन्होंने दर्शन दिये और अपनी प्रशस्ति में रचित अनेक नये गीत सुने। कई गीत स्वयं उन्होंने भी पढ़े। नगर से मन्दिर का हाथी आया, उसने उनके सामने मस्तक नवाया और अपनी सूँड़ से उनके चरण स्पर्श किये। उत्तर भारत की एक रानी को इस दृश्य का चलचित्र लेने की आज्ञा दी गयी थी। आशंका की शोकमयी छाया में यह समारोह हो रहा था।

बहुत-से लोग पहले ही यह अनुभव कर चुके थे कि अब कुछ सप्ताहों या दिनों की बात है। अब जब स्थिति सर्वथा निराशाजनक घोषित कर दी गयी तो श्रीभगवान् से पूछा गया कि वह स्वयं बताएँ कि अब कौन-सा उपचार किया जाये। उन्होंने कहा, "क्या मैंने कभी किसी उपचार के लिए कहा है? आप ही लोग मेरे लिए विभिन्न उपचार बता रहे हैं। इसलिए आप स्वयं ही मिलकर यह निर्णय करें कि अब क्या किया जाना चाहिए। अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं सदा यह कहता, जैसा कि मैं शुरू से कहता आ रहा हूँ कि कोई भी उपचार आवश्यक नहीं है। प्रकृति को अपने मार्ग का अनुसरण करने दो।" केवल इसके बाद होमियोपैथी चिकित्सा की गयी और उसके बाद आयुर्वेदिक चिकित्सा, परन्तु अब बहुत विलम्ब हो चुका था।

जब तक शारीरिक रूप से असम्भव नहीं हो गया श्रीभगवान् ने अपनी सामान्य दैनिकचर्या जारी रखी। वह सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व स्नान कर लेते थे, निश्चित समयों पर प्रातः और सायं भक्तों को दर्शन देने के लिए बैठ जाते, आश्रम का पत्र-व्यवहार देखते और आश्रम के प्रकाशनों के मुद्रण का निरीक्षण करते तथा प्रायः अपने सुझाव भी देते थे। जनवरी के बाद वह इतने अधिक दुर्बल हो गये कि सभा-भवन में बैठकर दर्शन नहीं दे सकते थे। सभा-भवन के ठीक पूर्व में, सड़क के पार एक छोटा स्नानगृह, जिसके साथ एक कोठरी संलग्न थी, बनाया गया और अन्त तक वह वहाँ रहे। बाहर एक तंग छोटा बरामदा था जहाँ उनका तख्त रखा गया और अन्त तक तिरुवन्नामलाई में उनकी बीमारी के समाचार से एकत्रित भक्तजन उनका दर्शन करते रहे। जब तक यह व्यवस्था सम्भव थी, वह इसमें किसी प्रकार की बाधा पसन्द नहीं करते थे। प्रातःकाल और मध्याह्नोत्तर भक्तजन सभा-भवन के बरामदे में उनके सम्मुख बैठते। बाद में जब वह बहुत दुर्बल हो गये तो भक्तजन प्रातः और सायं उनके कमरे के खुले दरवाजे के सामने से पंक्ति बनाकर गुजर जाते थे। एक दिन श्रीभगवान् की स्थिति चिन्ताजनक हो गयी और उनके दर्शन बन्द कर दिये गये। जैसे ही उन्हें इस बात का पता चला उन्होंने नाराजगी जाहिर की और दर्शन जारी रखने का आदेश दिया।

भक्तजन प्रतिदिन उनके स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रार्थनाएँ करते और

भक्ति-गीत गाते थे। जब इनकी सार्थकता के सम्बन्ध में उनसे पूछा गया तो उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया, "अच्छे कार्यों में लगे रहना निश्चित ही वांछनीय है, उन्हें अपना कार्यकलाप जारी रखने दें।"

घाव के ठीक ऊपर फिर रसौली निकल आयी। अब वह कन्धे के निकट निकली थी। इस प्रकार सारी प्रणाली विषाक्त हो गयी थी और शरीर में भीषण रक्ताल्पता हो गयी थी। डाक्टरों का कहना था कि भगवान् को भयंकर पीड़ा अनुभव हो रही होगी। वह कोई पौष्टिक भोजन पदार्थ नहीं ले सकते थे। कभी-कभी वह नींद में कराहते परन्तु इसके अतिरिक्त पीड़ा का अन्य कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता था। समय-समय पर उन्हें देखने के लिए मद्रास से डाक्टर आते रहते थे। वह सदा की तरह उनके साथ सौजन्य का व्यवहार करते और उनका यथोचित अतिथि-सत्कार करते। उनका सबसे पहला प्रश्न यह होता था कि क्या उन्होंने भोजन कर लिया है, क्या उनकी देखभाल ठीक ढंग से की जा रही है।

उनकी विनोदी प्रकृति पहले जैसी थी। वह रसौली के बारे में मजाक किया करते थे मानो यह कोई ऐसी वस्तु थी जिसका उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। एक महिला ने भगवान् की पीड़ा से व्यथित होकर, कमरे के निकट स्तम्भ पर अपना सिर पीट लिया और वह इस घटना को साश्चर्य देखते हुए कहने लगे, "ओह! मैंने सोचा वह नारियल तोड़ने की कोशिश कर रही है।"

अपने सेवकों तथा अपने परम भक्त डाक्टर टी० एन० कृष्णमाचारी से उन्होंने कहा, "मानव-शरीर केले के पत्ते के समान है, जिस पर सभी प्रकार के स्वादिष्ट भोजन परोसे जाते हैं। क्या भोजन कर चुकने के बाद हम इस पत्ते को सँभाल कर रखते हैं? इसका प्रयोजन पूरा होने के बाद क्या हम इसे फेंक नहीं देते?"

एक अन्य अवसर पर उन्होंने अपने भक्तों से कहा, "इस शरीर का जिसे हर बात में सहायता की आवश्यकता होती है, बोझ कौन उठा सकता है? क्या आप मुझसे आशा करते हैं कि मैं उस शरीर का बोझ उठाऊँगा जिसे उठाने के लिए चार आदमियों की जरूरत पड़ती है?"

उन्होंने और कुछ भक्तों से कहा, "कल्पना करो आप एक लकड़ी के डिपो पर जाते हैं और लकड़ियों का एक गट्ठा खरीदते हैं तथा इसे अपने घर तक पहुँचाने के लिए एक कुली करते हैं। जैसे आप कुली के साथ-साथ चलते हैं, आप देखेंगे कि वह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए अत्यन्त आतुर है ताकि वह बोझ फेंककर राहत की साँस ले सके। इसी प्रकार ज्ञानी भी अपने भौतिक शरीर का भार उतार फेंकने के लिए चिन्तित होता है।" फिर उन्होंने इस व्याख्या को ठीक करते हुए कहा: "जहाँ तक चरितार्थ हो सकती है, यह

व्याख्या ठीक है, परन्तु यह बिलकुल ठीक फिर भी नहीं है। ज्ञानी अपने शरीर के भार से मुक्त होने के लिए चिंतित नहीं होता; यह शरीर की सत्ता या असत्ता के प्रति एक-सा उदासीन होता है, वह तो इससे परिचित ही नहीं होता।"

एक बार उन्होंने अपने एक भक्त से मोक्ष की व्याख्या करते हुए कहा था, "क्या आप जानते हैं कि मोक्ष क्या है ? अस्तित्व शून्य दुःख से छुटकारा पाना और सदा विराजमान परमानन्द की प्राप्ति, यही मोक्ष है।"

अब भी आशा की एक किरण मौजूद थी कि डाक्टरों की असफलता के बावजूद, भगवान् अगर चाहें तो अपनी बीमारी को दूर कर सकते हैं। एक भक्त ने उनसे प्रार्थना की कि वह एक बार अच्छा होने का विचार कर लें क्योंकि यही पर्याप्त है, परन्तु उन्होंने घृणा से उत्तर दिया "कौन ऐसा विचार कर सकता है ?"

उन व्यक्तियों से जिन्होंने उन्हें स्वास्थ्य-कामना के लिए कहा, उनका कहना था, "यह इच्छा कौन करेगा ?" वह 'अन्य' व्यक्ति जो इस विधि-विधान का विरोध कर सकता था, उसका अस्तित्व अब उनमें नहीं था; यह तो 'अस्तित्व-शून्य पीड़ा' थी जिससे उन्होंने छुटकारा पा लिया था।

कुछ भक्तों ने उनसे कहा कि वह अपने नहीं तो उनके ही कल्याण के लिए स्वास्थ्य-लाभ की इच्छा करें। "भगवान् के बिना हमारा क्या होगा ? हम अपनी देख-भाल स्वयं करने के योग्य नहीं हैं; हम प्रत्येक वस्तु के लिए उनकी अनुकम्पा पर निर्भर करते हैं।" और उन्होंने उत्तर दिया, "आप इस शरीर को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।" इससे उनका स्पष्ट अभिप्राय यह था कि इस शरीर के अन्त से उनकी अनुकम्पा और मार्ग दर्शन में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होगा।

उसी स्वर में उन्होंने कहा, "वह कहते हैं कि मैं मर चुका हूँ, परन्तु मैं कहीं नहीं जा रहा। मैं जा भी कहाँ सकता हूँ ? मैं यहाँ हूँ।"

एक पारसी भक्त महिला श्रीमती तालेयार खान ने उनसे प्रार्थना की, "भगवन् ! आप यह अपनी बीमारी मुझे दे दें। मैं इसे सहन करूँगी।" उन्होंने उत्तर दिया, "और मुझे यह बीमारी किसने दी ?"

तब किसने यह बीमारी उन्हें दी ? क्या यह हमारे कर्म का विष नहीं था ?

एक स्वीडिश साधु ने स्वप्न में देखा कि उनकी पीड़ित बाहु खुल गयी है और वहाँ उसे एक महिला का सिर दिखायी दिया जिसके सफेद बाल बिखरे हुए थे। भक्तों ने इस स्वप्न की यह व्याख्या की कि यह उनकी माता का कर्म था जिसे उन्होंने माता को मोक्ष देते समय अपने पर आरोपित कर लिया

था। परन्तु दूसरों का कहना था कि यह महिला सारी मानव-जाति या स्वयं माया का प्रतीक है।

१३ अप्रैल बृहस्पतिवार को एक डाक्टर श्रीभगवान् के लिए एक शामक औषधि लाये ताकि फेफड़ों में जो रक्त जमा हो गया था, वह ठीक से प्रवाहित होने लगे, परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। "यह आवश्यक नहीं है ? दो दिन में सब कुछ ठीक हो जायेगा।"

उस रात उन्होंने अपने भक्त सेवकों से कहा कि वह जाकर सो रहें या चिन्तन करें और उन्हें अकेला छोड़ दें।

शुक्रवार को डाक्टरों और सेवकों को यह पता चल गया कि आज अन्तिम दिन है। प्रातःकाल फिर भगवान् ने उनसे जाने और चिन्तन करने के लिए कहा। दोपहर के समय, जब उनके लिए तरल खाद्य पदार्थ लाया गया उन्होंने सदा की भाँति समय पूछा, और इसके साथ ही कहा, "परन्तु अब से समय का कोई अभिप्राय नहीं है।"

दीर्घकालीन सेवाओं के लिए सेवकों के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, "अंग्रेज लोग 'थैंक्स' शब्द का प्रयोग करते हैं परन्तु हम केवल संतोषम् ही कहते हैं।"

प्रातःकाल शोक और आशंका से मौन दर्शनार्थियों की लम्बी कतार मुक्त द्वार के सामने से गुजरती रही। इस प्रकार सायंकाल के पाँच बज गये। भगवान् का रोग-जर्जरित शरीर मुरझा गया था, पसलियाँ बाहर निकल आयी थीं, त्वचा काली पड़ गयी थी। पीड़ा का यह दयनीय संकेत था। परन्तु इन अन्तिम कुछ दिनों में, उन्होंने प्रत्येक भक्त को अत्यन्त भावभरी आत्मीयता की दृष्टि से देखा और उसने ऐसा अनुभव किया कि यह भगवान् का विदायी का प्रसाद है।

उस सायंकाल दर्शन के बाद भक्तजन अपने घरों में नहीं गये। आशंका के कारण वह वहीं रहे। लगभग सूर्यास्त के समय श्रीभगवान् ने सेवकों से कहा कि वह उन्हें सीधा बैठा दें। वह यह जानते थे कि भगवान् का प्रत्येक आन्दोलन, प्रत्येक स्पर्श पीड़ामय था, परन्तु उन्होंने उनसे कह दिया था कि वह इसकी तनिक भी चिन्ता न करें। वह बैठ गये और एक सेवक उनके सिर को सहारा दिये रहा। एक डाक्टर ने उन्हें ऑक्सीजन देना शुरू किया, परन्तु अपने दाहिने हाथ के इशारे से उन्होंने उसे दूर हटा दिया। उस छोटे-से कमरे में डाक्टर और सेवक सब मिलाकर लगभग एक दर्जन व्यक्ति थे।

दो सेवक भगवान् को पंखा कर रहे थे और बाहर खड़े भक्तजन खिड़की से हिलते हुए पंखों को निर्निमेष नेत्रों से देख रहे थे। यह इस बात का संकेत था कि अब भी भगवान् में प्राण शेष हैं। एक प्रसिद्ध अमरीकी पत्रिका का

एक रिपोर्टर अशान्त भाव से इधर-उधर चल रहा था, और अत्यन्त प्रयास करने के बावजूद वह अपने को अत्यन्त बेचैन अनुभव कर रहा था। उसने यह निश्चय किया कि जब तक वह तिरुवन्नामलाई से परे, सामान्य परिस्थितियों में नहीं पहुँच जायेगा, वह अपनी कहानी नहीं लिखेगा। उसके साथ एक फ्रांसीसी प्रेस-फोटोग्राफर था।

अप्रत्याशित रूप से, सभा-भवन के बाहर, बरामदे पर बैठे हुए भक्तों के एक दल ने 'अरुणाचल शिव' गाना शुरू किया। इसे सुनते ही श्रीभगवान् की आँखें खुलीं और उनमें चमक आयी। अवर्णनीय माधुर्य मिश्रित हास्य उनके मुखमण्डल पर फैल गया। उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु बहने लगे। उन्होंने एक गहरा श्वास लिया, उसके बाद फिर श्वास नहीं आया। कोई संघर्ष नहीं था, कोई अंग-संकोच नहीं था, मृत्यु का अन्य कोई संकेत नहीं था। केवल अगला श्वास नहीं आया।

कुछ क्षणों तक लोग स्तब्ध खड़े देखते रहे। भजन जारी रहे। फ्रांसीसी प्रेस-फोटोग्राफर मेरे पास आया और उसने मुझ से श्रीभगवान् की मृत्यु का बिलकुल ठीक-ठीक समय बताने के लिए कहा। इसे सम्पादकीय निर्दयता समझते हुए मैंने अशिष्टता से उत्तर दिया कि मैं नहीं जानता। फिर यकायक मुझे श्रीभगवान् की अक्षय शिष्टता का स्मरण हो आया और मैंने उससे कहा कि उस समय ८-४७ बजे थे। प्रेस-फोटोग्राफर ने अत्यन्त आवेश के साथ कहा "मैं बाहर सड़क पर चल रहा था और उसी समय एक बड़ा तारा धीरे-धीरे आसमान से टूटता हुआ मुझे दिखायी दिया था।" सुदूर मद्रास तक, बहुत-से लोगों ने इस तारे को देखा था और उनके मन में यह भाव उठा था कि यह किसी अनिष्ट का सूचक है। यह तारा अरुणाचल के शिखर की ओर उत्तर-पूर्व में चला गया था।

इस प्रथम स्तब्धता के उपरान्त शोक-समुद्र फूट पड़ा। भगवान् के शरीर को बैठी हुई मुद्रा में बरामदे में लाया गया। भगवान् के दर्शनों के लिए महिलाएँ और पुरुष बरामदे के कटहरे के पास आ गये। एक महिला मूर्च्छित हो गयी। दूसरे लोग सिसकियाँ भर रहे थे।

मालाओं से आवृत्त शरीर को सभा-भवन में एक तख्त पर रख दिया गया और भक्तजन इसके चारों ओर बैठ गये। लोगों को आशा थी कि भगवान् का चेहरा समाधि में प्रस्तर सदृश होगा, परन्तु इस पर वेदना की रेखाएँ अंकित थीं और इसे देखकर हृदय सहसा द्रवित हो उठता था। रात को धीरे-धीरे इस पर रहस्यात्मकता का आवरण चढ़ता गया।

रात भर भक्तजन विशाल सभा-मण्डप में बैठे रहे और नगर-निवासीजन भय तथा सम्मान-मिश्रित मौन में वहाँ से गुजरते रहे। 'अरुणाचल शिव' का

गान करते हुए जलूस नगर से आते और जाते रहे। सभा-भवन में कुछ भक्तजन प्रशस्ति और दुःख के गीत गाते रहे; दूसरे मौन भाव से बैठे रहे। सर्वाधिक विचारणीय मनुष्यों का शोक नहीं अपितु इसके अन्तर्हित शान्ति थी। ये ऐसे पुरुष और महिलाएँ थीं जो उस महापुरुष को खो बैठे थे जिसकी अनुकम्पा ही उनके जीवन का एकमात्र अवलम्ब थी। उस प्रथम रात्रि को और उसके बाद के दिनों में यह सर्वथा स्पष्ट हो गया था कि भगवान् के शब्द कितने प्रेरणाप्रद थे : ''मैं दूर नहीं जा रहा हूँ। मैं जा ही कहाँ सकता हूँ ? मैं यहाँ हूँ।'' 'यहाँ' शब्द से कोई सीमा अभिप्रेत नहीं है बल्कि इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा है, वह अमर है, अपरिवर्तनशील है विश्वव्यापी है। जैसे-जैसे भक्तों ने भगवान् की अपने हृदय में तथा तिरुवन्नामलाई में निरन्तर, दिव्य उपस्थिति को अनुभव किया उन्होंने इसे भगवान् के प्रेम और भावनामय वचन की पूर्ति समझा।

उस जागरण-रात्रि को भगवान् के अन्तिम संस्कार के सम्बन्ध में निर्णय किया गया। कई लोगों का विचार था कि शरीर नये भवन में दफना दिया जाये, परन्तु बहुत-से भक्तों ने इस विचार का विरोध किया। उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि सभा-भवन मन्दिर का ही भाग था, इससे श्रीभगवान् का स्मारक माता के स्मारक से गौण हो जायेगा। अगले दिन, सर्वसम्मति से एक गढ़ा खोदा गया और शरीर को पुराने सभा-भवन तथा मन्दिर के मध्यवर्ती स्थान में दफना दिया गया। मौन शोक सागर में निमग्न जन-समूह ने यह सब अपनी आँखों से देखा। अब वह प्यारा चेहरा दिखायी नहीं देगा, अब भगवान् की वह मधुर आवाज सुनायी नहीं देगी। स्मारक पर शिव का प्रतीक रूप चिकने कृष्ण वर्ण पत्थर का लिंग बाह्य चिह्न के रूप में विद्यमान था और हृदय में उनके चरण-चिह्न थे।

अठारहवाँ अध्याय

सतत उपस्थिति

भीड़ छँट गयी और आश्रम वीरान लगने लगा जैसे किसी अँगीठी की आग बुझ गयी हो। परन्तु आश्रम में शोक और निराशा का भाव नहीं था जैसा कि प्राय: पृथ्वी से आध्यात्मिक शिक्षक के प्रयाण के उपरान्त होता है। आश्रम का वातावरण अब भी सामान्य था। यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगा कि श्रीभगवान् ने किस दत्तचित्तता और दया से अपने भक्तों को इसके लिए तैयार किया था तथापि विछोह उनके प्रारम्भिक दिनों में किसी ने भी तिरुवन्नामलाई में न रहना चाहा और जिन्हें वहाँ रहना चाहिए था वे भी वहाँ नहीं रहे।

कई कर्मशील भक्तों ने आश्रम के प्रबन्ध के लिए एक समिति बना ली। निरंजनानन्द स्वामी ने उनके साथ कार्य करना स्वीकार कर लिया और उन्होंने भी उन्हें समिति का स्थायी सभापति बनाना मान लिया। अन्य भक्तों ने अपने नगरों में सभाएँ बना लीं और वह नियमित बैठकें करने लगे।

दुर्भाग्यवश, कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्होंने गड़बड़ी पैदा की या प्रसिद्धि प्राप्त करने की कोशिश की, जब कोई आध्यात्मिक शिक्षक इस संसार से विदा होता है तब सदा ऐसा होता है। परन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी। अधिकांश भक्त संयत रहे।

बहुत साल पहले एक वसीयतनामा तैयार किया गया था। इसमें यह लिखा गया था कि भगवान् के देहावसान के बाद आश्रम का प्रबन्ध किस प्रकार चलाया जायेगा। कुछ भक्त इस वसीयतनामे को श्रीभगवान् के पास ले गये थे। इन्होंने इस सारे वसीयतनामे को ध्यान से पढ़ा था और अपनी स्वीकृति दी थी। इसके बाद उन सब भक्तों ने इस पर साक्षी के रूप में हस्ताक्षर किये थे। संक्षेपत: इसमें यह लिखा था कि भगवान् तथा माता के स्मारक पर प्रतिदिन पूजा की जायेगी। निरंजनानन्द स्वामी के पुत्र के परिवार को आर्थिक सहायता दी जायेगी और तिरुवन्नामलाई आध्यात्मिक केन्द्र बना रहेगा। बाद में इससे कई लोगों ने दूसरा वसीयतनामा बनाने के प्रयत्न किये परन्तु श्रीभगवान् ने इस पर कभी विचार नहीं किया।

तीसरी चीज है श्रीभगवान् की महान् थाती और दायित्व। भक्तजन अपनी प्रकृति और योग्यता के अनुरूप इसमें योगदान कर रहे हैं। कई भक्त ऐसे हैं जो अब मौन चिन्तन में बैठने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते या जो सांत्वना प्राप्त करने और अपने हृदय की भक्ति तथा अनुराग प्रकट करने के लिए आश्रम आते हैं। वह उस शिक्षक के शिष्य हैं जिसने कहा था, "भाषणों से व्यक्तियों का मनोरंजन हो सकता है सुधार तो नहीं। दूसरी ओर मौन स्थायी होता है और समस्त मानव-जाति को लाभ पहुँचाता है। यद्यपि उनका चिन्तन भगवान् के महान् आध्यात्मिक मौन के समकक्ष नहीं था, तथापि यह न केवल उनकी अनुकम्पा को ग्रहण करता है बल्कि उसका प्रसार करता है और इसका प्रभाव अवश्य होगा। अगर कई व्यक्ति मिलकर पूजा करते हैं या चिन्तन करते हैं तो उसका प्रभाव सामूहिक होता है।

दूसरे लोग भाषण या लेखन द्वारा ऐसी दिलचस्पी पैदा करना चाहते हैं जो प्रज्ञा में पुष्पित हो सकती है। बाह्य गतिविधियों में दिलचस्पी प्रदर्शित करने वाले व्यक्तियों पर संगठन का दायित्व है। यह भी एक साधना है और भगवान् को यह तभी स्वीकार है जब इसे साधना रूप में किया जाये। वह एक चिन्तन-भवन का निर्माण करना चाहते हैं। इस समय मन्दिर और पुराने सभा-भवन के बीच एक प्रस्तर का स्मारक है, जिस पर लिंग का चिह्न है। इसके ऊपर ताड़ के पत्तों की छत बनी हुई है।

सर्वत्र श्रीभगवान् की उपस्थिति को लोग अनुभव करते हैं, परन्तु फिर भी वातावरण पहले से भिन्न है। पहले की तरह स्मारक के समक्ष प्रात: और सायं वेदमन्त्रों का पाठ होता है। जब भक्तजन वहाँ चिन्तन में बैठते हैं तब वैसा ही वातावरण होता है जैसा कि सभा-भवन में भगवान् के सम्मुख बैठने पर होता था। वही शक्ति है और वही भगवान् का सूक्ष्म मार्ग दर्शन है। वेदमन्त्रों के पाठ के समय स्मारक पर पूजा की जाती है और भगवान् के १०८ नामों का पाठ किया जाता है। परन्तु पुराने सभा-भवन में इससे मृदुलतर वातावरण है, ऐसा लगता है यह भगवान् के चिर निवास के सानिध्य से अनुप्राणित है। महासमाधि के कुछ महीने बाद, इस सभा-भवन को आग से क्षति पहुँची थी परन्तु सौभाग्यवश इसका विनाश नहीं हुआ था।

वह छोटा कक्ष भी विद्यमान है जहाँ श्रीभगवान् के अन्तिम दिन गुजरे थे। उस कक्ष में एक बड़ा चित्र टँगा हुआ है। ऐसा लगता है जैसे यह जीवित चित्र हो और भक्तों की भक्ति भावना का प्रत्युत्तर दे रहा हो। यहाँ वे विभिन्न वस्तुएँ रखी गयी हैं जिनका श्रीभगवान् ने प्रयोग या स्पर्श किया—उनका दण्ड और कमण्डलु, मोर के परों का पंखा, घूमने वाली पुस्तकों की अलमारी तथा अन्य बहुत-सी छोटी-छोटी वस्तुएँ। तख्त अब सदा के लिए

रिक्त पड़ा है। कक्ष में कोई ऐसी चीज है जो अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है और अकथनीय रूप से अनुकम्पामय है।

नये सभा-भवन में श्रीभगवान् की एक मूर्ति प्रतिष्ठापित की गयी। वसीयतनामे की एक शर्त यह भी थी भगवान् की मूर्ति की स्थापना की जायेगी परन्तु अभी तक कोई भी मूर्तिकार भगवान् की पूर्ण मूर्ति नहीं बना पाया। उसे श्रीभगवान् की रहस्यमयी शक्ति का अनुभव करना होगा और उससे प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। यह मानवीय अंगों को रूप प्रदान करने का नहीं अपितु उनमें दीप्तिमान दिव्य शक्ति और सौन्दर्य को मूर्त रूप देने का प्रश्न है।

न केवल आश्रम के भवन बल्कि चारों ओर का प्रतिवेश पवित्र है। वहाँ सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य है। यह निष्क्रिय शान्ति नहीं है बल्कि एक तरंगित आनन्द-भावना है। समस्त वायुमण्डल भगवान् की उपस्थिति से अनुप्राणित है।

यह सत्य है कि श्रीभगवान् की उपस्थिति तिरुवन्नामलाई तक ही सीमित नहीं है। ऐसा कभी था भी नहीं। भक्तजन जहाँ भी हों, वहाँ उन्हें भगवान् की अनुकम्पा और सहायता, तथा उनकी आन्तरिक उपस्थिति उपलब्ध है, यह पहले से भी अधिक प्रभावशालिनी है। पहले की तरह अब भी तिरुवन्नामलाई की यात्रा से भक्तों को अनुपम शान्ति मिलती है। इसका सौन्दर्य वर्णनातीत है।

पृथ्वी पर ऐसे सन्त हुए हैं जिन्होंने अपने भक्तों के पुनः-पुनः मार्गदर्शन के लिए अनेक जन्म धारण करने का वचन दिया है। परन्तु श्रीभगवान् पूर्ण ज्ञानी थे, उनमें अहं का लेशमात्र भी नहीं जो पुनर्जन्म का संकेत करे। भक्त-जन इसे समझते थे। उनका वचन तो बिलकुल भिन्न था। "मैं जा नहीं रहा हूँ। मैं जा भी कहाँ सकता हूँ ? मैं यहीं हूँ।" उन्होंने यह नहीं कहा कि "मैं यहाँ रहूँगा।" बल्कि "मैं यहाँ हूँ।" ज्ञानी के लिए कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई समय नहीं होता, भूत और भविष्य का कोई अन्तर नहीं होता, कोई गमन नहीं होता, केवल शाश्वत 'अब' होता है जिसमें समस्त समय विद्यमान है—विश्वव्यापी अवकाशशून्य 'यहाँ'। श्रीभगवान् सदा अपनी सतत निर्बाध उपस्थिति और निरन्तर मार्ग-दर्शन पर बल देते थे। बहुत पहले उन्होंने शिव प्रकाशम् पिल्लई से कहा था, "जिसने गुरु की अनुकम्पा प्राप्त कर ली निश्चय ही गुरु उसकी रक्षा करेंगे और कभी भी उसका परित्याग नहीं करेंगे।" भगवान् की अन्तिम बीमारी के दौरान में जब भक्तों ने उनसे कहा कि ऐसा लगता है कि वे उन्हें छोड़कर जा रहे हैं और उन्होंने अपनी दुर्बलता अभिव्यक्त की तथा भगवान् की निरन्तर उपस्थिति की आवश्यकता बतलायी,

तब उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा, "आप शरीर को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।" भक्तों को शीघ्र ही ज्ञान हो गया कि भगवान् के उपरोक्त कथन में सच्चाई है। वे हमारे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक गुरु बन चुके हैं। जो लोग उन पर निर्भर करते थे, वे उनके मार्गदर्शन को अब अधिक सक्रिय और अधिक प्रभावशाली रूप से अनुभव करते हैं। उनके विचार उन पर अधिक स्थिरता से केन्द्रित हैं। आन्तरिक गुरु की ओर ले जाने वाला विचार सरलतर और अधिक ग्रहणीय हो गया है। चिन्तन से तत्काल ही अनुकम्पा का स्रोत प्रवाहित होता है। अच्छे और बुरे कार्यों का अप्रत्यक्ष प्रभाव अधिक तीक्ष्ण और प्रबल होता है।

विछोह के प्रथम आघात के उपरान्त भक्तजन फिर तिरुवन्नामलाई की ओर आकर्षित होने लगे। केवल अन्तर्मुखी प्रकृति के व्यक्ति ही भगवान् की निरन्तर उपस्थिति अनुभव नहीं करते। भगवान् के एक भक्त डा० टी० एन० कृष्णस्वामी का ऐसा विश्वास था कि वे केवल वैयक्तिक प्रेम और भक्ति के कारण ही उनके प्रति अनुरक्त हैं। उन्होंने महासमाधि के बाद शोकातुर स्वर में कहा था, "मुझ जैसे लोगों का तो मानो सर्वस्व ही लुट गया।" कुछ महीने बाद तिरुवन्नामलाई की यात्रा से वापस आने के बाद उन्होंने कहा था, "पहले दिनों में भी वहाँ कभी इतनी शान्ति और सौन्दर्य नहीं था जितना आज है।" केवल अन्तर्मुखी प्रकृति के व्यक्ति ही उसके निरन्तर आन्तरिक मार्गदर्शन को अनुभव नहीं करते; यह भक्ति के प्रति तात्कालिक प्रतिक्रिया है।

अरुणाचल पहाड़ी का रहस्य भी अब अधिक अभिगम्य हो गया है। पहले बहुत-से व्यक्ति ऐसे थे जो इसकी शक्ति को लेशमात्र भी अनुभव नहीं करते थे, उनके लिए यह किसी अन्य पहाड़ी के समान ही पत्थर, मिट्टी और झाड़ियों की पहाड़ी थी। एक बार का जिक्र है श्रीमती तालेयार खान जो भगवान् की भक्त थीं और जिनका पहले अध्याय में वर्णन किया गया है, अपने एक अतिथि के साथ पहाड़ी पर बैठी हुई श्रीभगवान् के सम्बन्ध में बातें कर रही थीं। उन्होंने कहा, "भगवान् जीवित जाग्रत प्रभु हैं और वे हमारी सब प्रार्थनाओं का उत्तर देते हैं। मेरा यह निजी अनुभव है। भगवान् कहते हैं कि यह पहाड़ी स्वयं भगवान् है। मैं यह सब नहीं समझ सकती परन्तु भगवान् ऐसा कहते हैं। इसलिए मैं इस पर विश्वास करती हूँ।" उनके मुस्लिम मित्र ने जिन पर अब भी फारसी संस्कृति की परम्पराओं की छाप शेष थी, उत्तर दिया, "अगर हमारे फारसी विश्वासों के अनुसार अभी वर्षा हो गयी तो मैं इसे सत्य मान लूँगा।" थोड़ी देर बाद ही वर्षा होने लगी और वे यह कहानी बताने के लिए भीगते हुए पहाड़ी से नीचे आये।

परन्तु उस समय से जब भगवान् की आत्मा ने देह छोड़ा और एक चमकीला तार टूटता हुआ पहाड़ी की ओर गया, भक्तों ने प्रत्यक्षतः यह अनुभव किया है कि यह पवित्र भूमि है, उन्होंने इसमें भगवान् के रहस्य को अनुभव किया है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार अरुणाचल पहाड़ी भक्तों की कामनाओं की पूर्ति करने वाली है और शताब्दियों से तीर्थयात्री मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए इसकी शरण में गये हैं। परन्तु जो लोग इसकी शान्ति को अधिक गहराई से अनुभव करते हैं, वे कोई कामना नहीं करते क्योंकि अरुणाचल का मार्ग भगवान् का मार्ग है, जो व्यक्ति को कामनामुक्त कर देता है और यही सबसे बड़ी उपलब्धि है।

> "जब मैं तुझे साकार समझ कर तेरे निकट आता हूँ, तू पृथ्वी पर पहाड़ी के रूप में विराजमान रहती है। जो व्यक्ति तेरे रूप को निराकार रूप में खोजता है, उस व्यक्ति के समान है जो इस पृथ्वी पर निराकार आकाश की खोज में यात्रा कर रहा है। तेरी प्रकृति पर विचारशून्य होकर ध्यान केन्द्रित करना अपने को उस खाँड की गुड़िया के समान विस्मृत कर देना है जो समुद्र में डुबोए जाने पर इसमें विलीन हो जाती है। जब मुझे यह ज्ञान हो जाता है कि मैं कौन हूँ, तेरे सिवा और कौन मुझमें हो सकता है। ओह ! तू अरुणाचल पहाड़ी के रूप में विद्यमान है।
>
> (**एट स्टैंजाज ऑन श्री अरुणाचल** से)

केवल वही व्यक्ति ही नहीं, जो पहले यहाँ आये हैं और जिन्होंने श्रीभगवान् के सौन्दर्य को शारीरिक रूप में देखा है उनके आकर्षण को अनुभव करते हैं। उनका सौभाग्य तो अकल्पनीय है, परन्तु अन्य व्यक्ति भी उनकी ओर, अरुणाचल की ओर आकर्षित होते हैं।

और भक्तजन भी आयेंगे। उत्तर भारत की एक विख्यात महिला सन्त आनन्दमयी माँ भगवान् के स्मारक पर आयीं। अपने लिए विशेष रूप से तैयार किये गये प्रतिष्ठित स्थान पर बैठने से इन्कार करते हुए वे कहने लगीं, "यह सब आडम्बर क्यों ? मैं अपने पिता के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने आयी हूँ, मैं भी दूसरों के साथ भूमि पर बैठूंगी।" श्रीमती तालेयार खान ने जब एक दक्षिण भारतीय महिला सन्त से अपने तथा अन्य जीवित भक्तों के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, "वे सूर्य थे और हम उसकी किरणें हैं।" ईसा की कहानी तो क्रास पर खत्म हो गयी थी, परन्तु यह कहानी समाप्त नहीं हुई। वस्तुतः यह कोई नवीन धर्म नहीं है, जिसका उद्घाटन श्रीभगवान् ने इस पृथ्वी पर किया। प्रत्येक देश और धर्म के लोगों के लिए जो इस

आध्यात्मिक अन्धकार के युग में ऊँचे उठना चाहते हैं, यह एक नयी आशा है, नया मार्ग है। यह केवल उनके जीवन-काल तक ही सीमित नहीं था। जो लोग यह आशंका प्रकट करते थे कि उनकी मृत्यु के साथ उनका मार्गदर्शन समाप्त हो जायगा, उनसे उन्होंने व्यंग्यपूर्वक कहा था, "आप इस शरीर को बहुत महत्त्व देते हैं।" पहले की तरह अब भी भगवान् उसका मार्गदर्शन करते हैं जो उनके निकट पहुँचता है और जो कोई उनके प्रति समर्पण करता है, वे उसकी सहायता करते हैं। उन सब व्यक्तियों के लिए जो खोज कर रहे हैं, वे यहीं विराजमान हैं।